प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज, चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१



प्रथमावृत्ति :
१९६२



प्रति संख्या :
१०००



पृष्ठांक :
४००



मूल्य
सात रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
क्वींस रोड, दिल्ली

समर्पण

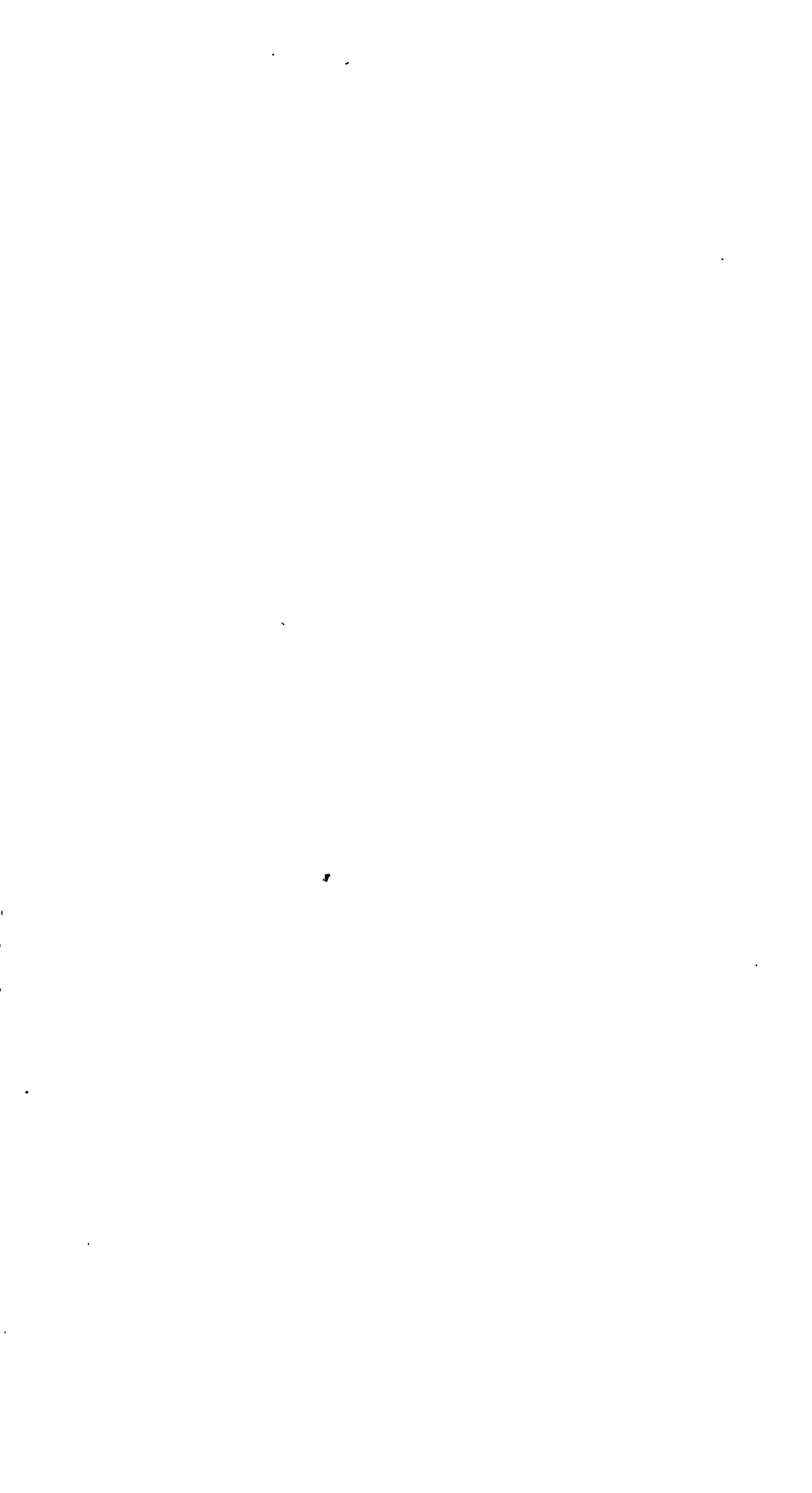
मेरे अर्हद् व सम्यक् संबोधक

तथा

न्याय व औचित्य के अनन्य निर्वाहक

श्रीमत् कालूगणी

को



सम्पादकीय

आचार्यश्री भिक्षु को जो तत्त्व-दर्शन मिला, वह उनके लिए सहज उपलब्धि थी। लोगों को लगा, यह उनके मस्तिष्क की अनहोनी उपज है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा है, वह तत्त्व-दर्शन बहुजन योग्य बनता जा रहा है। स्वस्थ और तटस्थ चिन्तक उसे आसानी से पचा पा रहे हैं। अनहोनी लगने वाली बात यथार्थता की कसौटी पर खरी उतरने लगी है। साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त मानस आज यह समझने लगा है, आचार्यश्री भिक्षु ने अहिंसा का जो स्वरूप बताया, दया-दान की जो व्याख्याएं दीं, वह भगवान् श्री महावीर द्वारा उपदिष्ट ही थीं। मुनिश्री नगराजजी ने प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को तार-तार कर खोल दिया है।

यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि लोकोत्तर पक्ष की संसिद्धि में लगे संसार में लौकिक पक्ष को बहुत ही उपेक्षित बना दिया था। लोग समाज में रहते हुए भी ऐहिक जगत से इतने पराङ्मुख हुए कि समाज और धर्म का सन्तुलन ही बिगड़ने लगा। उसका ही परिणाम हुआ कि लोगों ने परोक्ष को गौण कर प्रत्यक्ष को उभारने का उद्घोष बहुत जोरों से उठा लिया। लोग परोक्ष की साधना भूल गये और प्रत्यक्ष ही अथ और इति बन गया। परन्तु प्रत्यक्ष की चिन्ता न करना जितना घातक हुआ उससे भी बढ़कर घातक वर्तमान की जड़ उपासना बन रही है। आगे चलकर यह और भी भयावह प्रमाणित हो सकती है। आवश्यकता ऐसे दर्शन की है जो प्रत्यक्ष जीवन और परोक्ष जीवन में सम्यक सन्तुलन बिठा सके। मुनिश्री नगराजजी द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे दर्शन को मूर्त करने का सफल प्रयास किया गया है।

अब तक ऐसे विषयों पर जो भी लिखा जाता रहा है, वह विवादात्मक पद्धति से लिखा जाता रहा है। शोध-दृष्टि का विकास इस युग की देन है। प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ विवेचनात्मक लिखा गया है, वह समय शोध पद्धतियों पर ही आधारित है। दया-दान आदि विषयों पर लिखा गया अपनी शैली का यह प्रथम ग्रन्थ ही माना जा सकता है।

अनुकम्पा चौपई आचार्यश्री भिक्षु का एक मान्यता ग्रन्थ है। तेरापंथ की मान्यता का वह एक मौलिक शास्त्र है। उसका हिन्दी अनुवाद कर व अहिंसा-पर्यवेक्षण शीर्षक से उस पर एक विवेचनात्मक उपोद्‌घात लिखकर सिद्ध-हस्त मुनिश्री ने इसे जन-भोग्य और विद्वज्जन भोग्य एक स्वाध्याय ग्रन्थ बना दिया है। सम्पादन कार्य में यत्किंचित् योगभूत होकर तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह पर मैं भी श्रद्धास्पद आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धाञ्जलि दे पाया, इस बात का मुझे परम हर्ष है।

२०१८, पौष शुक्ला पंचमी

कठौतिया भवन, दिल्ली।

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

अनुक्रम

अनुकम्पा चौपई

अहिंसा-पर्यवेक्षण

प्राणीमात्र की जिजीविषा[1] और भव-मुमुक्षु की कषाय-विजिगीषा[2] से आविर्भूत यह अहिंसा की धारा कालक्रम के साथ नाना अवरोहों और आरोहों में सतत प्रवाही रही है। इतिहास के राजमार्ग पर लाकर इसके उन्मेष और निमेषों का जब हम चिन्तन करते हैं तो इसकी दार्शनिक जटिलताएं दूर हो जाती हैं और इसका सहज स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। इतिहास केवल अतीत की काल-गणना का ही ब्यौरा नहीं देता, कभी-कभी वह वर्तमान की यथार्थता का भी मानदण्ड बन जाता है।

आगमिक धारणा

आगमिक और पौराणिक धारणा के अनुसार उत्सर्पण और अवसर्पण के प्रत्येक काल-चक्रार्ध में चौवीस तीर्थंकर होते हैं और वे सभी उपदेश करते हैं—प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा न करो, उन पर शासन मत करो, उनको पीड़ित मत

---

१. क. सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरजिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गन्था वज्जयन्तिणं॥ दस० ६. १०

ख. सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुह पडिकूला अप्पियवहा पिय जीविणो जीविउ कामा। सव्वेंसि जीवियं पियं, नाइवइज्ज किंचणं।
—आचा० १. २. ३.

ग. जिजीविषा पर विशेष—'अहिंसा और धर्म का प्रयोजन' प्रकरण में।

२. क. कोहोय माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कषाया सिञ्चन्ति मूलाइँ पुणब्भवस्स॥
—दस० ८. १०.

ख. यः खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक ४३

ग. कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

करो, उन पर प्रहार मत करो, यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।[1]

वर्तमान कालचक्रार्ध के प्रथम तीन अध्यायों (आरों) में इस कर्म भूमि पर यौगलिक सभ्यता रही। उस समय सभी लोग भाई-बहिन के युगल में पैदा होते और तारुण्य पाकर वही युगल दम्पति रूप में बन जाता। कल्पवृक्ष ही उनकी इच्छाएं पूरी करते। वे रोगी नहीं होते। उनका मारणान्तिक रोग एक छींक व एक जम्भाई होता। वे बहुत सुन्दर होते। कषाय-चतुष्क की अल्पता में उनका प्राकृतिक जीवन बहुत सुखी होता। उनमें सहज संबोध होता, पर जीवन-व्यवहार में उनके न तो धर्म-विवक्षा होती और न धर्म-शुश्रूषा। तात्पर्य उन तरुवासी युगलों के जीवन में न तो हिंसा की प्रबलता थी और न अहिंसा का विहित विकास।[2]

मानव-सभ्यता का उदय

इस कालचक्रार्ध के तीसरे अध्याय के अन्त में यौगलिक सभ्यता समाप्त हुई और मानव-सभ्यता का उदय हुआ। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ प्रभु ने अपने शासकीय जीवन से लोगों को कर्म का प्रशिक्षण दिया, जो कि इस मानव-सभ्यता के प्रथम राजा थे। तभी से कृषि, वाणिज्य, क्षात्र तथा शिल्प प्रभृति कर्मों का प्रारम्भ समाज में हुआ। आदिनाथ प्रभु ने ही अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं का, द्वितीय पुत्र बाहुबली को शरीर-लक्षणों का, पुत्री सुन्दरी को गणित का तथा ब्राह्मी को सर्व प्रथम लिपि का ज्ञान दिया।[3] कहा जाता है, वही ब्राह्मी लिपि अब तक प्रचलित है और नाना लिपियों के रूप में उसका विकास हुआ है।

---

१. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा,
न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।
—आचा० १. ४. १

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष० पर्व १ सर्ग २ श्लोक १०६ से १२८

३. क. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग २ श्लोक ६२५ से ६७०
ख. तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसइ, तेवट्ठि पुव्वसय सहस्साइं महाराय वासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअ पज्जवसाणाओ बावत्तरियकलाओ चोसट्ठिं महिला गुणे, सिप्पसयंच कम्माणे तिण्णिवि पयाहिआए उवदिसइ।
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कालाधिकार

अब तक के समाज में अहिंसा धर्म का उपचरित उदय नहीं था, पर वाणिज्य आदि कर्मों के साथ-साथ उसके उदय की अपेक्षा समाज में अवश्य हो चली थी। राजा ऋषभ ने कर्म-प्रवर्तन के अनन्तर ही धर्म-प्रवर्तन का वीड़ा उठाया और वे राज्य, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रजत आदि को छोड़कर इस श्रमण संस्कृति के प्रथम श्रमण वने। सुदीर्घ तपः साधना से कैवल्य प्राप्त कर तीर्थंकर वने और अहिंसा धर्म का प्रवर्तन किया। उसके वाद काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य की भोगैषणा समय-समय पर वढ़ती रही व अहिंसा धर्म का अपवर्तन होता रहा और एक के वाद एक होने वाले तीर्थंकर उसे उद्वर्तन देते रहे। यह है अहिंसा के निमेष और उन्मेष की जैनी गाथा।

वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति

जैन-धारणा के अनुसार वैदिक संस्कृति भी श्रमण संस्कृति से बहुत दूर की वस्तु नहीं रही है। ऋषभनाथ स्वामी के युग में ही भरत चक्रवर्ती ने उनकी वाणी का चार वेदों के रूप में संकलन किया और उसने ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतीक यज्ञोपवीत का प्रवर्तन किया।[1] वे वेद वहुत वर्षों तक श्रमण संस्कृति के

---

१. ज्ञानदर्शनचारित्रलिङ्गं रेखात्रयं नृपः।
वैकक्ष्यमिव काकिण्या, विदधे शुद्धिलक्षणम्॥
अर्द्धवर्षेऽर्द्धवर्षे च, परीक्षां चक्रिरे नवाः।
श्रावकाः काकिणीरत्नेनाऽऽलम्व्यन्त तथैव हि॥
तल्लांछना भोजनं ते, लेभिरेऽथाऽपठन्निदम्।
जितो भवानित्याद्युच्चै र्माहनास्ते ततोऽभवन्॥
निजान्यपत्यरूपाणि, साधुभ्यो ददिरे च ते।
तन्मध्यात् स्वेच्छया कैश्चिद्, विरक्तैर्व्रतमाददे॥
परीषहासहैः कैश्चिच्छ्रावकत्वमुपाददे।
तथैव वुभुजे तैश्च, काकिणीरत्नलांछितैः॥
भूभुजा दत्तमित्येभ्यो, लोकोऽपि श्रद्धया ददौ।
पूजितैः पूजितो यस्मात्, केन केन न पूज्यते?
अर्हत्स्तुतिमुनिश्राद्धसामाचारीपवित्रितान्।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषां स्वाध्यायहेतवे॥
क्रमेण माहनास्ते तु, व्राह्मणा इति विश्रुताः।
काकिणीरत्नलेखास्तु, प्रापुर्यज्ञोपवीतताम्॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४१ से २४८

आधार ग्रन्थ रहे। धीरे-धीरे रूपान्तर पाते हुए एक स्वतन्त्र संस्कृति के आदि शास्त्र बन गए[1] और दोनों परम्पराओं की हिंसा और अहिंसा की व्याख्याओं में बहुत बड़ा अन्तर आ गया। सम्भव है, इन पौराणिक उदन्तों में अधिक यथार्थता न हो, पर जबकि आज हम उस युग की यथार्थताओं को खोजने सुमेरियन[2] और बाबिलोनियन[3] सभ्यता के पुरावे ढूंढ़ते हैं और उनके आधार पर अपनी कल्पनाएं जोड़ते हैं तो यह उचित नहीं कि भारतीय परम्पराओं में मिलनेवाले तथा प्रकार के उदन्तों को केवल पौराणिक कल्पनाएं कहकर यों ही छोड़ दें। हो सकता है, उन अभिमत कल्पनाओं के नीचे भी कोई यथार्थ आधार निकल आए और हमें किसी वास्तविकता तक पहुंचने के लिए वह एक ऐतिहासिक तथ्य बन जाए।

ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यों का आगमन

मेक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत

---

१. वेदाश्चार्हत्स्तुतियतिश्राद्धधर्ममयास्तदा।
पश्चादनार्याः सुलसायाज्ञवल्क्यादिभिः कृताः॥२५६॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ६

२. Some hold that they (people of Indus civilization) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians. Some again believe that these two were identical. According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan, and gradually migrated to Mesopotamia. The fact that the Dravidian language is still spoken by the Brahui people of Baluchistan is taken to lend strength to this view. —Ancient India (An Advanced History of India-Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta, p. 55

३. वैदिक संस्कृति की उत्पत्ति बाबिलोनियन संस्कृति से हुई है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है, बाबिलोनियन भाषाओं का अच्छी तरह अध्ययन किए बिना बहुत-सी वैदिक ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आएगा। इन्द्र की पूजा सोमपान-विधि आदि की जड़ बाबिलोनियन संस्कृति में ही है।
—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृष्ठ ५१, पूर्ण विवेचन पृष्ठ १ से ५१

रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आए। उन लोगों की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहां के आदिवासी लोगों को उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश में अपनी संस्कृति का प्रभाव बढ़ाया। यह वही सभ्यता है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग्-आर्य सभ्यता

इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य भी जुड़ा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष में कोई समुन्नत सभ्यता या संस्कृति नहीं थी। जैन और बौद्ध परम्पराएं भी इसी संस्कृति की उत्क्रान्तियां मात्र हैं। इन दिनों में जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहां एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी।[1] वह संस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहां तक कि उस संस्कृति में पले-पूसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग थी।[2]

---

1. "Be that as it may, there is not the least doubt that we can no longer accept the view, now generally held, that Vedic Civilization is the sole foundation of all subsequent civilizations in India. That the Indus Valley Civilization described above has been a very important contributory factor to the growth and development of civilization in this country admits of no doubt."

—Ancient India. (An Ancient History of India—Part 1) by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta, p. 23.

2. That this ideal of Ahimsa or non-violence was the basic principle of Pre-Aryan civilization in India is known to the scholars who carefully studied the Indus Valley Civilization as revealed by the excavations of Mohen-jo-daro and Harappa. There, to the great surprise of the experts, they count no weapons for the purpose of offence and defence.

भौतिक विकास की दिशा में भी वे लोग प्रगति के शिखर पर थे। उनके आवास, उनके ग्राम और उनके नगर बहुत व्यवस्थित थे और हाथी व घोड़ों की सवारी भी वे करते थे। उनके पास गमनागमन के यान भी थे।[१] यहां तक कि उनमें भक्ति[२] और पुनर्जन्म के विचारों का भी विकास था।

त्रिमुख मूर्ति

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष उपरोक्त धारणाओं के आधार बनते हैं। इन अवशेषों में एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित[3] हैं। इस मूर्ति के विषय में विद्वानों द्वारा नाना कल्प-

---

From the absence of destructive implements, the experts have come to the conclusion that the people of the Indus Valley Civilization did not interest themselves in waging wars with anybody. Subtained by their high culture and civilization, they somehow carried on their affairs—social, political and religious without involving themselves in any wars.

—The Religion of Ahimsa by Prof. A. Chakravarti, M. A.p.17.

१. The people cultivated fields of grain, raised cattle, tammed the horse, harnessed the bullock to two-wheeled carts, and taught the elephant to carry burdens.

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1, pp. 93-5.

२. Indication of the existence of the Bhakti-cult, and even of some philosophical doctrines like Matempsychosis, have also been found at Mohen-jo-daro.

—Ancient India (An Ancient History of India—part 1) by Majmdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta. p. 21

३. He has a deer throne and has the elephant, the tiger, the rhinoceros, and the buffalo grouped round him.

—Mohon-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1,pp. 52-3.

नाएं की गई हैं। वहुतों का कहना है—यह पशुपति शिव की मूर्ति है[1]। यह भी सोचा गया है कि योगसूत्र—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः' के सूचक किसी पहुंचे हुए योगी की मूर्ति है।[2]

शिव या शान्ति जिन ?

त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयों से अभिज्ञ व्यक्ति के मन में यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प-चित्रण है। उसकी बनावट के साथ एक मुख का अदृश्य होना स्वाभाविक है। यह विशेषता तो तीर्थंकरों की स्वयं सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य में व्याघ्र, गज, मृग आदि नित्य-विरोधी पशु भी मैत्रीपूर्वक बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग में शान्तिनाथ प्रभु की मूर्तियों में हुआ करती है। मृग सोलहवें तीर्थंकर का लांछन भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में कुछ अन्य मूर्तियां तथा मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं, जिनसे जैन तीर्थंकर और जैन संस्कृति का आभास मिलता है, ऐसा विद्वानों का अभिमत है।[3]

त्रिमुख मूर्ति के विषय में उपर्युक्त कल्पना एकाएक भले ही कुछ दूर की लगे,

---

१. Amomg the relics of a religious character found at Mohen-ja-daro are not only figurines of the mother goddess but also figures of a male god, who is the prototype of the historic Siva.

—Mohen-jo-daro and the Indus Civilization (1931) Vol. 1, pp. 52-3.

२. This reminds us of the famous Yogadarsana aphorism which lays down that in the presence of a yogin established in ahimsa (non-violence), even the ferocious animals give up their inherent mutual animosity.

—Ahimsa in Indian Culture.

by Dr. Nathimal Tantia, M. A., D. Litt.

३. Kamta Prasad Jain in his paper in the Voice of Ahimsa, Tirthankara Risabhadeva Special Number, vol. VII No. 3-4: March-Apr., 1957, pp. 152-6.

पर उस सम्बन्ध से शिव की कल्पना करने में भी विद्वान् पूरा निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। उनका कहना है[1] तीन नेत्रों के स्थान पर तीन मुख हो सकते हैं और त्रिशूल के द्योतक मूर्ति में दिखलाए गए दो सींग हो सकते हैं। सचमुच ही यह कल्पना बहुत ही लचीली और खींचातान की सी है। कुछ भी हो त्रिमुख मूर्ति से इतना तो निर्विवाद है ही कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश में ध्यान और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

प्रागार्य वंश

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो०ए० चक्रवर्ती का कहना है[2] "ऐसा कहा जाता है, भग-

---

1. On one particular seal, he seems to be represented as seated in the yoga posture, surrouned by animals. He has three visible faces, and two horns on two sides of a tall head-dress......As is well known, Siva is regarded as a Mahayogin, and is styled Pasupati or the lord of beasts, his chief attributes being three eyes and the Trisula......Now the apparant yoga posture of the figure in Mohen-jo-daro justifies the epithet Mahayogin, and the figures of animals round him explain the epithet Pasupati. The three faces of the figure may not be unconnected with the later conception of three eyes, and the two horns with the tall head-dress might have easily given rise to the conception of a tridant (Trisula), with three prongs.
—Ancient India (An Advanced History of India–Part 1)
by Majumdar, Ray Chaudary and K. K. Dutta. p. 20

2. Lord Rishabha himself is said to have been a Vidayadhara emperor in one of his previous births. He is said to be of Ekshvaku clan. Most of the Thirthankars were from this Ekshvaku clan. Even Goutama Sakhya Muni Budha, contemporary of Mahavira, belong to this Ekshvaku clan. Rama considered to be an Avathara Purusha, also belongs to this Ekshvaku clan. From these, it is clear that the Ekshvaku dynasty was occupying a place of honour in ancinent India.

वान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे। अन्य अधिकांश तीर्थंकर भी इसी वंश के थे। भगवान् श्री महावीर के समकालीन शाक्य मुनि गौतम बुद्ध भी इसी इक्ष्वाकु वंश के थे। अवतार पुरुष माने जाने वाले राम भी इक्ष्वाकु वंश के थे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में इक्ष्वाकु वंश का एक सम्मानित स्थान था। बहुत सम्भव है, इक्ष्वाकु लोग प्रागार्य थे; क्योंकि वैदिक संहिताओं में उन्हें उस देश के प्राचीन लोगों में से माना है। यद्यपि भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकु वंश के थे

Probably they were also pre-Aryan because they are spoken of in the Vedic Sanhitas as a very ancient people of the land. Though Lord Rishabha belong to this Ekshvaku clan, he married a Vidyadhara princess. Therefore his queen and mother of Bharata, the first emperor of the land, was from a Vidyadhara clan. From this it may be inferred that the Ekshvaku dynasty and the Vidyadharas were living in the pre-Aryan period and maintained friendly relation as is evidenced by matrimonial alliance.

One other pre-Aryan clan in India must be noticed here. People belonging to Hari Vamsa lived in the western-most part of the land. Sri Krishna and Lord Arishta Nemi, both belong to this Hari Vamsa. Rulers belonging to this clan are also famous as the defenders of non-violent faith. From this cursory survey of the history of the past, it is clear this Ahimsa faith was prevalent in the land championed by the ruling families even before the advent of Aryans and probably it was the State religion in various parts of the country. The pre-Aryan Vidyadharas who were responsible for the pre-Aryan civilization and culture are assumed to be the ancestors of the Dravidians. If this assumption of the oriental scholars is accepted, then we have to conclude that it is Ahimsa faith or non-violent cult whch was the foundation of the ancient Dravidian culture and civilization.

—The Religion of Ahimsa, pp. 37-38.

तथापि एक विद्याधर राज-कन्या से भी उन्होंने विवाह किया था। इसलिए उनकी रानी और देश के प्रथम चक्रवर्ती की माता विद्याधर वंश की थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि इक्ष्वाकु और विद्याधर प्राग–आर्यकाल में यहां रहते थे और उनमें मैत्री सम्बन्ध था, जो उक्त विवाह-प्रसंग से जाना जाता है।

"एक और प्रागार्य वंश पर भी हमें यहां ध्यान देना चाहिए। हरिवंश के लोग देश के पश्चिम भाग में रहने वाले थे। श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि दोनों हरिवंश के थे। इस वंश के राजा अहिंसा धर्म के रक्षक होने के रूप में सुविख्यात हैं। इतिहास के इस सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों के आने से पहले भी अहिंसा धर्म इस देश में व्यापक था और वह राज-परिवारों के द्वारा समादृत था। सम्भव तो यह भी है कि वह देश के बहुत सारे भागों में राजधर्म भी था। प्रागार्य विद्याधर, जो कि प्रागार्य सभ्यता और संस्कृकि के मूल पुरुष थे, द्राविड़ लोगों के पूर्वज माने जाते हैं। यदि पुरातत्त्व-गवेषक विद्वानों की यह मान्यता स्वीकार हो जाती है तो इस निश्चय पर पहुंच ही जाते हैं कि वह अहिंसा धर्म ही है, जो प्राचीन द्राविड़ संस्कृति और सभ्यता का आधार था।"

डा० ए० सी० सेन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० (हैम्बुर्ग) का भी अभिमत है[1]—वुद्ध और महावीर के विचार वैदिक संस्कृति से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुए हैं और यह बहुत सम्भव है कि इनमें से बहुत सारे विचारों का प्रारम्भ प्राचीन प्रागार्य और प्राग् वैदिक युग में हो चुका था।

नवागत संस्कृति और श्रीकृष्ण

इतिहास और अनुसन्धान के क्षेत्र में यह तो निर्विवाद है ही कि आर्य-संस्कृति लोकैषणा-प्रधान थी। आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य तथा त्याग जैसी मान्यताएं उसमें नहीं थीं। विभिन्न देवों की हिंसा-प्रधान यज्ञों से उपासना करना और अपना भौतिक इष्ट मांगना, उस संस्कृति का प्रमुख स्वरूप था।[2] अहिंसा-मूलक और तपःप्रधान श्रमण संस्कृति, जैसा कि बताया गया, इस ब्राह्मण संस्कृति के आगमन से पूर्व यहां वर्तमान थी। दोनों संस्कृतियों का यह मेल बहुत ही संघर्षात्मक रहा है। एक दूसरे के प्रभाव को न्यून या समाप्त कर देने के लिए नाना उपक्रम चलते रहे हैं। वासुदेव कृष्ण को यह नवागत संस्कृति मान्य नहीं थी। वासुदेव कृष्ण और आर्यों के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलन्त संघर्ष रहे हैं।[3]

---

१. Elements of Jainism, p.2.

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा के आधार से

३. क. भगवान् बुद्ध पृ० २६　ख. ऋग्वेद ८-९६. १३–१५

घोर आंगिरस अर्थात् नेमिनाथ

उपनिषदों के अनुसार श्रीकृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के अनुयायी थे। घोर आंगिरस ने वासुदेव कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन रूप थी।[1]

धर्मानन्द कौशांबी का कहना है—जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस बात का उल्लेख है कि कृष्ण का गुरु (भाई) नेमिनाथ नाम का जैन तीर्थंकर था। इससे वह और घोर आंगिरस के एक ही व्यक्ति होने का सन्देह होता है।[2]

महावीर और बुद्ध की अहिंसा का मूल उद्गम

इतिहास ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता जा रहा है, बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु भी कुछ एक विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष सोचे जाने लगे हैं।[3] तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु तो ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में आ ही चुके हैं। अहिंसा के इतिहास में उनके चातुर्याम[4] धर्म का अध्याय अपूर्व कोटि का माना जाता है। यह भी अब निर्विवाद-सा होता जा रहा है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध की सुविकसित अहिंसा का मूल उद्गम पार्श्व प्रभु का चातुर्याम धर्म ही है।[5] भगवान् श्री महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं और यह माना जाता है कि अहिंसा का सर्वांगीण विवेचन और सर्वांगीण विकास उनके युग में हुआ है।

प्रागार्य और आर्य संस्कृति में विनिमय

ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार वैदिक संस्कृति में पहले पहल पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के विचार नहीं थे, पर सहस्रों वर्षों के द्वन्द्व में दोनों संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। संघर्ष की स्थिति में भी दो सभ्यताएं एक दूसरे से बहुत कुछ ले लेती हैं। आर्यों के इन्द्र, वरुण आदि देवों को किसी न

---

१. अतः यत् तपोदानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।
—छान्दोग्य उपनिषद् ३. १७. ४

२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ५७

३. The Religion of Ahimsa, p. 14.

४. सव्वातो पाणातिपातियाओ वेरमणं, एवं मूसावायाओ वेरमणं, सव्वातो आदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वातो वहिद्धादाणाओ वेरमणं।
—ठाणांग सूत्र ठा० ४

५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८-२९

किसी रूप में वहां की प्राग् आर्य-संस्कृति ने माना और आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि अध्यात्म विचारों को आर्य-संस्कृति ने अपनाया। यही कारण हो सकता है कि ऋषभ[1], अरिष्टनेमि[2] आदि अनेक जैन तीर्थकरों को वैदिक मन्त्रों में भी प्रणाम किया जाना मिलता है। दोनों संस्कृतियां नाना भेदों और नाना अभेदों का संयुक्त रूप बनकर जी रही हैं। वैदिक-परम्परा में उपनिषद्-सन्दोह में आत्म-वाद और अहिंसा का पर्याप्त विकास मिलता है। वहां हिंसात्मक यज्ञ अहिंसा की राह पकड़ लेते हैं, सांसारिक भोगोपभोग की कामनाएं, हेय हो जाती हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क से पूछती है—यदि यह सारी पृथ्वी धन से भर जाए तो क्या मैं उस धन से अमृत बन जाऊंगी? याज्ञवल्क कहते हैं—नहीं, धन से अमृत प्राप्य नहीं है। मैत्रेयी की भावना में अमृत ही उपादेय है, इसलिए वह कह देती है, जिससे मैं अमृत नहीं हो पाती, उस सबसे मुझे क्या[3] ?

विभिन्न मतों में अहिंसा का स्वरूप

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के अप्रतिम विवेचक रहे हैं। यही कारण है, जैन धर्म अहिंसा का धर्म कहा जाता है।[4] वह युग अहिंसा की पराकाष्ठा का युग माना जाता है। भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी विस्तृत थी, उतनी गम्भीर भी थी। अब हमें यह देखना है, उस युग की अहिंसा का स्वरूप क्या था? वह निषेध-प्रधान थी या विधि-प्रधान? उसका सम्बन्ध आत्मा के उन्नयन से था या देह-पोषण से? उसका उद्देश्य श्रेयोऽवाप्ति था या लौकिक अभ्युदय?

---

१. अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां,
विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुं वे,
धिय इन्द्रयेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद कां० १९-४२-४

२. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु॥

—सामवेद प्रपा० ९ अ० ३

३. वृहद् आरण्यक उपनिषद् २-४-२

४. सत्य की खोज में पृ० ५७

हिंसा शब्द हननार्थक हिंसि धातु से बना है। हिंसा का अर्थ है—'असद् प्रवृत्ति या असद् प्रवृत्ति पूर्वक किसी प्राणी का प्राण-वियोजन।[1]' इसके विपरीत हिंसा न करना, किसी जीव को दुःख या कष्ट न देना अहिंसा है। यह अहिंसा की व्यौत्पत्तिक व्याख्या हुई, जो कि अहिंसा के नकारात्मक रूप को अभिव्यक्त करती है। अहिंसा की विविध परिभाषाओं में भी हमें उसका पाप-निवर्तक रूप ही मिलता है।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं—'प्राणिमात्र के प्रति संयम अहिंसा है।'[2]

भगवान् बुद्ध कहते हैं—'जंगम और स्थावर प्राणियों का प्राणघात न स्वयं करे, न किसी अन्य से करवाए और न किसी करने वाले का अनुमोदन करे।[3]'

पातंजल योग-दर्शन के अनुसार अहिंसा का स्वरूप है—'सब प्रकार से सब कालों में सब प्राणियों के प्रति अनभिद्रोह।'[4]

ईश्वर गीता के अनुसार—'मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुंचाना अहिंसा है।'[5]

महाभारत के अनुसार—मन, वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है।[6]

---

१. असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका प्रकाश ७ सू० ४, ५

२. अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो।

—दस० अ० ६ गाथा ६

३. पाणे न हाने न च घातयेय, न चानुमन्या हनतं परेसं।
सव्वेषु भूतेसु निधाय दण्डं, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

—सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त

४. तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः।

—पातंजल योगसूत्र भाष्य २.३०

५. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः॥

६. कर्मणा न नरः कुर्वन् हिंसा पार्थिव सत्तम।
वाचा च मनसा चैव ततो दुःखात् प्रमुच्यते॥
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा त्यजेद् वाचाथ कर्मणा।

—अनुशासन पर्व १७६.३

शांकर भाष्य और पातञ्जल भाष्य में अहिंसा दृष्टि

लगभग सभी परिभाषाओं का हार्द एक है और वह निकेवल निवृत्ति-प्रधान है। लोकोपकार, सेवा, दया, करुणा के रूप में अहिंसा का जो विधि-पक्ष आज के समाज-प्रधान चिन्तन में माना जाने लगा है, उसकी छाया भी उक्त परिभाषाओं में कहीं प्रतिबिम्बित नहीं होतो। व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र तत्र उन लोकोपकारक प्रवृत्तियों की भव-मुमुक्षा के विजय में अनर्हता भी स्पष्ट रूप से मिलती है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में 'तत्तु समन्वयात्' (४) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'ईष्ट' और 'पूर्त' को दक्षिण मार्ग-गमन अर्थात् अनुपादेय कहा है।[1] वहां ईष्ट[2] शब्द से आतिथ्य आदि को और 'पूर्त'[3] शब्द से वापी, कूप, तटाक, अन्नदान को अभिहित किया है। वर्तमान युग में जैसे कि कहा जाने लगा है, न मारना अहिंसा है और मरते को बचाना या उसका दुःख दूर करना दया है, यह द्वैध भी प्राचीन व्याख्याकारों की मान्यता में क्वचिद् ही रहा हो। पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार कहते हैं—जो अहिंसक है, वही दयालु है और जो दयालु है, वही अहिंसक है। अहिंसात्मक दया का ही भगवत्-प्राप्ति रूप फल होता है।[4] सर्वभूत मित्र भी उसे कहा गया है, जो मांस नहीं खाता और किसी जीव की हिंसा व घात नहीं करता।[5] इसका तात्पर्य यह नहीं कि अहिंसा के प्राचीन विवेचनों में बचाने रूप दया का कोई उल्लेख ही नहीं है। वैसे उल्लेख भी मिलते हैं, पर बहुत कम। जैन पुराण साहित्य में कपोत को बचाने के लिए अपने शरीर का मांस देने वाले मेघरथ राजा का वर्णन आता है। अवश्य वह एक रोमांचक घटना है, पर आगमोक्त न होने के कारण वह केवल एक कहानी रह जाती है। उस कहानी के विषय में यह कह सकना भी कठिन है कि मूलतः वह किस परम्परा की है और कब रची गई है। यह कहानी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में महाभारत में मिलती है। बौद्ध साहित्य में भी जीमूतवाहन के नाम से कुछ प्रकारान्तर से यह कथा मिलती है। इस कथा में भी मेघरथ राजा

---

१. तथा च याज्ञाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषादुत्तरेण पथागमनं कैवलैरिष्टापूर्तदत्तसाधनैः धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथा गमनम्।

२. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदना चानुपालने।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥

३. वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

४. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

५. पातंजल योगदर्शन भाष्य—साधनपाद सूत्र ३५

ने बाज का वध कर कबूतर को बचाने की बात नहीं सोची, जबकि एक या अनेक जीवों का वध कर दूसरे जीवों को बचा लेना भी लोग अहिंसा के अन्तर्गत मानने लगे हैं।

योगदर्शन में करुणा

योगदर्शनोक्त करुणा-भावना[1] का हार्द भी समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्वार्थ सूत्र[2] और विशुद्धिमार्ग[3] में भी मैत्री आदि उन्हीं चार भावनाओं का उल्लेख है। योगदर्शन भाष्यकार ने दुःखी प्राणी के प्रति दुःखजिहीर्षा की भावना से परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य-मल से चित्त का निवृत्त होना बतलाया है।[4] महर्षि पतंजलि की दृष्टि में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं[5], दुःखानुशयी[6] द्वेष हैं और द्वेषमूलक अभिनिवेश है; अतः यही करुणाशील की दुःख-जिहीर्षा है और यह नितान्त अहिंसात्मक है। दैहिक दुःखोपचार बहुधा रागानुशयी हो जाता है; अतः वह चित्त-मलों का निवारक नहीं हो सकता। श्री के० सी० भट्टाचार्य कहते हैं—करुणा का तात्पर्य है, दर्प और द्वेष से पीड़ित लोगों के प्रति समुद्भूत तटस्थता को दूर करना। दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान अनुभव करने से स्वयं द्वेष या दुःख के भय से दूर हो सकता है।[7]

---

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्

—योगदर्शन १।३३

२. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।६

३. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ६

४. दुःखविषयेषु दुःखितेषु रजोंऽशमात्रान्वितेषु करुणां स्वस्मिन्निव परत्र दुःख-प्रहाणाभिलाषां भावयतः पुरुषस्य परापकारचिकीर्षाकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य।

—योगदर्शन भाष्य पाद १ सूत्र ३३

५. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः।

—योगदर्शन २।५

६. दुःखानुशयी द्वेषः।

—योगदर्शन २।८

७. Studies in Philosophy. Vol 1, p. 307

दुःखापनयन अर्थात् आत्मोन्नयन

दुःखी के आत्मिक दुःखों के निवारण में ही अन्योन्याश्रित चार भावनाएं विशुद्ध रह सकती हैं। दैहिक दुःख-मोचन में हिंसा, राग, असंयम-पोषण आदि दोषों के कारण चारों भावनाओं की सुरक्षा सम्भावित नहीं रह जाती। आचार्य बुद्धघोष एक रोचक उदाहरण के साथ विश्लेषण करते हैं—किसी स्थान पर जिसने मैत्री-भावना सिद्ध करली है, ऐसा साधक बैठा है। वहीं उसका बुरा चाहने वाला एक शत्रु, उसका हित चाहने वाला एक मित्र तथा एक तटस्थ; ये तीन व्यक्ति बैठे हैं। एक आततायी आया और बोला—चारों में से किसी एक को मुझे अवश्य मारना है। ऐसी परिस्थिति में वह साधक क्या सोचे? यह तो वह सोच ही कैसे सकता है कि इन तीनों में से किसी एक को वह ले जाए। साथ-साथ वह यह भी न सोचे कि वधक मुझे ही ले जाए, जिससें तीनों के प्राण बच जाएं। ऐसा सोचने से मैत्री-विरोधी पक्षपात का आपात होता है।[1] यह बात आचार्य बुद्धघोष ने मैत्री-भावना के परीक्षण में कही है। यदि इसे करुणा-भावना की कसौटी बनाई जाए तो भी फलितार्थ वही होगा। दुःखापनयन की बात आत्मोन्नयन से ही जुड़ी रह सकती है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने भावना ग्रन्थ 'शान्तसुधारस' में इस यथार्थता को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे करुणा-भावना के प्रसंग में कहते हैं—जो हितोपदेश का श्रवण नहीं करते, धर्म का स्मरण नहीं करते, उनके रोग कैसे दूर किए जा सकते हैं? क्योंकि रोगापनयन का तो एकमात्र मार्ग धर्म ही है।[2] हे आत्मन्! इस भव-कान्तार में अपार व्याधि-समूह को क्यों सहता है? जगदुपकारक जिनेश्वर का अनुसरण कर। वे ही रोगापहारक वैद्य है।[3]

---

१. विशुद्धिमग्ग, ब्रह्म विहार निद्देस ९

२. श्रृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्मरन्ति।
रुजः कथङ्कारमथाऽपनेया, स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ६

३. सहत इह किं भवकान्तारे, गदनिकुरम्बमपारम्।
अनुसरताऽहितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारम्॥
—शान्तसुधारसभावना गीतिका १५ श्लोक ७

भगवान् श्री महावीर

निरामिषता और अहिंसात्मक यज्ञ

गवेषकों की दृष्टि में यह विषय अत्यन्त निर्विवाद हो गया है कि भारतीय अहिंसा-चिन्तन में जैन धर्म का अद्वितीय अनुदान रहा है। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु विवाह-प्रसंग पर होने वाले पशु-वध से अनुकम्पित होकर सदा के लिए विवाह से ही मुंह मोड़ लेते हैं।[1] २३वें तीर्थंकर पार्श्व प्रभु पंचाग्नि जैसी हिंसा-प्रधान तपस्याओं का रहस्योद्घाटन अपनी कुमारावस्था में ही कर देते हैं।[2] भगवान् श्री महावीर हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हैं और अहिंसा, तप आदि रूप यज्ञों का निरुपण करते हैं।[3] भारतीय अहिंसक समाज आज उनका कृतज्ञ है, यह मानकर कि उक्त तीर्थंकरों ने निरामिषता, वैवाहिक अनारम्भता, अहिंसात्मक तपः साधना और अहिंसात्मक आत्म-यज्ञ की विधि उसे सिखलाई।

अहिंसा का उग्र निरूपण और सूक्ष्म समीक्षा

भगवान् श्री महावीर अहिंसा के जितने उग्र निरूपक थे, उतने सूक्ष्म समीक्षक भी। उनकी अहिंसा के हार्द को पा लेना सहज नहीं है। एक ओर शास्त्रकार निःसंकोच भाव से कहते हैं—भगवान् ने समस्त जगत् के जीवों की रक्षात्मक दया के लिए प्रवचन कहा।[4] दूसरी ओर भगवान् कहते हैं—किसी राह भूले गृही को साधु मार्ग बताए तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[5] नावास्थित साधु किसी छिद्र से जल-प्रवेश

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २२

२. पार्श्वचरित्र

३. तवो जोई, जीवो जोइठाणं, जोगा सुया, सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र १२.४४

४. इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।
—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

५. जे भिक्खू अण्ण उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा नट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधि पदेएइ, मग्गाओ वा संधि पवेएइ, संधीओ-वा मग्गं पवेएइ, पवेयंतं वा साइज्जइ।
—निशीयसूत्र उद्देशक १३ वो २८

देखकर नावास्थित अन्य जनों से कहे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[1] अनुकम्पावश किसी त्रस प्राणी को बन्धन-मुक्त व बन्धन-युक्त करे या करने का अनुमोदन करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[2] नमि राजर्षि कहते हैं—मैं मिथिला की ओर आंख उठाकर क्यों देखूं ? मैं तो सुख में बसता हूं, सुख में जीता हूं, मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ भी नहीं जल रहा है ।[3] चुलनीपिता श्रावक पौषध व्रत में अपने ही सामने किसी अनार्य पुरुष के द्वारा अपने तीन पुत्रों को मारे जाते देखता है, बचाने के लिए उठता नहीं, तब तक उसका पौषध व्रत अखण्ड है । ज्यों ही वह अपनी माता को बचाने के लिए उठता है, उसके नियम, व्रत, पौषध आदि भंग हो जाते हैं ।[4] नन्दन मणिहारा लोक-सुख के लिए उद्यान बनाता है । मरण-

१. से भिक्खू वा (२) णावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुरिं णावं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बया आउसंतो गाहावइ एयं ते णावाए उदयं उत्तिंगेणं आसवति उवरुवरिं वा णावा कज्जलावेति एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरओ कट्टु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अबहिलेसे एगंति गएणं अप्पाणं विपोसेज्ज समाहीए । तओ संजयामेव णावा संतारिमे उदए आहारियं रियेज्जा ।
—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० ३ उ० १

२. जे भिक्खू कोलुण पडियाए अण्णयरियं तस पाण जायं तेण पासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ बंधतं वा साइज्जइ ।
जे भिक्खू बंधेल्लयं वा मुयइ मुयंतं वा साइज्जइ।
—निशीथ सूत्र उद्देशक १२ बोल १-२

३. सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं ।
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जइ किंचि अप्पियं पि न विज्जइ ।
—उत्तराध्यन सूत्र अ० ६ गाथा १४-१५

४. तेणं तुमं इदाणिं भग्ग वए, भग्ग नियमे, भग्ग पोसहोववासे विहरसि, तेण तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पायच्छित्तं पडिवज्जाहि ॥१७॥ तएणं चुल्लणी पिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्थवाहीणिए तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥ १८ ॥
—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ३

काल में षोडश रोगों से आतंकित होता है और वहां से मरकर स्व-निर्मापित पुष्करिणी में ही दर्दुर-योनि में उत्पन्न होता है।[1]

दानपरक करुणा

दान भी करुणा का एक अंग है; अतः उस सम्बन्ध से भी भगवान् श्री महावीर के निरूपण को आगमिक संदर्भों में देख लेना उचित है। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्री महावीर कहते हैं—तथारूप पाप-कर्म का प्रत्याख्यान न करने वाले असंयति, अव्रती को प्रासुक, अप्रासुक, एषणीय, अनैषणीय आहार, पानी आदि देने वाला श्रमणोपासक एकान्त पाप कर्म का उपार्जन करता है; जरा भी निर्जरा धर्म नहीं करता।[2] जो साधु अन्यतीर्थी व गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[3] इसी प्रकार जो साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रमार्जन का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

आनन्द श्रावक ने भगवान् श्री महावीर के सम्मुख श्रावक के बारह व्रत

---

१. ततेणं णंदे तेहिं सोलसेहिं रोयायंकेहिं अभिभूए समाणे णंदाए पुक्खरिणीए मुच्छिते ४ तिरिक्ख जोणिएहिं बद्धाउए बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्ठे काल मासे कालं किच्चा णंदा पोक्खरिणीय दद्दुरीए कुच्छिंसि ददुरत्ताए उववण्णे ॥२६॥

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १३

२. समणोवासगस्सणं भंते ? तहारूवं असंजय, अविरय, अपडिहय, अपच्चक्खाय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ। गोयमा ! एगंत सो से पावे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

३. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं वा ४ देयइ देयंतं वा साइज्जइ ॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७८

४. जे भिक्खू अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा देयइ देयन्तं वा साइज्जइ ॥७९॥

—निशीथ सूत्र उद्देशक १५ बो० ७९

स्वीकार किए। तदनन्तर उसने अभिग्रह धारण किया, भगवन्! आज से मैं अन्य-तीर्थी, अन्यतीर्थियों के देव, अन्यतीर्थ में गए आर्हत भिक्षुओं को आहार, पानी आदि न दूंगा, न दिलाऊंगा। इस व्रत में मेरे छः आगार होंगे—१. राजा का आदेश, २. गण का आदेश, ३. बलवान का आदेश, ४. देवता का आदेश, ५. कुल ज्येष्ठ का आदेश, ६. अटवी आदि विशेष परिस्थिति।[1]

शकडाल पुत्र भगवान् श्री महावीर का श्रावक बना। अपने चिरन्तन गुरु गोशालक के घर आने पर उसने जरा भी आवभगत नहीं की। गोशालक द्वारा भगवान् श्री महावीर की प्रशंसा किए जाने पर उसने उसे पीठ, फलक, शय्या आदि दिए और कहा—मेरे धर्माचार्य की प्रशंसा की, इसलिए मैं यह सब दे रहा हूं न कि धर्म और तप मान कर।[2]

जगज्जीव-रक्षा का स्वरूप

एक ओर समस्त जीवों की रक्षा के लिए प्रवचन करना और एक ओर किसी राह भूले को मार्ग न बताना, साधु स्वयं और अनेकों जीव डूबे जा रहे हैं, उस स्थिति में नावा का छिद्र न बताना, अनुकम्पावश किसी प्राणी को न पाश-मुक्त करना

---

१. तएणं से आणंदे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—णो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जपभइओ अण्णउत्थिए वा अणउत्थिय देवयाणि वा अण उत्थिय परिग्गहियाणि वा अरिहन्त चेइयाति १ वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालवित्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तीकंतारेणं।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० १

२. तएणं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी जम्हाणं देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सव्वेहिं सव्व भूतेहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेहि। तम्हाणं अहं तुब्भे पड़िहारिएणं पीढ़ जाव संथारयणं उवनिमंतेमि नो चेवणं धम्मोति वा तवोति वा।

—उपासकदसाङ्ग सूत्र अ० ७

और न पाश-मुक्त करना आदि विधान सहसा यह प्रश्न उपस्थित करते हैं, आखिर परम कारुणिक भगवान् श्री महावीर की वह जगज्जीव रक्षा है क्या? साधारण कोटि का व्यक्ति भी उक्त परिस्थितियों में मार्ग बताने, छिद्र बताने व जीवों को पाश-मुक्त करने के लिए प्रेरित होगा, अपना कर्तव्य समझेगा; वहां छत्र काया के रक्षक साधु-साध्वियों के लिए यह अकरुणापरक और असामाजिक जैसा आचार अवश्य किसी रहस्य का द्योतक है। यह हो नहीं सकता कि भगवान् श्री महावीर करुणासिन्धु नहीं थे और उन्होंने जगज्जीव-रक्षा के लिए प्रवचन नहीं किया। और न यह भी हो सकता है कि उनके ये जगज्जीवों के प्रति औदासिन्य प्रधान निरूपण अहिंसा, करुणा और अनुकम्पा से कोई परे की बात हो। इन सबका हार्द यही है कि भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव रक्षा का स्वरूप है—प्राणीमात्र को दुःख न देना, शोक उत्पन्न न करना, न रुलाना, न अश्रुपात करवाना, न उन जगज्जीवों को ताड़न-तर्जन देना।[1]

सूत्रकृतांग सूत्र मोक्ष-मार्ग अध्ययन में भगवान् श्री महावीर की जगज्जीव-रक्षा का हार्द और भी स्पष्ट हो जाता है। जम्बूस्वामी के प्रश्न पर सुधर्मास्वामी भगवान् श्री महावीर द्वारा निरूपित मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; ये षट्-कायिक जीव संसार में हैं। इनके अतिरिक्त कोई जीवनिकाय नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष इन षट्कायिक जीवों को, सबको दुःख अप्रिय है ऐसा सम्यक् प्रकार से समझ कर, सबके प्रति अहिंसा करे। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यग् दिशा में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनकी हिंसा से निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है।[2] इस

---

१. अत्थिणं भंते! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, हंता अत्थि। कहण्णं भंते! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति, गोयमा! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टण-याए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति एवं नेरइया णवि जाव वेमाणियाणं।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६

२. पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहागणी।
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥८॥

निरूपण से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है; भगवान् श्री महावीर का मोक्ष-पथ हिंसा-निवृत्तिरूप अहिंसा, दया और अनुकम्पा है। इसी अध्ययन में बताया गया है—किसी ग्राम या नगर में रहे साधु को कूप-खननादि और दानशालादि करने वाला पुरुष विनयपूर्वक पूछे—इनमें धर्म है या नहीं; ऐसे प्रश्न का आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु कुछ भी उत्तर न दे। इस प्रकार के समारम्भ में पुण्य है या पुण्य नहीं है, ऐसा भी वह नहीं बोले। यह दोनों प्रकार की भाषा महाभय की हेतु है। दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा के लिए पुण्य है, ऐसा भी वह न बोले। क्योंकि जो दान की प्रशंसा करता है, वह प्राणियों का वध चाहता है और जो दान का वर्तमान में निषेध करता है, वह अनेक जीवों की आजीविका-विच्छेद करता है। इस प्रकार जो साधु संयमस्थित रहता है, वह निर्वाण को प्राप्त होता है।[1] उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाने के साथ कि पट्कायिक जीव ही सव्व जगज्जीव हैं और हिंसा न करना ही उनकी रक्षा रूप दया है; करुणापरक व लोकोपकारक दान के विषय में भी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन प्रसंगों को केवल यह कहकर ही नहीं टाला जा सकता कि उक्त प्रकार के विधि-विधान साधुजनों के लिए हैं; गृहस्थ किसी राह भूले को मार्ग वताता है, नौका में छिद्र वताता है तो वह अनवद्य करुणा है और मोक्षाभिगमन का पथ है। उक्त विधि-विधानों के पालन की अनिवार्यता भले ही साधुजनों के लिए

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मंतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसया ॥९॥
उड्ढं अहेय तिरियं, जे केइ तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं विज्जा, संति निव्वाण माहियं ॥११॥

1. तहागिरं समारब्भ, अत्थि पुन्नं ति णो वए।
अहवा णत्थि पुन्नं ति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठाय जे पाणा, हम्मंति तस थावरा।
तेसिं सारखणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वए ॥१९॥
जेय दानं पसंसंति, वह मिच्छंति पाणिणं।
जेयणं पडिसेहंति, वितिच्छेयं करंति ते ॥२०॥
दुहओवि ते न भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

है; क्योंकि उन्होंने एकान्त अनवद्य आचरण का ही व्रत ले रखा है, परन्तु सिद्धान्त-निर्णय में उन विधि-विधानों को भुलाया नहीं जा सकता। गृहस्थ के लिए वे आचरण यदि अनवद्य अहिंसा की कोटि में आते होते तो कोई कारण नहीं रह जाता कि मुनिजनों के लिए वे वैध न होते। एक गृहस्थ किसी अन्य मार्ग-भ्रष्ट गृहस्थ को मार्ग बताकर विशुद्ध अनुकम्पा करता है और एक मुनि वही कार्य कर अपना चातुर्मासिक संयम खो देता है; किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य होने की बात नहीं है। गृहस्थ के लिए भी उक्त प्रकार की अनुकम्पा करने के लिए कोई विधान या निरूपण करते तो अवश्य उस मन्तव्य का कोई मूल्य होता, पर जैन आगमों में ऐसा नहीं है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर की दृष्टि में उक्त प्रकार की लौकिक क्रियाओं में शुद्ध अनुकम्पा होती तो वे उसके करने में साधु-साध्वियों के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान न कर; किसी राह भूले को मार्ग न बताने में, नौकागत छिद्र न बताने में, दुःखित प्राणी को पाश-मुक्त न करने में चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान करते। पर उनकी अहिंसा और उनकी अनुकम्पा या जीव-रक्षा का शुद्ध रूप नकारात्मक ही था। उनकी दृष्टि में पृथ्वी, अप्, वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी समान थे। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा उनकी दृष्टि में अहिंसा कैसे हो सकती थी? उनकी दृष्टि में हिंसा न करना धर्म था, पर किसी की जीवन-कामना करना धर्म हो ही ऐसी बात नहीं थी। जीवन-कामना की उपादेयता में संयम और असंयम उनके मानदण्ड थे।

जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

सर्वसाधारण में 'जीओ और जीने दो' का वाक्य जोरों से चल पड़ा है। अहिंसा पर बोलते समय इस उक्ति को प्राथमिकता दी जाती है और कहा जाता है, भगवान् श्री महावीर का उद्घोष था—'जीओ और जीने दो।' यह यथार्थ नहीं है। न तो भगवान् श्री महावीर के सूक्तों में इस उक्ति का कहीं स्थान है और न इसका भाव भी पूर्णतः उनकी प्ररूपणा के अनुकूल पड़ता है। इसमें 'जीने दो' से भी पहले 'जीओ' की बात कही है। भगवान् श्री महावीर के निरूपण में असंयत जीवन-कामना के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अध्यात्मपरायण भगवान् महावीर का तो उद्घोष इस विषय में यह रहा है—"णो जीवियं णो मरणावकंखी अर्थात् जीवन और मरण का आकांक्षी न हो।"[1] जीवन और मृत्यु की निरपेक्षता

---

१. क. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १३ गाथा २३
   ख. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० १० गाथा २४
   ग. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० १ अ० ३ उद्देशक ४ गाथा १५

ही वास्तविक अध्यात्म है। 'जीओ और जीने दो' के उद्घोष में उसका दर्शन नहीं होता।

आत्मोपचायक जीव-रक्षा

इस प्रकार भगवान् श्री महावीर की अहिंसा का बहुमुखी चिन्तन करते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उनकी जीव-रक्षा निकेवल आत्मोपचायक थी न कि देहोपचायक। प्रश्नव्याकरण सूत्र में जहां कहा गया है—समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान् श्री महावीर ने प्रवचन कहा है; उसी अंगसूत्र में कुछ ही अन्तर पर कहा जाता है—भगवान् ने सब जीवों को असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनों से बचाने के लिए अपना प्रवचन कहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य-विन्यास पूर्व प्रस्तावित वाक्य-विन्यास का मानो भावार्थक अनुवाद हो गया है। सूत्रकृतांग सूत्र का 'सकामकिच्चं णिह आरियाणं' यह आर्द्र-कुमार-कथन भी यही अभिव्यक्त करता है। भगवान् अपने कर्म-क्षय के लिए तथा अन्य लोगों को तारने के लिए धर्मोपदेश करते हैं।[2] स्थविर कल्पी साधु को आत्मानुकम्पी होने के साथ-साथ परानुकम्पी[3] भी कहा गया है। मार्ग या नौका-छिद्र न बताना आदि विधानों का पालन करते हुए साधु आत्मानुकम्पी तथा परानुकम्पी इसी अपेक्षा से होता है कि वह किसी भी प्राणी का प्राण-वियोजन नहीं करता, न किसी प्राणी को क्लेश उत्पन्न करता है। वह केवल पापाचारी को उपदेशादि द्वारा पाप-विमुख करता है, जैसा कि केवल आत्मानुकम्पी होने के कारण जिन-कल्पी साधु नहीं किया करता है।

निष्कर्ष यह होता है—अल्प या अनल्प हिंसा की भूमिका पर अहिंसा, करुणा,

---

१. इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र संवरद्वार

२. सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा १७

३. चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तंजहा—आयाणुकम्पए नाम एगे णो परानुकम्पए।

टीका—आत्मानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानुकम्पको निष्ठितार्थतया तीर्थंकरः, आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिकः। उभयानुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ४ उद्देशक ४ सू० ३५२

दया, अनुकम्पा आदि शब्दों से अभिहित होने वाले मनोभाव अनवद्य नहीं रह सकते। हिंसा पर आधारित परोपकार, दान, करुणा, सेवा आदि हिंसा के ही विधि पक्ष हो सकते हैं, अहिंसा के नहीं।

भगवान् श्री महावीर कहते हैं--हिंसादि कार्यरत हिंसक सामने हो तो साधु के लिए तीन ही मार्ग हैं--वह धर्मोपदेश करे, मौन रहे या वहां से उठकर चला जाए।[1]

षष्ठगुणस्थानवर्ती और षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती आत्माएं संयति हैं। पंचमगुण-स्थानवर्ती संयतासंयति हैं और शेष चतुर्गुणस्थानवर्ती असंयति हैं। जहां दो ही भेद अपेक्षित हों, वहां प्राग् पंचगुणस्थानवर्ती आत्माएं असंयति की कोटि में हैं। असंयत जीवन-कामना स्वयं असंयम है और वह राग सम्भाव्य भी है, अतः यह अहिंसा का अंग नहीं है।

स्व और पर की अपेक्षा में अहिंसा का विधि पक्ष

अहिंसा का विधि पक्ष, स्व-अपेक्षा में स्वाध्याय, ध्यान, कषाय-विजिगीषा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का आचरण आदि रूप सत्प्रवृत्ति है। पर-अपेक्षा में उक्त सत्प्रवृत्तियों में किसी प्राणी को प्रेरित करना तथा उपदेशादि द्वारा हृदय-परिवर्तन कर उसे हिंसादि दुराचरण से बचाना है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही नावा-स्थित साधु का छिद्र न बताना, शरणागत को मार्ग न बताना, किसी प्राणी को अनुकम्पावश पाश-मुक्त या पाश-युक्त न करना आदि साध्वाचारशालीन रह सकते हैं। इन तथ्यों पर ही नमि राजर्षि की म्रियमाण जीवों की उपेक्षा राग-मुक्त स्थिति मानी गई है। चुलनीपिता का माता को बचाने के लिए उठना, रागात्मक दया होकर पौषध-भंग का निमित्त बना है। तथारूप असंयति, अव्रती को गृहस्थ द्वारा दिया जाने वाला दान एकान्त पाप का और संयति को दिया जाने वाला एकान्त निर्जरा का हेतु बताया गया है। इन्हीं तथ्यों पर आनन्द का अभिग्रह और सकडाल का 'न धम्मोत्ति वा, न तवोत्ति वा' का कथन संगत होता है।

आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के स्वरूप को यदि हम एक ही समुल्लेख में देखना चाहें तो वह प्रश्नव्याकरणसूत्र में मिलता है। वहां अहिंसा के साठ एका-

---

१. तओ वायरक्खा पन्नत्ता तंजहा—धम्मियाए पडिचोयणाए भवइ, तुसि-णीए वा सिया उट्ठित्ता वा आया एगंत मवक्कमेज्जा।

—ठाणांगसूत्र ठाणा ३ उद्देशक ४

र्थक नाम बतलाये गए हैं––निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, विरति, दया, विमुक्ति, शान्ति, रक्षा, यतना, अभय, अमाघात (अमरत्व) आदि ।[1] यहां अधिकांश नाम निवृत्ति के सूचक हैं। इनका फलित स्वतः सिद्ध है कि हिंसा-निवृत्ति अहिंसा है और दया, रक्षा आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं ।[2] अस्तु, अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि छोटी-बड़ी विभिन्नताओं में भी अहिंसा और करुणा का आगमिक और औपनिषदिक स्वरूप दैहिक और ऐहिक न होकर परम आध्यात्मिक ही था। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं––हिन्दुस्तान में तात्कालिक प्रचलित धर्मों में से जैन तथा उपनिषद् धर्म पूर्णतया निवृत्ति-प्रधान ही थे।[3] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज लिखते हैं—उपनिषद्कालीन प्राचीन साधना में जीवन-मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन-मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुःख की निवृत्ति के लिए उपाय रूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियां गौण समझी जाती थी। जीवन-मुक्त महापुरुष ही संसार-ताप से पीड़ित चीजों के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्तमान जगत् में करुणा के जितने ही आकार दिखाई पड़ते हैं, वे आवश्यक होते हुए भी मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं।[4]

आत्म-उन्नायकता से देहोपचायकता की ओर

आत्मोन्नायक अहिंसा में देहोन्नायकता कब से और क्यों ?

यह हमने देखा कि प्राचीन अहिंसा-चिन्तन में आत्मिक ऊर्ध्व संचरण की चिन्ता ही प्रमुख है। दैहिक अपेक्षाओं को वासना-परिणाम मानकर व्यक्ति को उनसे ऊपर उठ जाने के लिए प्रेरित किया गया है। भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने अठाणवे भाइयों के राज्य छीन लिए गये। वे अठाणवे भाई असहाय और अनाथ

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र संवरद्वार

२. एवमादीणि नियगुण निम्मियाइं पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र १ संवरद्वार

३. गीता रहस्य पृ० ५१०

४. बौद्ध धर्म-दर्शन भूमिका पृ० १७

स्थिति को प्राप्त होकर अपने पूर्व के पिता और वर्तमान के तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु के पास गए और अपने राज्योपभोग छीन लेने की बात कही। आदिनाथ प्रभु ने उन्हें इन्द्रिय-भोगों से पराङ्मुख करते हुए कहा—सम्यग् बोध को प्राप्त करो। प्रेत्यलोक में वह दुर्लभ है।[1] समस्त बन्धु प्रतिबुद्ध हुए और राज्य-लालसा को ठुकरा कर संयति बने। अन्ततोगत्वा दैहिक दुःख-मुक्ति की अपेक्षा आत्मिक क्लेश-मुक्ति ही यथार्थ, व्यापक और उपयोगी है। पर यहां तो यही प्रसंगोपात्त है कि अहिंसा के इस आत्मोन्नयन-प्रधान स्वरूप के साथ भारतीय धर्मों में देहोन्नयन की बात कब से प्रमुख बनी और उसके प्रेरक आधार क्या हैं?

निवर्तक और प्रवर्तक : एक संदिग्ध शब्द प्रयोग

अहिंसा की इस द्विविधता को कुछ विचारकों ने निवर्तक अहिंसा और प्रवर्तक अहिंसा के शब्द-प्रयोग से अभिहित किया है।[2] इस तात्पर्य में कि निवृत्ति-प्रधान अहिंसा निवर्तक अहिंसा और प्रवृत्ति प्रधान अहिंसा प्रवर्तक अहिंसा; कदाचित् यह शब्द-प्रयोग यथार्थ भी माना जा सके, परन्तु जब कि भगवान् श्री महावीर की अहिंसा जितनी निवृत्तिमूलक है, शुभयोग की अपेक्षा में उतनी प्रवृत्तिमूलक भी, तब उसे केवल निवर्तक शब्द से अभिव्यक्त करने में यथार्थता का अवबोध नहीं होता। साथ-साथ प्रवृत्तिमूलक अहिंसा का विकास कहकर निवर्तक शब्द का प्रयोग करने में अहिंसा के असन्निवृत्तिमूलक और सत्प्रवृत्तिमूलक स्वरूप की कुत्सा भी अभिव्यक्त होती है। दैहिक दुःख-निवृत्ति का स्वरूप स्वभावतः ही सीमित होता है। प्रवर्तक दया कुछ ही व्यक्तियों तक पहुंच सकती है। जीवन-मुक्त वीतराग की करुणा मोह-मुक्ति का बोध-दान बनकर अगणित लोगों को सुखी करती है। इसी करुणा का विस्तार प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु से भगवान् श्री महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने किया है और समस्त विश्व उनकी करुणा से उपकृत हुआ है। सहस्रों वर्ष पश्चात् आज भी हम उनकी बोध-गंगा से कृतार्थ करुणापात्र हो रहे हैं। क्या यह सोचा भी जा सकता है कि उनकी वह अहिंसा निवर्तक या निष्क्रिय थी? उक्त शब्द-विन्यास के प्रयोक्ता प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी स्वयं भी प्रसंग-भेद से तद्रूप में इस बात को स्वीकार करते हैं। धर्मानन्द कोसाम्बी की धारणाओं की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—भगवान् पार्श्वनाथ की अहिंसा को वे केवल निषेधात्मक और बुद्ध की

---

१. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

—सूत्रकृतांगसूत्र श्रु १ अ० २ गाथा १

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास

अहिंसा को विधायक कहते हैं, जो ठीक नहीं लगता है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम त्रिविध थे। उनमें जैन-परिभाषा के अनुसार समिति या सत्प्रवृत्ति का तत्त्व भी था और उनका एक विशिष्ट संघ था, ऐसा स्वयं कोशाम्बीजी भी स्वीकार करते हैं। यदि सारा त्यागी संघ केवल निष्क्रियरूप से बैठा रहता और कुछ भी काम नहीं करता तो जनता में घर की हुई हिंसा-प्रधान यज्ञों की संस्था को किस प्रकार हटा सकता या उसे निर्बल कर सकता।...भगवान् महावीर से पहले जैन-परम्परा में पूर्व श्रुत के अस्तित्व के और कर्म-तत्त्व विषयक कुछ और विशिष्ट साहित्य होने के प्रमाण भी मिलते हैं, जो कि पार्श्वनाथ के संघ की निष्क्रियता के विरुद्ध सबल प्रमाण हैं।[1]

प्रवर्तक और निवर्तक यह शब्द युग्म तो तभी यथार्थ प्रयुक्त हो सकता है जब एक पक्ष प्रवृत्तिमात्र का निषेध करता हो और दूसरा पक्ष निवृत्तिमात्र का। वस्तुस्थिति यह है कि किसी एक का भी दूसरे में पूर्ण निषेध नहीं है। निवृत्ति की विशुद्धता में किसी को आपत्ति नहीं है। उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को योजित करने का ही केवल वांछित अभिप्राय है। निवृत्ति-प्रधान माने जाने वाला पक्ष भी केवल असद्प्रवृत्ति का निषेध करता है। सत्प्रवृत्ति के लिए वहां भी मुक्त संचार है। प्रवृत्ति-मात्र को प्रवृत्तिप्रधान पक्ष भी उपादेय कोटि में नहीं मानता। वहां भी सत्-असत् का विवेक तो अपेक्षित है ही। अधिक-से-अधिक प्रवर्तक पक्ष गीता का कर्म-योग है। वहां भी फलाशा-रहित और करणीय[2] प्रवृत्ति का ही आचार-कोटि से माना है। यथार्थ भेद प्रवृत्ति और निवृत्ति का नहीं ठहरता। वह ठहरता है, सत्प्रवृत्ति की व्याख्या का। एक पक्ष की व्याख्या में कुछ एक प्रवृत्तियां सत् हैं तो दूसरे पक्ष की व्याख्या में वे असत्। इस साधारण भेद को व्यक्त करने के लिए प्रवर्तक धर्म और प्रवर्तक अहिंसा, निवर्तक धर्म और निवर्तक अहिंसा आदि प्रयोग संदिग्ध शब्द-विन्यास हैं। भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का औषधोपचार करना प्रवर्तक कही जाने वाली अहिंसा का मुख्य रूप है। व्यसनी को व्यसन-मुक्त करना या भूख-प्यास, रोगादि से व्याकुल को उन देहार्तियों का सामना करने के लिए प्रखर आत्म-बल देना आदि निवर्तक कही जाने वाली अहिंसा (दया) है। दया के दोनों रूपों में व्यक्ति और समाज के

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, अवलोकन पृ० २१

२. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
—गीता अ० ६ श्लोक १

लिए कौन-सा रूप अधिक उपयोगी व अध्यात्म-सम्मत है, इसकी चर्चा यहां नहीं करेंगे। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उक्त दोनों स्वरूपों में एक दैहिक, दूसरा आत्मिक प्रत्यक्ष है। अतः अहिंसा (दया) के इस एक स्वरूप को देहोपचायक तथा दूसरे स्वरूप को आत्मोपचायक अथवा तत्सम अन्य शब्दों में कहा जाए तो अधिक यथार्थ लगता है।

भगवान् बुद्ध और महायान सम्प्रदाय की करुणा

गौतम बुद्ध के विधायक उपदेश

उपनिषदों व भगवान् श्री महावीर की आत्मोपचायक अहिंसा में देहोपचायकता का आरम्भ भगवान् बुद्ध की अहिंसा से माना जा सकता है। बौद्ध धर्म उत्कट देह-दमन और उत्कट भोगवाद के बीच का मध्यम मार्ग था। अतः उसमें विधायक उपदेशों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक था। महामंगलसुत्त में भगवान् बुद्ध कहते हैं—माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का संग्रह, दान, धर्म-चर्या, अनवद्य कर्म ये उत्तम मंगल हैं। यह विधायकता बुद्ध के मूलभूत उपदेशों में नाममात्र से ही रही है, पर आगे चलकर हीनयान और महायान के निर्वाण विषयक सैद्धान्तिक मतभेदों के आधार पर परम्परा विशेष में वृद्धिगत हुई है। वह वृद्धि भी आचार सम्बन्धी नियमों में शिथिलता चाहने वाली परम्परा में ही हुई है। इतिहास बताता है—राजगृह में बौद्ध संघ की जो प्रथम महासभा हुई थी, उसी में नियमों का बन्धन कुछ ढीला करने का प्रयत्न किया गया था; किन्तु उस प्रयत्न में सफलता न मिली। वैशाली की सभा में फिर प्रयत्न किया गया। उस सभा में स्थविरों ने उस प्रयत्न को दूषित ठहराया। उससे असन्तुष्ट होकर सुविधा के इच्छुकों ने महासंगीति नाम से एक पृथक् सभा की। इसके प्रवर्तक महासंघिक नाम से प्रख्यात हुए, क्योंकि उस सभा में ऐसे ही भिक्षुओं की संख्या अधिक थी। महासंघिक लोगों का सम्प्रदाय महायान नाम से पुकारा जाने लगा। इसी प्रकार स्थविरवादियों का जो संगठन हुआ, वह हीनयान सम्प्रदाय कहलाया।[1]

हीनयान और महायान के मोक्ष सम्बन्धी विचार

हीनयान की मान्यता के अनुसार निर्वाण वैयक्तिक है, इसलिए दुःख-क्षय का साधनरूप धर्म और उसके भेद विशेष, वैयक्तिक हैं। महायान के अनुसार निर्वाण

---

1. बौद्ध-धर्म पृ० ६१, विशेष विवरण के लिए बौद्ध धर्म-दर्शन खण्ड १, पृ० ४ से १० तक, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४७ से ६३८

सामाजिक है। उसके कथनानुसार बुद्ध ने अपने दुःख-क्षय के लिए कुछ भी नहीं किया। व्यक्तिगत मोक्ष को उन्होंने रस-विहीन माना।[1] जब तक एक भी प्राणी दुःख-युक्त है, तब तक मोक्ष काम्य नहीं है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त नहीं किया, अपितु अब भी वे योन्यन्तर से सभी जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने में संलग्न हैं।

महायान सम्प्रदाय का करुणा व लोकोपकार सम्बन्धी अभिमत

मोक्षवाद की इस सामुदायिक धारणा पर परानुग्रह-वृत्ति का विकास हुआ। महायान बौद्ध-परम्परा का एक प्रभावशाली और समर्थ सम्प्रदाय था। प्रारम्भ में भी वैशाली की संगीति में केवल सात सौ साधु एकत्रित थे और महासंघिकों की कोशाम्बी में होने वाली परिषद् में दस सहस्र बौद्ध भिक्षुओं की उपस्थिति थी।[2] आगे चलकर यह संघ और भी व्यापक व प्रभावशाली बना तथा करुणा व लोकोपकार के अपने अभिमत स्वरूप को जन-जन तक पहुंचाने में सफल हुआ। डा० हरदयाल का कथन है—महायान के उद्गम में अनेकों देश-काल-जन्य प्रभावों के साथ गीता और ईसाई धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव भी हेतुभूत था।[3] यह कथन स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि गीता कर्म-योग के नाम से और ईसाई सेवा के नाम से लोक-संग्राहक प्रवृत्तियों पर बल देते ही हैं। आश्चर्य केवल यही रह जाता है, महायान के आधारभूत ग्रन्थों में दुःख-निवारण की चर्चाएं मिलती हैं, पर उनसे ऐसा नहीं लगता, वे अनाध्यात्मिक हैं। यहां अधिकांश चर्चा बन्धन-रूप आन्तरिक क्लेशों के निवारण की ही उपलब्ध होती है। महायान अभिधर्म संगीति-शास्त्र में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है—

---

१. क—एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥ ३.६॥
मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्? ८.१०८॥
—बोधिचर्यावतार

ख—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ५४६

३. The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, pp. [illegible]-40.

१. महायान वस्तुतः महान् और विशाल है, क्योंकि उसमें जीव-मात्र की मुक्ति का सन्देश है।

२. महायान में प्राणीमात्र के लिए त्राण का विधान है।

३. महायान का लक्ष्य बोधि-प्राप्ति है।

४. महायान का आदर्श बोधि-सत्त्व है, जो समस्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है।

५. महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने उपाय-कौशल से नाना प्रकार के प्राणियों को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है।

६. बोधि-सत्त्व की दस भूमियों का महायान में विधान है।

७. महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ है।

इन सातों विशेषताओं में व्यवहारिक जीवन के लोकोपकारक कार्यों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

भगवान् बुद्ध और क्षुधार्त्त व्यक्ति

एक बार भगवान् बुद्ध के पास एक क्षुधार्त्त व्यक्ति आया। भिक्षु उसे धर्मोपदेश देने लगे। वह उपदेश-श्रवण में अन्यमनस्क था। भगवान् बुद्ध ने कहा—पहले इसे रोटी खिलाओ, फिर धर्मोपदेश करो। वैसा ही किया गया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है, क्षुधा, तृषा आदि से जो मानसिक क्लेश उत्पन्न होता है, उसका निवारण किए बिना धर्म-बोध अंकुरित नहीं होता। भोजन, पानी उस बोध को अंकुरित करने में हेतुभूत हो जाते हैं। धर्म और धर्म के अवान्तर हेतु ये सर्वथा दो बातें हैं। शुभ अनुष्ठान के भी अवान्तर हेतु शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। बहुत सम्भव है, भगवान् बुद्ध की इस हेतुरूप अपेक्षा को सामान्य जीवन व्यवहार में वास्तविक अध्यात्म का स्थान मिल गया हो।

सम्राट् अशोक के शिलालेखों में

सम्राट् अशोक के शिलालेखों से भी इस सम्भावना की पुष्टि होती है। एक ओर उनमें मिलता है—

१. माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। यही प्राचीन रीति है।[1]

२. देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा, एक मनुष्यों

---

१. अशोक के धर्म लेख, ब्रह्मगिरी, द्वितीय शिलालेख पृ० ६६

की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियां भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहां-जहां नहीं थीं, तहां-तहां लाई और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहां-तहां नहीं थे, सब जगह लाए और रोपे गए हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुएं खुदवाए गए हैं।[1]

३. प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से बन्धुओं का आदर, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर, माता-पिता की सेवा तथा बूढ़ों की सेवा बढ़ गई है।[2]

४. वृद्धों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण-दान देना चाहिए।[3]

इन समस्त उल्लेखों का हार्द एक दूसरे सम्मुलेख से भली-भांति पकड़ा जा सकता है, जिसमें सम्राट् अशोक कहते हैं—सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाए, आम्र वृक्ष की वाटिकाएं लगवाईं, आध-आध कोस पर कुएं खुदवाए, सराएं बनवाईं और जहां-तहां पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पौंसले (आपान) बैठाए। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।[4]

इस उल्लेख से यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट् अशोक ने विशेषतः धर्माचरण का हेतु मानकर यह सब व्यवस्था की है। तत्त्व-स्थिति में और व्यवहार में बहुत बार इस प्रकार के मौलिक भेद पड़ जाते हैं। सर्वसाधारण मूलग्राही न होकर स्थूलग्राही होते हैं। दान के चित्त, वित्त और पात्र[5] तथा देश काल[6] सम्बद्ध तात्त्विक स्वरूप शास्त्रों में रह गए हैं और सर्वसाधारण ने दानमात्र को ही मोक्षप्रद मानकर अपना लिया है। भगवान् बुद्ध और महायानी करुणा-निरूपण के साथ भी यही घटित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

---

१. अशोक के धर्म-लेख, द्वितीय शिलालेख पृ० १२१

२. अशोक के धर्म-लेख, चतुर्थ शिलालेख पृ० १४८

३. अशोक के धर्म-लेख, अष्टम शिलालेख पृ० १९७

४. अशोक के धर्म-लेख, सप्तम स्तम्भलेख (दिल्ली-टोपरा) पृ० ३७४-७६

५. दुलहाओ मुहादायी, मुहाजीवी वि दुल्लहा।

—दसवैकालिकसूत्र अ० ५ गा० १००

६. देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।

—गीता अ० १७ श्लोक २०

महायान और लोक-संग्राहकता पर लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तो निवृत्ति-प्रधान बौद्ध धर्म से महायान जैसा प्रवृत्ति लक्षण सिद्धान्त आविर्भूत हो सकता है, यह मानने को भी प्रस्तुत नहीं हैं। उनका कहना है—इस तत्त्व का विस्तृत प्रतिपादन गीता के अतिरिक्त कहीं भी नहीं किया गया है कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष लोक-संग्रह के लिए प्रवृत्ति-धर्म ही को स्वीकार करे। अतएव यह अनुमान करना पड़ता है कि जिस प्रकार मूल बौद्ध धर्म में वासना को क्षय करने का निरा निवृत्ति-प्रधान मार्ग उपनिषदों से लिया गया है, उसी प्रकार जब महायान पंथ निकला, तब उसमें प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-तत्त्व भी भगवद्गीता से ही ले लिया गया होगा।[1]

अगले संदर्भ में वे लिखते हैं—नीचे लिखी हुई चार बातों से इतना तो निःसन्देह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धधर्म में महायान पंथ का प्रादुर्भाव होने से पहले केवल भागवत धर्म ही प्रचलित न था, बल्कि उस समय भगवद्गीता भी सर्वमान्य हो चुकी थी और इसी गीता के आधार पर महायान पंथ निकला है। वे चार बातें इस प्रकार हैं—

१. केवल अनात्मवादी तथा संन्यास-प्रधान मूल बौद्धधर्म ही से आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति पर भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों का निकलना सम्भव नहीं है।

२. महायान पंथ की उत्पत्ति के विषय में स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों ने श्रीकृष्ण के नाम का स्पष्टतया निर्देश किया है।

३. गीता के भक्ति-प्रधान तथा प्रवृत्ति-प्रधान तत्त्वों की महायान पंथों के मतों से अर्थतः तथा शब्दतः समानता है।

४. बौद्ध धर्म के साथ तात्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पंथों में प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति-मार्ग का प्रचार न था।[2]

अन्यान्य इतिहासकारों का भी अभिमत है कि भगवान् बुद्ध के मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाला तो हीनयान सम्प्रदाय ही है। महायान तो बौद्ध धर्म में भक्तिमार्ग तथा गीतादर्श से विकसित लोक-संग्राहक भावना को [illegible] व विस्तृत करने वाला सम्प्रदाय है। कुछ भी हो, [illegible] अहिंसा (करुणा) को व्यापक करने में बहुत [illegible] है, यह तो निर्विवाद है ही।

---

१. गीता रहस्य पृ० ५११

२. गीता रहस्य पृ० ५१३

गीता की लोक-संग्राहक दृष्टि

भक्तिवाद की भूमिका में मौलिक अन्तर

गीता प्रायः समस्त वैदिक परम्पराओं का एक मान्य ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि अनेकों साधना-भेदों को मान्यता दी गई है। वैसे वे भेद-प्रभेद किंचित् स्वरूपान्तर से सभी भारतीय धर्मों में विद्यमान हैं। ज्ञान, निवृत्ति, संन्यास, जैनों और बौद्धों में उत्कृष्ट स्थिति से विकसित हुए हैं, यह सर्व विदित है। भक्ति-मार्ग का विकास ईश्वर कर्तृत्ववादी सम्प्रदायों में विशेष रूप से हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। सर्वार्पण और सर्वोत्सर्जन किसी दूसरे के प्रति तभी पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं, जबकि किसी सत्ता विशेष के प्रति कर्ता-धर्ता होने की निष्ठा रोम-रोम में धंस गई हो। वही सब कुछ मेरा करेगा, यह विश्वास अटल हो गया हो। जैनों और बौद्धों में कर्तृत्ववाद नहीं है, फिर भी भक्तिवाद के लिए समुचित स्थान है। वहां साधक प्रतिदिन कहता है—"अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू शरणं पवज्जामि, केवली पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि[1] अर्थात् मैं अरिहन्त, सिद्ध, साधु व केवली-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हूं.।" "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि[2]—मैं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हूं, संघ की शरण जाता हूं।" यह जैनों और बौद्धों की भक्ति का निदर्शन है। यहां साधक यह मानकर चलता है कि भगवान् को मैं अपनी आत्म-परिणति से अपने लिए प्रेरक बना रहा हूं, पर मेरी इस भक्ति से तुष्ट होकर भगवान् मेरे लिए कुछ भी करने नहीं आएंगे। भक्ति की भूमिका का यह श्रमण और वैदिक धाराओं में मौलिक अन्तर है। वैदिक परम्पराओं में अनेकों भक्तों के भगवत्-साक्षात्कार होने की चर्चाएं हैं, पर जैन व बौद्ध परम्पराओं में ऐसी सम्भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

अनासक्ति के नाम पर भोगवाद का आलम्बन

कर्मयोग की देन गीता की अपनी निराली है। गीता के कर्मयोग का व्यापक होना इसलिए भी सहज था कि वह लोक-रुचि के अनुकूल पड़ता है। मोक्षार्थी मनुष्य यह क्यों नहीं चाहेगा कि उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग न करना पड़े और केवल अनासक्ति की शर्त पर ही उसे वह मिल जाए। अनासक्ति की शर्त भी सीधी बात तो नहीं है और समस्त दैहिक कर्म करते हुए व्यक्ति सर्वथा

---

१. आवश्यक सूत्र, मंगल पाठ

२. भगवान् बुद्ध पृ० १७७

अनासक्त रह सके, यह बुद्धिगम्य भी कहां तक है, यह एक विचारणीय विषय है। राजर्षि जनक का नाम लेकर आज लोक-प्रवाह कर्मयोग की दिशा में चल पड़ा है, पर उस प्रवाह में कितने लोग होंगे जो दाएं हाथ पर चन्दन और बाएं हाथ पर अग्नि का स्पर्श होने पर भी दोनों की समानानुभूति करते हों; जैसा कि जनक ने अपने विषय में कहा था। भले ही कुछ लोग अपने जीवन-व्यवहार में अनासक्ति का विशिष्ट परिचय दे रहे हों, सामान्यतः तो यह अनासक्तिवाद अधिक लोगों के लिए भोगवाद पर चलते रहने का एक आलम्बन बन गया है। जनतन्त्र के युग में एक पद पर दसों लोग भूखे भेड़िये की तरह झपटते हैं, यह है आज का निष्काम कर्मयोग। व्याख्याएं कितनी ही सुन्दर हों, सिद्धान्त की कसौटी तो उसका व्यवहार है।

गीता प्रवृत्तिमार्गी ग्रन्थ या निवृत्तिमार्गी ?

गीता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति को प्रधानता देने वाला ग्रन्थ है, यह भी निर्विवाद विषय नहीं है। वेदान्त के अनेकानेक आचार्यों ने इस पर निवृत्ति-प्रधान भाष्य लिखे हैं। शंकराचार्य ने भी गीता-दर्शन को इसी दृष्टि से देखा है। उनका कहना है—इस गीता-शास्त्र का प्रयोजन संक्षेपतः परम निःश्रेयस् की प्राप्ति ही है। परम निःश्रेयस् का तात्पर्य उनके शब्दों में सहेतुक संसार की आत्यन्तिक शान्ति ही है।[1] परम निःश्रेयस् की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि वह सर्वकर्म-संन्यास-पूर्वक आत्म-ज्ञान-निष्ठारूप धर्म से ही सम्भव है।[2]

सारांश यह है, आचार्य शंकर के मतानुसार गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है। गीतारहस्य में भी लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी प्रभृति आधुनिक विचारकों ने गीता को कर्मयोग-प्रधान ग्रन्थ माना है और इसीका व्यापक विवेचन उन्होंने अपने साहित्य में किया है। वस्तुस्थिति यह है, गीता ने कर्म और ज्ञान इन दोनों ही विषयों पर अधिक बल दिया है। कर्म-प्रेरणा के प्रसंग में अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं—कर्म में ही तेरा अधिकार है,[3] इसलिए योगस्थ होकर तू कर्म कर।[4] कर्मों के अनारम्भ से ही मनुष्य नैष्कर्म्य का अनुभव नहीं कर सकता और न केवल

---

१. अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परम निःश्रेयसम् सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। —गीता भाष्य का उपोद्घात

२. तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति। —गीता भाष्य का उपोद्घात

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते—गीता-२. ४७

४. योगस्थः कुरु कर्माणि—गीता-२. ४८

संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[1] विना कर्म किए कोई क्षण-भर भी नहीं रह सकता।[2] इसलिए तू निश्चय ही कर्म कर।[3] विना कर्म किए तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चलेगी।[4] इसलिए तू राग-रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर, क्योंकि यज्ञार्थ कर्म से व्यतिरिक्त कर्म इस लोक में बन्धन का कारण है[5]। अतः अनासक्त होकर तू सतत करणीय कर्म को कर।[6] देख, जनकादि ऋषियों ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की, अतः लोक-संग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना चाहिए।[7] लोक-संग्रह की दृष्टि से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए।[8] ज्ञान पूर्वक पूर्व काल में मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया है, इसलिए पूर्वजों का अनुसरण करता हुआ तू कर्म कर।[9] करणीय कर्म

---

१. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

—गीता-३.४

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

—गीता-३.५

३. नियतं कुरु कर्मत्वं।

—गीता-३.८

४. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।

—गीता-३.७

५. यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय युक्तसङ्गः समाचर॥

—गीता-३.९

६. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

—गीता-३.१९

७. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयाः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

—गीता-३.२०

८. कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।

—गीता-३.२५

९. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

—गीता-४.१५

को जो आसक्ति छोड़कर करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोड़ने वाला।[1] इसलिए जिसे संन्यास कहा गया है, उसे तू योग समझ।[2] यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोड़ने योग्य नहीं हैं।[3] इन्हें तू आसक्ति और फल की कामना छोड़कर कर, यह मेरा निश्चित मत है।[4] कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है[5], और काम्य कर्मों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है।[6] इसलिए तू कर्म कर।

कर्म पर इतनी पुनरुक्तियों के साथ मुहुर्मुहु बल देने से ऐसा लगना बहुत सहज है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का ही ग्रन्थ है; ज्ञान-परायण निवृत्ति मार्ग का नहीं। किन्तु ज्यों ही हम उसकी निवृत्ति-परायण ज्ञान-मीमांसा की ओर दृष्टि-पात करेंगे तो दोनों पलड़े सम होते लगेंगे। वहां ज्ञान में सम्पूर्ण कर्म की परिसमाप्ति हो जाती है।[7] ज्ञानाग्नि से सब कर्म भस्मीभूत होते हैं।[8] वहां ज्ञान के सदृश पवित्र

१. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
   स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
   —गीता-६.१
२. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
   —गीता-६.२
३. यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
   —गीता-१८.५
४. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
   कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
   —गीता-१८.६
५. यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
   —गीता-१८.११
६. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
   —गीता-१८.२
७. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।
   —गीता-४.३३
८. क—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
   —गीता-४.३७
   ख—ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।
   —गीता-४.१९

कुछ नहीं है।[१] ज्ञानी स्वयं भगवान् हो जाता है।[२] ज्ञानरूपी नाव के द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से पार होता है।[३] ज्ञान के द्वारा ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।[४] इत्यादि अनेकानेक कथनों से गीतोक्त ज्ञान-मार्ग भी कर्म-मार्ग से हल्का नहीं रह जाता। कर्म और संन्यास में कर्मयोग ही विशेष है;[५] यह एक उक्ति कर्मयोग के पलड़े को अवश्य थोड़ा भारी कर देती है। शंकराचार्य का अभिमत है—कर्मयोग के पक्ष में गीता का यह तो केवल श्लाघा वचन ही है अर्थात् वह केवल अर्थवादात्मक है। वास्तव में तो संन्यास-मार्ग ही श्रेष्ठ है।[६] रामानुज भाष्य में भी इस कथन को केवल अर्थवादात्मक माना है।[७] कुछ एक तटस्थ विद्वानों का भी अभिमत है कि गीता का चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कहीं ज्ञान अक्रियावादी न हो जाए। इस प्रकार गीता का साध्य तो परम निःश्रेयसरूप ज्ञान ही मानना पड़ेगा और उसका साधन कर्म; तभी गीता को उपनिषदों का सार[८] कहा जा सकता है।

ज्ञान और कर्म की इस प्राचीन चर्चा को विस्तृत करना यहां आवश्यक नहीं है। गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है या कर्मयोग का, यह विषय भी विवादास्पद है; पर इतना तो निर्विवाद है ही कि गीता ने लोक-संग्राहक प्रवृत्ति पर अधिक-से-अधिक वल दिया है और भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र को प्रभावित किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है, महायान धर्म की अपेक्षा भी धर्म के क्षेत्र में लौकिक प्रवृत्तियों को स्थान देने में गीता का स्थान उससे भी अधिक रहा है।

---

१. नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—गीता-४.३८

२. ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

—गीता-७.१८

३. सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।

—गीता-४.३६

४. ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

—गीता-४.३९

५. तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।

—गीता-५.२

६. गीता, शांकर भाष्य ५.२

७. गीता, रामानुज भाष्य ५.१

८. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

ईसाई धर्म का प्रभाव

विगत दो सहस्राब्दियों में ईसाई धर्म भी वर्तमान विश्व के कोने-कोने तक फैला है। बाइबिल में भी शरीर-सेवा अर्थात् देह-दया पर अधिक-से-अधिक बल दिया गया है। कुछ एक पाश्चात्य विद्वानों का यह भी अभिमत रहा है कि लोक-सेवा का सिद्धान्त बाइबिल से गीता में आया है।[1] यह यथार्थ न भी हो तो भी देह-दया और शरीर-सेवा के विचारों का प्रभाव भारतीय जन-मानस पर तो अवश्य किसी-न-किसी रूप में पड़ा ही है।

भारतीय अध्यात्म में निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति ने किस प्रकार स्थान लिया, इस तथ्य की प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी इस प्रकार समीक्षा करते हैं—"बुद्ध ने कहा—ब्रह्म सारे जगत में है। हमारे जीवन में जो समानता है, वही ब्रह्म है और इसी ब्रह्म के अनुसार जीवन बनाने को उन्होंने ब्रह्म-विहार का नाम दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग—प्रवर्तक रूप निकला। प्राणीमात्र से प्रेम करना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना हमारा कर्तव्य है; इस विचार से अहिंसा के प्रवर्तक-मार्ग का बीजारोपण हुआ। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास थोड़ा और देर से हुआ। अशोक के राज्यकाल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ-साथ प्रवर्तक कार्यों पर भी बल दिया गया। हिंसा-निवृत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया कि हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है।......इसमें शक नहीं कि हमारे देश में दानशालाएं, पिंजरापोल आदि बड़ी संख्या में खुले, फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।"[2]

प्रसंगान्तर से वे कहते हैं—"जैन-परम्परा ने प्रवृत्तिलक्षी धर्म की अपेक्षा निवृत्तिलक्षी धर्म पर ही अधिक भार दिया है। इसलिए वह बौद्ध स्थविर-मार्ग की भांति वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा में ही रस लेती रही है। जब बौद्ध परम्परा में से कुछ वैयक्तिक मोक्ष की चर्चा से असंतोष उत्पन्न किया, तब उसमें से महायानी पंथ फूट निकला। इसने सर्वसंग्राही—सर्वकल्याणकारी दृष्टि का विकास एवं स्थापन यहां तक किया कि जब तक एक भी प्राणी बद्ध हो, तब तक वैयक्तिक

1. गीता रहस्य पृ० ६१३-१४
2. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७-८

मोक्ष शुष्क एवं रस-विहीन है। गीता और महायान दोनों अपने-अपने ढंग से लोक-संग्राही कर्म मार्ग का ही निरूपण करते हैं।"[1] यह हुआ अहिंसा के विभिन्न युगों में प्रचलित विभिन्न स्वरूपों का एक ऐतिहासिक अवलोकन। इससे पूर्व कि हम विवृत्त स्वरूपों की यथार्थता का विवेचन करें, यह आवश्यक होगा कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात् इन अढ़ाई हजार वर्षों में जैन-अहिंसा में क्या-क्या रूपान्तर आए, इस विषय पर एक झांकी डालें।

अहिंसा के अपवाद और पुण्य-मान्यताएं

अहिंसा-विभक्ति के दो कारण

वीर-निर्वाण से लेकर विगत दो सहस्र वर्षों में भारतीय जन-मानस को प्रभावित करने वाली नाना स्थितियां आईं। हम यह निःसंकोच मान सकते हैं, भगवान् श्री महावीर का युग अहिंसा-विकास का सर्वोच्च शिखर था। वैदिकों का उपनिषद्-चिन्तन और बौद्धों का अहिंसा-विचार भी भगवान् श्री महावीर के मन्तव्यों को बहुत प्रकार से बल दे रहे थे। कहा जा सकता है, इस समय अहिंसा आचार और विचार में अपने उत्कर्ष पर थी। अहिंसा की व्याख्याएं अधिक-से-अधिक निरपवाद थीं। क्रमशः उन व्याख्याओं में शैथिल्य का संचार हुआ। यह स्वाभाविक ही होता है कि हिमालय के उत्तुंग शिखरों से चला जल-प्रवाह उच्चावच उपत्यकाओं और अपत्यकाओं को पार कर जब नाना पदार्थ-पूरित समतल भूमि पर बहता है तो क्रमशः दूषित होता ही है। उस युग की अखण्ड अहिंसा विशेषकर दो ही कारणों से विभक्त होती गई। प्रथम कारण था, अपवाद-संयोजन और दूसरा कारण था, प्रवृत्ति-प्रधान और लौकिक एषणा-प्रधान विचारों को आध्यात्मिक रूप मिलना।

वैदिक परम्परा में अपवाद-संयोजन

वैदिक परम्परा में तो अपवाद बाहुल्य चिरपोषित था ही। एक ओर अहिंसा का निदर्शन था—अहिंसा ही परम धर्म है।[2] इस जगत में ऐसे सूक्ष्म जन्तु हैं, जिनका अस्तित्व नेत्रगम्य नहीं, केवल तर्कगम्य है। पलकों के निपात मात्र में न

---

१. अध्यात्म विचारणा पृ० १३१-३२

२. अहिंसा परमो धर्मः।

—महाभारत अ० ११. १३

जाने से कितने जीवों का नाश हो जाता है।[1] शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, शीत और उष्ण में, सुख और दुःख में जो सम है, जो अनासक्त है वह मेरा प्रिय है।[2] दूसरी ओर कहा गया—सदैव क्रोध करना श्रेयस्कर नहीं होता और सदैव क्षमा करना भी। पंडितजनों ने क्षमा के नाना अपवाद माने हैं।[3] आततायी होकर जो मनुष्य सामने आ रहा है, उसे तत्काल मार देना चाहिए; इस बात का विचार न किए बिना कि वह गुरु है, वृद्ध है, बालक है या बहुश्रुत ब्राह्मण।[4] वैदिक परम्परा में यही स्थिति सत्य, अचौर्य आदि आदर्शों की रही है। एक ओर कहा गया—सारी सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ऋत और सत्य पैदा हुए और सत्य ही से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि पंच महाभूत स्थिर हैं।[5] सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।[6] जो लोग इस संसार में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या विनोद में भी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्गगामी होते हैं।[7] दूसरी ओर मनुस्मृति

---

१. सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥

—महाभारत शान्तिपर्व १५. २६

२. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

—गीता—१२. १८

३. न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता ॥

—महाभारत वनपर्व २८. ६, ८

४. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

—मनुस्मृति ८. ३५०

५. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
सत्येनोत्तभिता भूमिः ।

—ऋ० १०. ८५. १

६. नास्ति सत्यात्परो धर्मः ।

—महाभारत शान्तिपर्व १६२. २४

७. आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

—महाभारत अनुशासनपर्व १४४. १६

और महाभारत जैसे ग्रन्थों में बताया गया—हंसी में स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब अपने जीवन पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए इन प्रसंगों पर असत्य बोलने में पाप नहीं होता।[1] एक ओर कहा गया—धर्माचरण भी छद्म-पूर्वक नहीं करना चाहिए।[2] दूसरी ओर कहा—बधिक आकर पूछे बध्य कहां है और तुम जानते हो तो तुम्हें वहां गूंगा बन जाना चाहिए। हूं हां करके बात टाल देनी चाहिए।[3] इससे भी काम न चले तो झूठ बोल देना चाहिए।[4] विश्वामित्र मुनि ने दुर्भिक्ष में क्षुधातुर होकर श्वपच के घर से कुत्ते का मांस चुराया और अपनी प्राण-रक्षा में प्रवृत्त हुए। श्वपच ने जब उन्हें शास्त्र-बोध देना प्रारम्भ किया तो वे कहने लगे—चुप रह, मरने से तो जीना श्रेयस्कर ही है। जीवित रहकर तो व्यक्ति और भी धर्माचरण कर सकता है।[5] इस प्रकार वैदिक परम्परा में और भी अनेकों आदर्श अपवाद-संयोजन से निर्बल और निष्प्राण हुए हैं।

जैन परम्परा में अपवाद-संयोजन

अहिंसा के विषय में सर्वाधिक कठोर रुख अपनाने वाली जैन परम्परा में भी देश, काल और परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाते-बिठाते उसका अहिंसा का विचार कहां से कहां तक पहुंच गया। भगवान् श्री महावीर का सन्देश प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री रखना था।[6] उसमें सज्जन या दुर्जन का कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। व्यक्ति और समूह का ऐहिक या पारत्रिक हित हिंसा-साध्य नहीं हो सकता। लेकिन काल-क्रम के साथ साधु-संघ के आचार विषयक नियमों

---

१. न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥
—महाभारत अ० ८२. १६ और शान्तिपर्व १०६ तथा मनु० ८. ११०

२. न व्याजेन चरेद्धर्मं।
—महाभारत अ० २१५-३४

३. जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।

४. अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
—महाभारत शान्तिपर्व १०६. १६

५. जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन्धर्ममवाप्नुयात्।
—महाभारत शान्तिपर्व १४१

६. मेत्तिं भएसु कप्पए।

को लेकर, धर्म-प्रभावना को लेकर या धर्म और धर्म-संघ के संरक्षण को लेकर सूक्ष्म और स्थूल हिंसाएं भी अहिंसा की कोटि में आ गई। फलाहार हिंसापरक होने के कारण जैन मुमुक्षु के लिए वर्जित है। असंस्कारित आम्रफल का भक्षण करने वाला मुमुक्षु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त पाता है,[1] यह शास्त्रीय विधान है। आगे चलकर उसके साथ यह अपवाद जुड़ जाता है—रोगापनयन के लिए व क्षुधा-शान्ति के लिए साधु सचित्त आम्रफल का भक्षण भी करे तो अहिंसा का ही आचरण करता है, हिंसा का नहीं।[2] सचित्त वृक्ष पर चढ़ना साधु के लिए वर्जित है।[3] पर आगे चलकर ग्लान की औषधि के लिए, मार्ग में क्षुधा-निवर्तक फलों के लिए, जल-प्रवाह से बचने के लिए, चोर, राजा, सिंह, हाथी आदि के भय से बचने के लिए वृक्ष पर चढ़ना निर्दोष मान लिया जाता है।[4]

आधाकर्म दूषित आहार व मांस

एषणा समिति भी आपवादिक स्थितियों में यहां तक मुक्त कर दी गई कि

---

१. जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ, भुंजंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १५ सू० ५

२. बितियपदमणप्पज्झे, भुंजे अविकोविए व अप्पज्झे।
जाणंते वा वि पुणो, गिलाण अद्धाण ओमे वा॥
खित्तादिगो अणप्पज्झो वा भुंजति, सेहो अविकोवियत्तणओ अजाणंतो, रोगोवसमणिमित्तं वेज्जुवदेसितो गिलाणो वा भुंजे, अद्धाणोमेसु वा असंथरंता भुंजंता विसुद्धा॥

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १५ गाथा ४६६५

३. जे भिक्खू सचित्तरुक्खं दुरुहइ, दुरुहंतं वा सातिज्जति।

—निशीथसूत्र उद्देशक १२ सूत्र ६

४. बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णद्धाण ओम उदए य।
उवही सरीर तेणग, सावय-एए उद्दुमादीसु॥
खित्तादिया अणप्पज्झ दुरुहेज्ज, गेलण्णे ओसधट्ठा, अद्धाणोमे असंथरंता फलट्ठा, उदगपूरे आयरक्खणट्ठा, उवधिसरीरतेणगेसु रायबोधिगादिभएसु वा दुरुहिउं णिलुक्कंति, सीहादिसावयाए उद्दुमि वा दधाय आवतंते आयर-क्खणट्ठा दुरुहेति। तत्थ पुव्वं परित्ते, ततो परित्तमीसे, ततो अणंतमीसे, ततो परित्तसचित्ते, ततो अणंतसचित्ते, एवं कारणा जयणाए ण दोसा।

—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णिका उद्देशक १२ गाथा ४०४१

जहां के लोगों को यह पता हो कि 'जैन श्रमण मांस नहीं लेते', वहां आधाकर्म दूषित (साधु के लिए बनाया गया) आहार लेने में कम दोष है और मांस लेने में अधिक दोष है, क्योंकि परिचित जनों के यहां से मांस लेने पर निन्दा होती है। किन्तु जहां के लोगों को यह ज्ञात नहीं कि जैन श्रमण मांस नहीं खाते, वहां मांस का ग्रहण करना अच्छा है और आधाकर्म दूषित आहार लेना अधिक दोषावह है। क्योंकि आधाकर्मिक आहार लेने में जीव-घात है। अतएव ऐसे प्रसंग में सर्वप्रथम द्वीन्द्रिय जीवों का मांस ले, उसके अभाव में क्रमशः त्रीन्द्रिय आदि का। इस विषय में स्वीकृत साधु-वेष में ही लेना या वेष बदलकर; इसकी भी चर्चा है।[1] इस चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है, अहिंसा के संस्कार बद्धमूल होने के कारण आपवादिक स्थिति में भी अनुद्दिष्ट अर्थात् सहज रूप से उपलब्ध निर्जीव मांस को ग्रहण करके भी उद्दिष्ट हिंसा-जन्य आधाकर्मी आहार ग्रहण से बचने के लिए कहा गया है, पर इससे अहिंसा के प्रति होने वाले क्रमिक शैथिल्य का ही आभास मिलता है। दो अवांछनीय प्रवृत्तियों में से प्रथम एक को अपनाया गया और फिर दूसरी को भी। रोगादि विशेष स्थितियों में आधाकर्मी आहार ग्रहण करने के भी विधि-विधान देखे जाते हैं।[2]

हंस तेल की भी ग्राह्यता

लगता है मुमुक्षु लोग आत्मधर्मी न रहकर शरीरधर्मी हो गये थे। रोगावस्था में चोरी से या मन्त्र-प्रयोग से अपेक्षित औषधि प्राप्त करना उचित मानने लगे थे।[3] औषधि में हंस तेल जैसी वस्तु लेना भी अनुचित नहीं माना गया।[4] चूर्णि-

---

१. जत्थ णज्जंति जहा—'एते समणा मंसं ण खायंति' तत्थ सलिंगेण पिसिते घेप्पमाणे उड्डाहो भवति, अतो वरं अहोकम्मं ण पिसियं तु।...जत्थ पुणो ण णज्जंति तत्थ वरं पिसितं,...एवं पिसियग्गहणे दिट्ठं पुव्वं वेइंदियपिसितं घेतव्वं, तस्सासति तेइंदियाण, एवं असतीते—जाव पंचेंदियाण पिसितं ताव णेयव्वं।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४३७-३८

२. सद्धर्ममण्डन पृ० ४८८

३. एमेव गिहत्थेसु वि, भद्दगमादीसुपढमतो गिण्हे।
अभियोगासति ताले, ओसोवण अंतधाणादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४७

४. एमेव य ओमंमि वि रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अगतोसहादिदव्वं कल्लाणग-हंसतेल्लादी॥

—निशीथ भाष्य गाथा ३४८

कार ने हंस तेल बनाने की विधि का उल्लेख किया है—हंस को चीरकर, मल-मूत्रादि निकालकर, उस प्रकार के पदार्थों से भरकर उसकी सिलाई कर दी जाती है। फिर उसे पकाकर जो तेल तैयार किया जाता है, वह हंस तेल होता है।[1] भले ही साधु ऐसी पाक-क्रिया स्वयं न करते हों, पर रोग-मुक्ति के लिए वैद्य आदि प्रकरणों से भी उस प्रकार से निर्मित औषधि को प्राप्त करना [illegible] देह-ममता का सूचक है। उस प्रकार की अनन्तानुबन्धी जैसी ममता में क्या सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र टिक सकते हैं?

विरोधी को अप्रत्यक्ष मृत्यु दण्ड

[illegible] की [illegible] में [illegible] नाना ज्वलन्त [illegible] को [illegible] अहिंसा [illegible] उसके भी ज्वलन्त उदाहरण [illegible] साहित्य में मिलते हैं। [illegible] के लिए अर्थात् साधु-संघ या [illegible] की रक्षा के लिए, किसी व्यक्ति का पुतला बनाकर, उसे अभिमंत्रित कर यदि [illegible] किया जाए, तो वह हिंसा हिंसा नहीं है।[2] वह मन्त्रवाद का युग था। यह माना जाता था, इस प्रकार से अभिमंत्रित पुतले पर प्रहार करने से शत्रु पर प्रहार होता है और इस प्रकार वह अप्रत्यक्ष रूप से ही मारा जा सकता है।

कोई प्रत्यनीक, [illegible] किसी आचार्य, संघ आदि का वध करना चाहता है, किसी साध्वी का अपहरण करना चाहता है या चैत्य आदि की सम्पत्ति को लूटना चाहता है, ऐसे [illegible] साधु स्वयं वध भी

---

1. [illegible] ताहे सो हंसो [illegible] तेण तद्दव्येण तेल्लं [illegible] हंसतेल्लं [illegible] संथवणं [illegible]

—[illegible] गाथा ३८[illegible]

2. [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible]

—[illegible] १६३

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नहीं है।[1]

कोंकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहों की हिंसा

एक बार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु-संघ को भीषण जंगल में प्रवास करना पड़ा। संघ में एक कोंकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को संघ की रक्षा का भार उसे सौंपा गया। उसने आचार्य से पूछा, हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए या कष्ट पहुंचा करके भी? आचार्य ने कहा, यथासम्भव बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए, पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात में उस कोंकण देशीय साधु को तीन सिंह मार ही देने पड़े। प्रातः उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

---

१. आयरियं कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति, सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं पि कुज्जा। एवं गच्छघाए वि। बोहिगतेणे यत्ति जे मेच्छा, माणुसाणि हरंति ते बोहिगतेणा भण्णंति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। च सद्दातो कोति संजति दला घेत्तुमिच्छति, चेति-याण वा चेतियदव्वस्स वा विणासं करेइ। एवं ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं णित्थारणं कायव्वं एवं करेंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८९

२. एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ संज्झकालसमये वहुसावयं अडविं पवण्णो। तंमि य गच्छे एगो दढसंघयणी कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं—कहं अज्जो! जं एत्थ दुट्ठसावयं किं वि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोंकणगसाहूणा भणियं—कहं? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं? गुरुणा भणियं—'जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो'। ततो तेण कोंकणगेण लवियं 'सुवय वीसत्था, अहं भे रक्खिस्सासि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं। तेण हडि त्ति जंपियं ण गतो, ततो पच्छा उद्धाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परिता-विओ। पुणो आगतं पेच्छति, तेण चिंतियं ण सुट्ठु परितावियो, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता राती। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छंति सीहं

ब्राह्मणों का सामूहिक वध

एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा, सभी जैन साधु ब्राह्मणों के चरणों लगें। नहीं तो वे देश से निकल जाएं। सारा संघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सबको आह्वान किया—कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना बढ़ा सके तो बढ़ाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा में गया और राजा से बोला, आप सब ब्राह्मणों को एकत्रित कर लीजिए। हम उन्हें नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कणेर की लता को अभिमन्त्रित कर सब ब्राह्मणों का सर काट डाला। संघ-हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन में भाष्यकार और चूर्णिकारों का योग

भाष्य और चूर्णियों में इस प्रकार अहिंसा-धर्म सम्बन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपंथे मयं, पुणो अदूरे पेच्छंति वितियं, पुणो अदूरंते ततियं। जो सो दूरे सो पढमं सणियं आहओ, जो वि मज्झे सो वितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मतो। तेण कोंकणएण आलोइयमारियाणं, सुद्धो। एवं आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८९

१. एगेण रातिणा साधवो भणिता 'धिज्जाइयाण पादेसु पडह'। सो य अणुसट्टिमादीहि ण ट्ठाति। ताहे संघसमवातो कतो। कत्थ भणियं 'जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो तं सावज्जं वा असावज्जं वा पउंजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणियं—'अहं पउंजामि'। गतो संघो रातीणो समीवं, भणीओ य राया 'जेसि धिज्जाइयाणं अम्हेहिं पाएसु पाडियव्वं तेसिं समवातं देहि तेसि सयराहं अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स'। तेण रण्णा तहा कयं। संघो एगपासे ट्ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलयं गहेऊण अभिमंतेऊणं य तेसि धिज्जाइयाणं सुहासणत्थाणं तं कणवीरलयं चुडलयं व सुट्ठलिवंदणागारेण भमाडेती। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाणं सिराणि निवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाणं भणति 'भो दुरात्मन्! जति ण ट्ठासि तो एवं ते सबलवाहणं चुण्णेमि' सो राया भीतो संघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य। जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णतो। एवं पवयणत्थे पडिसेवंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

करे तो भी वह विशुद्ध ही है अर्थात् हिंसक नहीं है।[1]

कोंकण देशीय साधु द्वारा तीन सिंहों की हिंसा

एक वार एक आचार्य अपने श्रमण समुदाय के साथ विहार कर रहे थे। किसी दिन सारे साधु-संघ को भीषण जंगल में प्रवास करना पड़ा। संघ में एक कोंकण देश का साधु था। वह अत्यन्त बलशाली था। रात को संघ की रक्षा का भार उसे सौंपा गया। उसने आचार्य से पूछा, हिंस्र पशु का प्रतिकार बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए या कष्ट पहुंचा करके भी? आचार्य ने कहा, यथासम्भव बिना कष्ट पहुंचाए ही किया जाए, पर सम्भव न हो तो दूसरे प्रकार से भी। रात में उस कोंकण देशीय साधु को तीन सिंह मार ही देने पड़े। प्रातः उस हिंसा के प्रायश्चित्त की चर्चा चली और वह हिंसक साधु शुद्ध माना गया।[2]

---

१. आयरियं कोइ पडिणीयो विणासेउमिच्छति, सो जइ अण्णहा ण ट्ठाति तो से ववरोवणं पि कुज्जा। एवं गच्छघाए वि। वोहिगतेणे यत्ति जे मेच्छा, माणुसाणि हरंति ते वोहिगतेणा भण्णंति। एते आयरियस्स वा गच्छस्स वा वहाए उवट्ठिता। च सद्दातो कोति संजतिं वला घेत्तुमिच्छति, चेतियाण वा चेतियदव्वस्स वा विणासं करेइ। एवं ते सव्वे अणुसट्ठीए अट्ठायमाणा ववरोवेयव्वा। आयरियमादीणं णित्थारणं कायव्वं एवं करेंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णि पीठिका गाथा २८९

२. एगो आयरिओ बहुसिस्सपरिवारो उ संज्झकालसमये बहुसावयं अडविं पवण्णो। तंमि य गच्छे एगो दढसंघयणी कोंकणगसाहू अत्थि। गुरुणा य भणियं—कहं अज्जो! जं एत्थ दुट्ठसावयं किं वि गच्छं अभिभवति तं णिवारेयव्वं, ण उवेहा कायव्वा। ततो तेण कोंकणगसाहूणा भणियं–कहं? विराहितेहिं अविराहितेहिं णिवारेयव्वं? गुरुणा भणियं—'जइ सक्कइ तो अविराहितेहिं पच्छा विराहितेहिं वि ण दोसो'। ततो तेण कोंकणगेण लवियं 'सुवय वीसत्था; अहं भे रक्खिस्सामि'। तो साहवो सव्वे सुत्ता। सो एगागी जागरमाणो पासति सीहं आगच्छमाणं। तेण हडि त्ति जंपियं ण गतो, ततो पच्छा उद्धाइऊण सणियं लगुडेण आहतो, गओ परिताविओ। पुणो आगतं पेच्छति, तेण चिंतियं ण सुट्ठु परितावियो, तेण पुणो आगओ, पुणो गाढयरं आहतो। पुणो वि ततियवारा एवं चेव, णवरं सव्वायामेण आहतो, गता राती। खेमेण पच्चूसे गच्छंता पेच्छंति सीहं

ब्राह्मणों का सामूहिक वध

एक बार एक राजा ने जैन साधुओं से कहा, सभी जैन साधु ब्राह्मणों के चरणों लगें। नहीं तो वे देश से निकल जाएं। सारा संघ एकत्रित हुआ, आचार्य ने सबको आह्वान किया—कोई साधु किसी भी उपक्रम से शासन की प्रभावना बढ़ा सके तो बढ़ाए। एक साधु ने यह चुनौती झेली। वह राजसभा में गया और राजा से बोला, आप सब ब्राह्मणों को एकत्रित कर लीजिए। हम उन्हें नमस्कार करेंगे। राजा ने वैसा ही किया। साधु ने एक कणेर की लता को अभिमन्त्रित कर सब ब्राह्मणों का सर काट डाला। संघ-हितार्थ होने के कारण इस कार्य को भी विशुद्ध माना गया।[1]

अपवाद-संयोजन में भाष्यकार और चूर्णिकारों का योग

भाष्य और चूर्णियों में इस प्रकार अहिंसा-धर्म सम्बन्धी अनेकानेक अपवाद

अणुपंथे मयं, पुणो अदूरे पेच्छंति वितियं, पुणो अदूरंते ततियं। जो सो दूरे तो पढमं सणियं आहओ, जो वि मज्झे सो बितिओ, जो णियडे सो चरिमो गाढं आहतो मतो। तेण कोंकणएण आलोइयमारियाणं, सुद्धो। एवं आयरियादीकारणेसु वावादितो सुद्धो। गता पाणातिवायस्स दप्पिया कप्पिया पडिसेवणा। गतो पाणातिवातो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा २८९

1. एगेण रातिणा साधवो भणिता 'धिज्जाइयाण पादेसु पडह'। सो य अणुसट्ठिमादीहिं ण ट्ठाति। ताहे संघसमवातो कतो। कत्थ भणियं 'जस्स काति पवयणुब्भावणसत्ती अत्थि सो तं सावज्जं वा असावज्जं वा पउंजउ।' तत्थ एगेण साहुणा भणियं—'अहं पयुंजामि'। गतो संघो रातीणो समीवं, भणीओ य राया 'जेसिं धिज्जाइयाणं अम्हेहिं पाएसु पाडियव्वं तेसिं समवातं देहि तेसिं सयराहं अम्हे पायेसु पडामो, णो य एगेगस्स'। तेण रण्णा तहा कयं। संघो एगपासे ट्ठितो। सो य अतिसयसाहू कणवीरलयं गहेऊण अभिमंतेऊणं य तेसिं धिज्जाइयाणं सुहासणत्थाणं तं कणवीरलयं चुडलयं व चुडलिवंदणागारेण भमाडेती। तक्खणादेव तेसिं सव्वेसिं धिज्जातियाणं सिराणि णिवडियाणि। ततो साहू रुट्ठो रायाणं भणति 'भो दुरात्मन्! जति ण ट्ठासि तो एवं ते सबलवाहणं चुण्णेमि' सो राया भीतो संघस्स पाएसु पडितो उवसंतो य। जहा सोवि राया तत्थेव चुण्णतो। एवं पवयणट्ठे पडिसेवंतो विसुद्धो।

—निशीथसूत्र चूर्णिका पीठिका गाथा ४८७

मार्ग मिलते हैं। यह ठीक है, आगमों की अक्षरशः व्याख्या पर समग्र आचार-व्यवहार प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। व्याख्याओं, स्पष्टीकरणों एवं विवेचनों की अपेक्षा होती है, किन्तु उन सबका यह तात्पर्य नहीं होता कि हम मूल को छोड़कर कहां-के-कहां चले जाएं। यह स्पष्ट है कि भाष्यकारों व चूर्णिकारों ने इस अर्थ में बहुत ही स्वैराचार बरता है। कहां भगवान् महावीर की क्षमा, तितिक्षा व मैत्री-प्रधान जीवन-चर्या और कहां ये रोमांचित कर देने वाले हिंसापरक उदाहरण। संगम देव ने आकर भगवान् श्री महावीर को बीस[2] मारणान्तिक परिषह दिए। छद्मस्थावस्था में अनार्य और म्लेच्छ लोगों ने नाना यातनाएं दीं। गोशालक ने उनके देखते-देखते सर्वानुभूति और सुनक्षत्रमुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर डाला। स्वयं भगवान् श्री महावीर को तेजोलेश्या से परिक्लान्त किया।[1] क्या भगवान् महावीर ने कभी उन प्रत्यर्थियों की हिंसा के लिए भी किसी अपवाद मार्ग का विधान किया? चण्डकौशिक के मर्माघात और ग्राम्यजनों द्वारा किये गये कर्णगत-कीलिका-रोपण पर क्या भगवान् में एक क्षण के लिए भी प्रतिहिंसा जागृत हुई? कहां वह क्षमा और तितिक्षा-प्रधान जैन-संस्कृति जिसमें गजसुकुमाल, खंधक, मेतार्य प्रभृति मुनियों के शान्त व सौम्य आधार और कहां ये प्रतिशोध मूलक विधि-विधान? सच बात तो यदि है कि वह युग जैनधर्म के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बनकर रहा है। समय-समय पर होने वाले वैदिकों और बौद्धों के हिंसक आक्रमणों में, जैनधर्म विरोधी राजाओं के कठोर शासन में, प्रलम्बतर और भयंकर दुर्भिक्षों में, अरण्य-प्रधान और अनार्य-प्रधान देशों के पाद-विहारों में जैनधर्म और जैन श्रमण-संघ को बचाए रखना अवश्य एक दुष्कर अनुष्ठान था। लगता है, सम्प्रदाय-प्रतिस्पर्धा के उस वातावरण में ही इस प्रकार के विधि-विधानों का निर्माण हुआ है। आज की परिस्थितियों में उक्त विधि-विधान जितने अभद्र लगते हैं, उन परिस्थितियों में सम्भवतः वे वैसे न लगे हों। कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा, अहिंसा-सिद्धान्त के साथ यह न्याय नहीं हुआ है।

अब्रह्म-सेवन व प्रायश्चित्त विधान

छद्मस्थ मुनि परिस्थितिवश नाना दोषों का सेवन कर लेता है। भगवान् श्री महावीर ने मूल निशीथसूत्र में इसके लिए नाना प्रायश्चित्त बतलाए हैं। यदि यहां भी ऐसा ही माना गया होता तो अहिंसा-सिद्धान्त की निर्मम हत्या नहीं

---

१. कल्पसूत्र व्याख्या

२. भगवतीसूत्र शतक १५

में जैनाचार्यों को लोकैषणा और निर्वेषणा को जोड़ने के लिए पुण्यरूप कड़ी का आविष्कार करना पड़ा हो। जैन-शास्त्रों ने यह अवकाश नहीं रख छोड़ा था कि उन्हें शिरोधार्य करते हुए सामाजिक और व्यवहारिक क्रिया-कलापों को सीधे-सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैनतत्त्व-निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सह-भावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्यबन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती है, यह धारणा जैन-परम्परा में नहीं थी, परन्तु इस युग-प्रवाह के साथ संगत होने के लिए आगे चलकर आई। 'अणुकम्पादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं'[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कहीं निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है—अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग-प्रवर्तन-रूप भाव।[3] व्यवहारिक अनुकम्पा को आचार-संगत करने के विषय में मतभेदमूलक चर्चाएं भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा—दीन, अनाथ व्यक्ति असंयत हैं, इसलिए उन्हें दान देना दोष-पोषक होने से असंगत[4] है, अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नहीं है। उत्तरपक्ष का यह स्वर रहा—साधारणतया यह यथार्थ है कि असंयति-दान मोक्ष तथा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं बनता, किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभास्रव का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य-निष्पत्ति के कारण

इस पक्ष के विषय में यह निष्कर्ष पाया जा सकता है, यह तात्कालिक लोक-प्रवाह का अनुगमनमात्र ही था। जैन-आगम इस विषय में स्वयं स्पष्ट हैं। वहां पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते हैं, वे या तो पुण्य को निर्जरा का

1. तच्च धर्माविनाभावि। सम्यग्दृष्टेर्हि पुण्यबन्धः, सम्यक्त्वमिदं च मोक्षोपायभूत-त्वात् धर्मत्वं धर्मः, तस्मात् धर्माविनाभावि पुण्यम्, तद् धर्मं विना न भवति।
—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४
2. [illegible] द्वात्रिंशिका २७
3. सा चानुकम्पा द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्यतः अन्नादि दानेन, भावतः धर्ममार्ग-प्रवर्तनेन।
—धर्मरत्न प्रकरण
4. दीनाद्यसंयतदानस्य [illegible] दोषपोषकत्वादसंगतं [illegible]।
—पंचाशक ६

वादों के नाम पर अहिंसा को केवल कलेवर मात्र बना दिया। जब हम बड़े-बड़े अपवादों की चर्चा कर आए हैं तो साध्वाचार के सामान्य नियमों में अपवादों के नाम पर कितना शैथिल्य आया होगा, यह सहज ही कल्पना में आ सकता है। वहां भी अहिंसा कितनी जर्जरित हुई होगी, यह वर्णन का विषय नहीं रह जाता।

आचारांग सूत्र में भगवान् श्री महावीर कहते हैं—धर्म के लिए हिंसा करने में कोई दोष नहीं है, यह अनार्य-वचन है।[1] प्रतिमा के लिए पृथ्वीकाय की हिंसा करने वालों को उन्होंने मन्द बुद्धि कहा[2], तब धर्म प्रभावना के नाम पर होने वाले सूक्ष्म या स्थूल हिंसाजन्य कार्य भगवान् श्री महावीर की अहिंसा के अंग हो सकते हैं, यह सोचा ही नहीं जा सकता।

अहिंसा-विभक्ति का दूसरा कारण

पुण्य-मान्यता का हेतु

भगवान् श्री महावीर की अहिंसा उग्रतम निवृत्ति-प्रधान थी। उसमें केवल अपना और दूसरे का आत्महित-चिन्तन ही प्रमुख था। आत्मा के उन्नयन और आत्मा के ऊर्ध्व संचार की ही वहां चिन्ता थी और आत्मगत कषायादि क्लेशों से रहित होना और रहित करना ही मोक्ष था। लौकिक अभ्युदय पुण्य-प्रधान होने से धर्मानुगत था, पर धर्माचरण का उद्देश्य नहीं। भगवान् श्री महावीर के पश्चात् गीता का कर्मयोग और बौद्ध महायानों का सामुदायिक मोक्षवाद आदि ज्यों ही जोरों से फैले, जैन-परम्परा भी उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रहती? भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना और दुःखियों के दुःख को दूर करना यह एक ऐसा विचार था, जो सामाजिक अपेक्षाओं का भी मुख्य अंग था और जब इसे मोक्षाराधन का स्वरूप भी मिल गया तो उसका समाज के द्वारा व्यापक रूप से अपनाना सहज ही था। वह युग अध्यात्म चर्चा का था। विभिन्न धर्मों में व्यवस्थित शास्त्रार्थ हुआ करते थे। हरेक धर्म के लोग अपने को श्रेष्ठ और दूसरों को निकृष्ट बताते। बहुत सम्भव है, जैनधर्म को न्यून बतलाने का उसी युग में मोक्ष-चिन्ता और लोकैषणा का यह भेद ही प्रमुख उद्घोष बन गया हो। इसी विवशता

---

१. आचारांगसूत्र

२. प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम अध्ययन

में जैनाचार्यों को लोकैषणा और निर्वेषणा को जोड़ने के लिए पुण्यरूप कड़ी का आविष्कार करना पड़ा हो। जैन-शास्त्रों ने यह अवकाश नहीं रख छोड़ा था कि उन्हें शिरोधार्य करते हुए सामाजिक और व्यवहारिक क्रिया-कलापों को सीधे-सीधे धर्म का रूप दिया जा सके।

असंयति दान व अनुकम्पा दान

जैनतत्त्व-निरूपण के आधार पर पुण्य शुभयोगजन्य और निर्जरा का सहभावी है।[1] पुण्य और निर्जरा की क्रिया एक है। पुण्यबन्ध की कोई स्वतन्त्र क्रिया भी हो सकती है, यह धारणा जैन-परम्परा में नहीं थी, परन्तु उस युग-प्रवाह के साथ संगत होने के लिए आगे चलकर आई। 'अणुकम्पादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं'[2] अनुकम्पा दान का भगवान् ने कहीं निषेध नहीं किया। अनुकम्पा दो प्रकार की है—अन्नादि दानरूप द्रव्य और धर्म-मार्ग-प्रवर्तन-रूप भाव।[3] व्यवहारिक अनुकम्पा को धर्माचार-संगत करने के विषय में मतभेदमूलक चर्चाएं भी हुई हैं। पूर्व पक्ष ने कहा—दीन, अनाथ व्यक्ति असंयत हैं, इसलिए उन्हें दान देना दोष-पोषक होने से असंगत[4] है, अर्थात् धर्म पुण्य का हेतु नहीं है। उत्तरपक्ष का यह आशय रहा—साधारणतया यह यथार्थ है कि असंयति-दान मोक्ष तथा धर्म-पुण्य का हेतु नहीं बनता, किन्तु अनुकम्पा-दान इसका अपवाद है। यह शुभास्रव का हेतु होने से पुण्य-बन्ध का कारण है।

पुण्य-निष्पत्ति के कारण

उपर्युक्त पक्ष के विषय में जो निरूपण किया जा सकता है, वह सामाजिक और व्यवहार का अनुगमन मात्र ही था। जैन-आगम इस विषय में स्वयं स्पष्ट हैं। वहां पुण्य सम्बन्धी जितने उल्लेख मिलते हैं, वे या तो पुण्य को निर्जरा का

१. न च धर्माद्विनाभावि। सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्धः, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् स्वयं धर्मः, अतएव धर्माद्विनाभावि पुण्यम्, यद् धर्मं विना न भवति।
—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका चतुर्थ प्रकाश, सूत्र १४

२. [illegible]

३. सा चानुकम्पा द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्यतः अन्नादि दानेन, भावतः धर्ममार्गप्रवर्तनेन।
—धर्मसंग्रह प्रकरण

४. दीनादयस्त्वसंयतत्वात् [illegible] दोषपोषकत्वादसंगतं [illegible]।
—पंचाशक ६

सहभावी सिद्ध करते हैं या उसे सत्प्रवृत्तिजन्य। एक भी उल्लेख ऐसा नहीं मिलता, जहां निर्जरा की उद्भावक सत्प्रवृत्ति न हो और केवल पुण्य-निष्पन्न हुआ हो। अठारह पापों का सेवन न करने से कल्याणकारी कर्मों (पुण्य) का बन्ध होता है।[1] गुरु-वन्दन से नीच गोत्रकर्म का क्षय होता है और उच्च गोत्र-कर्म का बन्ध होता है।[2] धर्म-कथा से निर्जरा होती है, धर्म-प्रभावना होती है और उससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[3] आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधु तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म उपार्जन करता है।[4] प्राण-हिंसा न करने से, असत्य न बोलने से व शुद्ध साधु को दान करने से शुभ दीर्घ आयुष्य का बन्धन होता है।[5] बहुत सारे

---

१. कहण्णं भंते ! जीवाणं कल्लाण कम्मा कज्जंति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थाली पाप सुद्धं अट्ठारस वंजणा उलं ओसह मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ तओपच्छा परिणममाणे२ सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोह-विवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्सणं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाण कम्मा जाव कज्जंति।

—भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १०

२. वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गंच णं अपड़िहयं आणा फलं णिवत्तेइ दाहिणा भावं च णं जणयइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

३. धम्म कहाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? धम्म कहाएणं निज्जरं जणयइ। धम्म कहाएणं पवयणं पभावेइ ; पवयण पभावेण जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

४. वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वेयावच्चेणं तित्थयर णाम गोत्तं कम्मं निबंधइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९

५. कहणं भंते ! जीवा सुभ दीहाउयत्ताए कम्मं पकरंति ? गोयमा ! नो पाणे-अइवाएत्ता नो मुसं वइत्ता तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता जाव पज्जु-

प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को दुःख न देने से, शोक उत्पन्न न करने से, विलापात न कराने से, अश्रुपात न कराने से, तर्जन न करने से, परिताप न पहुंचाने से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।[1] उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, असंयति प्राणियों की अनुकम्पा के सम्बन्ध से जो पुण्य-बन्ध का विधान है; वह अनुकम्पा दुःख न देने रूप है। वहां केवल आत्म-संयमरूप शुभयोग की प्रवृत्ति है। जहां वन्दन, वैयावृत्य आदि प्रवृत्तियां हैं, उनका सम्बन्ध आचार्य आदि संयति आत्माओं से है।

अनुकम्पा दान व धर्म दान

दस प्रकार के दानों में एक अनुकम्पादान भी है।[2] पर उसमें धर्म या पुण्य होने का कोई उल्लेख शास्त्रों में नहीं है। यह दान की दसों संज्ञाओं से स्वतः प्रतिभासित होता है। वहां केवल दानमात्र के दस हेतुओं को बताया गया है। वेश्या आदि को दिया जाने वाला अधर्म दान और लज्जा दान, भय दान आदि भी उन दस भेदों में हैं। धर्म दान के तीन भेद किये गए हैं—अभय दान, बोधि दान, सुपात्र दान। इन दानों में पारमार्थिक दान केवल धर्म दान है, शेष लौकिक हैं। धर्म व पुण्य के हेतु नहीं हैं। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है—आहार पुण्य, पानी पुण्य, स्थान पुण्य, शय्या पुण्य, वस्त्र पुण्य, मनः पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।[3]

वासेत्ता अण्णयरेणं मणुण्णेणं पीइकारएणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिला-भित्ता एवं खलु जीवा जाव पकरेंति।

—भगवतीसूत्र शतक ५, उ० ६

1. पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए।

—भगवतीसूत्र शतक ७ उ० ६

2. अणुकंपा संगहे चेव भया कालुणिए इति।
लज्जाए गारवेणं च अहम्मेण पुण सत्तमे॥
धम्मे अट्ठमे वुत्ते काहिइ य कतंति य॥

—ठाणांग सूत्र ठा० १०

3. णव विहे पुण्णे पण्णत्ते तंजहा। अन्नपुण्णे पाणपुण्णे लेणपुण्णे सयणपुण्णे वत्थपुण्णे मणपुण्णे वइपुण्णे कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे।

—ठाणांग सूत्र ठा० ९

नौ प्रकार के पुण्यों की यह शब्द-संकलना स्वयं बोलती है, संयमी पात्र को दिया गया दान ही पुण्य-बन्ध का हेतु है। नहीं तो इस शब्द-संकलना में गौदान[1] पुण्य, अश्वदान पुण्य आदि अनेकों पुण्यों को स्थान दिया गया होता, किन्तु यह न होकर केवल संयति के द्वारा ग्राह्य होने वाले आहार, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों का उल्लेख किया गया है। भगवती सूत्र में असंयति दान को एकान्त[2] पाप का कारण तथा संयति दान को एकान्त निर्जरा[3] का हेतु बतलाया गया है।

कुछ भी हो, इन सारे शास्त्रीय विधानों की उपेक्षा करके भी प्रवृत्तिमूलक धारणाएं जैन-परम्परा में आगे बढ़ीं और आज भी वे अधिकांश जैन शाखाओं में मान्य हो रही हैं। जैन-परम्परा के इस इतिहास में उल्लेखनीय बात तो यह रही है कि वह परम अध्यात्ममूलक होने के कारण तथाप्रकार की लोकोपकारक प्रवृत्तियों को दो सहस्र वर्षों के प्रतिकूल प्रवाह में बहकर भी, विशुद्ध धर्म और विशुद्ध अध्यात्म के अन्तर्गत मानने के लिए तैयार नहीं हुई। पुण्य कहकर तो उसने उक्त प्रवृत्तियों को श्रेय की ओर जाने वाले पथिक के लिए स्वर्ण-शृंखलारूप बन्धन ही

---

१. साधू बिन जो अन्य प्रते, दीधां पुण्य जो होय।
तो गाय पुण्य किम नवि कह्यो, भैंस पुण्य पिण जोय॥
सुवरण पुण्य रूपो पुण्य, हीरो पुण्य उदार।
मोती ने माणिक पुण्य, खेति पुण्य विचार॥
इत्यादिक मुनिवर भणी, नहीं कल्पे जै बोल।
सूत्र विषे ते नवि कह्या, देखोजी दिल खोल॥
—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध दानाधिकार दुहा १५२ से ५४

२. समणोवासगस्सणं भंते! तहारूवं असंजयं अविरय-पड़िहयपच्चक्खायपावकम्मं फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण० जाव किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ।
—भगवतीसूत्र शतक ८ उ० ६

३. समणोवासगस्सणं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।
—भगवती सूत्र शतक ८ उ० ६

माना ।[1] यह किसी भी जन-धारा ने नहीं माना कि संसारस्थ प्राणियों का भौतिक साधन-प्रसाधनों से दैहिक दुःख-मोचन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेगा ।

जैनाचार्यों द्वारा लोक-प्रवाह को मोड़

लोक-प्रवाह के साथ जैन-परम्पराएं अवश्य चल पड़ीं, किन्तु समय-समय पर चिन्तनशील आचार्य अपने उद्‌गारों में तत्सम्बन्धी यथार्थ स्थिति को भी प्रकट करते रहे हैं । दिगम्बर आचार्य अमितगति कहते हैं—"जो असंयतात्मा को दान देकर पुण्यरूप फल की आकांक्षा करता है, वह जलती आग में बीज फेंककर धान पैदा करना चाहता है ।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—"यह असि, मसि, कृषि आदि व्यवस्था का प्रवर्तन सावद्य—सपाप है, फिर भी स्वामी ऋषभदेव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया ।"[3]

अभयदान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—मन से, वचन से और कर्म से जीव-हिंसा न करना, न कराना और न उसका अनुमोदन करना, जीवों के जीवन पर्याय का नाश न करना, उन्हें दुःख या संक्लेश न देना अभयदान है ।[4]

माता-पिता की सेवा के सम्बन्ध में कहा गया है—निश्चय नय की दृष्टि से माता-पिता आदि का विनय करने रूप सतताभ्यास में सम्यग् दर्शन आदि की

---

१. मुग्धा लोका रे ! वदति यताऽऽत्मनां, वदन्ते शुभकर्माणि ।
लोकनिगदितान्यपि जानीयाद्धतनिर्वृत्तिशर्माणि ॥
—शान्तसुधारस आस्रवभावना गाथा ७

२. विकीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम् ।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते सस्यमपास्तदूषणम् ॥
—अमितगति श्रावकाचार ११वां परिच्छेद

३. एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया ।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, १।२।६७१

४. अभयप्रदानं तु जीवानां यदवर्जनम् ।
मनोवाक्कायैः कृत-कारणानुमतैरपि ॥
प्राणवियोजनाद् दुःखोत्पादात् संक्लेशतस्तथा ।
स्यात् सर्वं सोऽभयदानं मुच्यते ॥
—धर्म संहिता १६७-१६८

आराधना नहीं होती, इसलिए वह धर्म का अनुष्ठान नहीं है। व्यवहार नय, स्थूल दृष्टि या लोक दृष्टि से वह युक्त है।[1]

लोंकाशाह द्वारा मोक्षाभिमुख अहिंसा पर बल

इस प्रकार समय-समय पर होने वाले स्फुट उद्‌गारों से वह लोकाभिमुख प्रवाह जरा भी रुका हो, ऐसा नहीं लगता; प्रत्युत प्रकाश की ये चिनगारियां क्षणिक आभास के साथ विलीन ही होती गईं। अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व और वीर निर्वाण के लगभग इक्कीस सौ वर्ष पश्चात् जैन-परम्परा में लोंकाशाह ने फिर से मोक्षाभिमुख अहिंसा और धर्म का उद्‌घोष उठाया। आगमिक आधारों पर उन्होंने स्पष्टरूप से कहा—साता देने से साता होती है, ऐसा कहने वाले आर्य मार्ग से पृथक् हैं, समाधि-मार्ग से दूर हैं, जिन-मार्ग की निन्दा करने वाले हैं, अमोक्ष के कारण हैं, तुच्छ सुखों के लिए बहुत सुखों को गमाने वाले हैं और भविष्य में लोह वणिक् की तरह पश्चाताप करने वाले होंगे।[2]

जिस क्रिया में किंचित् भी हिंसा नहीं है, वही ज्ञान का सार है।[3] इन्द्रिय-भोगों का धर्म बुरा होता है। जिस प्रकार तालपुट जहर खा लेने से, अविधि से शस्त्र-ग्रहण करने से, कुविधि से मन्त्र-जाप करने से मनुष्य मृत्यु-प्राप्त करता है; वैसे ही इन्द्रियज विषयों को धर्म कहने वाला जन्म और मृत्यु के परिभ्रमण को बढ़ाता है।[4]

---

१. निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्राहि विनयस्वभावे सतताभ्यासे सम्यक्-दर्शनाऽऽज्ञनाऽऽराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव।
—धर्म अधिकरण

२. कोई इम कहे साता दियां साता होय, तिण ऊपर भगवान छव बोल प्ररूप्या—
१. आर्य-मार्ग से वेगलो, २. समाधि-मार्ग से न्यारो, ३. जिन धर्म री हेलणा रो करणहार, ४. अमोक्ष रो कारण, ५. थोड़ा सुखां रे कारणे घणा सुखां रो हारणहार, ६. लोह वाणिया नी परे घणो झूरसी। सा० सू० सूयगडांग अ० ३ उद्देशो ४ गाथा ६।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल ४७वां

३. जिस करणी में किंचित मात्र हिंसा नहीं ते करणी ज्ञान री सार कही। सा० सू० प्र० सूयगडांग अध्ययन १ उ० ४ गाथा १०वीं।
—लोंकेजी की हुण्डी बोल २२वां

४. विषय सहित धर्म बुरो, जिम तालपुट जहर खायां, कुरीति से हाथ में शस्त्र लियां, कुविधि मन्त्र जपियां मरण पामें, तिम इन्द्रिय-विषय

उनहत्तर बोलों की लोंकाशाह की हुण्डी जिसमें हरएक बोल के साथ आगम-पाठ का प्रमाण दिया गया है, उनकी मान्यता का आधार बनती है। लोंकाशाह की मान्यता के आधार पर नूतन श्रमण-संघ गठित हुआ और अध्यात्मपरायण धारणाओं को सुस्थिर करने के लिए लोक-प्रवाह के सामने खड़ा रहा, किन्तु यह क्रान्ति चिरस्थायी नहीं हो सकी और अनुयायी शाखाएं उसी लोक-प्रवाह में जा पड़ी। यह विशेषता की बात है, लोंकाशाह तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके मत को अपने-अपने प्रकारों से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य मानते हैं।

अहिंसा-स्वरूप का विकास या विपर्यास ?

साहित्य में रागात्मक तत्त्वों का आविर्भाव

उपनिषदों, आगमों एवं त्रिपिटकों की निवृत्तिप्रधान और मोक्षाभिमुख लौकिक धारणाओं से होने वाला यह विपर्यास इतना स्पष्ट था कि उससे सभी क्षेत्र प्रभावित हुए। इसका प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही न रहकर साहित्य के क्षेत्र में भी आया और रागात्मक तत्त्वों के आविर्भाव से साहित्य-उपवन सरस समझा जाने लगा। हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में बताया गया है—इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-साहित्य में उस परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें वैयक्तिक साधना का लोककल्याणकारी वृत्तियों के साथ सुन्दर सामंजस्य हुआ। अभी तक हिन्दी का साहित्य अधिकांशतः प्रशस्तिगान तथा परम्परागत शास्त्र-रूढ़ियों पर ही आधारित था, परन्तु सन्त परम्परा के उद्भव से साहित्य में एक नये तथ्य व नये जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई।

धर्म के साथ ज्ञान का सामंजस्य करने के लिए वेदान्त का सहारा लिया गया।[1] लोकोत्तर प्रधान धर्म में लौकिक चिन्ता का उद्भव मानव-स्वभाव के किन रागात्मक हेतुओं से हुआ, इसका भी व्यवस्थित चिन्तन हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिलता है। "ज्ञान तथा योग के नीरस उपदेशात्मक कथन, शून्य में व्याप्त ब्रह्म की कल्पना तथा हठयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यद्यपि जनता की प्रवृत्तियों को लौकिक मार्ग से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में सर्वथा

सहित धर्म प्ररूपे ते घणा जन्म मरण वधावे। सा० सू० उत्तराध्ययन अ० १० गाथा ४४

—लोंकेजी की हुण्डी बोल ३६वां

1. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४३

असफल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं, असम्भव था। निर्गुण-साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका, क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्त्वों का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहां वह अपने मन का अवसाद उंडेल सके, जिसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामंजस्य हो सकता है, पर तादातम्य नहीं। निर्गुण पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियों को जो लौकिक जीवन में अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया, जिसके द्वारा भौतिक विषयों की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान् में लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरंजक रूप का अंकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र में

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप विपर्यय का अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की चहल-पहल में सहयोगी होकर यही विपर्यय विकास का खिताब पा गया। महात्मा गांधी विशेष रूप से श्रेयोभाग् बने। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का कहना है—गांधीजी पर कुछ लोगों का यह आक्षेप एक तरह से गलत नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग से विमुख कर संसार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज में अहिंसा उतने ही प्रमाण में टिक सकती है, जितने प्रमाण में प्रवर्तक धर्म अर्थात् समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवर्तक धर्म से समाज की बुराइयां दूर की जा सकती हैं, परन्तु उनमें अच्छाइयों की वृद्धि नहीं हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवर्तक धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

---

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया।...अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है।...गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहां चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गांधी ने कभी अहिंसा की कोटि में नहीं लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गांधी की दृष्टि से उसमें सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमें यहां इस चर्चा में नहीं उतरना है कि महात्मा गांधी ने कहीं हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नहीं। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही रहेगी।[5] अतः यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गांधी की दृष्टि में हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहां तक बैठ सकता है? कुछ भी हो उक्त विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान कर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रों में एक विकास के रूप में ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक बल मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार में समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ अपांगों के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढ़ने से सामाजिक जीवन सरल हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओं के साथ

१. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ९–१०

२. खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हुं अहिंसा मां कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।

—अहिंसा पृ० १३६

३. खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

—गांधीजी—खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

४. मंगल प्रभात पृ० ८१

५. अहिंसा पृ० २८–२९

असफल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के व
असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही
साधना की कठोरता में जनता को अपनी विष
सका, क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्त्वों
निर्गुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्
और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया
करना चाहती थी जहां वह अपने मन का अवर
सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अ
सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है।
सामंजस्य हो सकता है, पर तादातम्य नहीं।
राग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बना
सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियों को
के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और
किया, जिसके द्वारा भौतिक विषयों की भो
निष्कामरूप से भगवान् में लग गई। एक ओ
आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओ
का अंकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप वि
हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भ
नवनिर्माण की चहल-पहल में सहयोगी होक
गया। महात्मा गांधी विशेष रूप से श्रेयोभा
का कहना है—गांधीजी पर कुछ लोगों का
है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग
आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज
टिक सकती है, जितने प्रमाण में प्रवर्तक धर्म अर्थात्
निवर्तक धर्म से समाज की बुराइयां दूर की जा सकती
की वृद्धि नहीं हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या औ
धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन कि

---

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया।...अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है।...गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहां चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गांधी ने कभी अहिंसा की कोटि में नहीं लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गांधी की दृष्टि से उसमें सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमें यहां इस चर्चा में नहीं उतरना है कि महात्मा गांधी ने कहीं हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नहीं। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही रहेगी।[5] अतः यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गांधी की दृष्टि में हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहां तक बैठ सकता है? कुछ भी हो उक्त विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान धर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रों में एक विकास के रूप में ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार में समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ अपांगों के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढ़ने से सामाजिक जीवन सरस हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओं के साथ

---

1. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ९-१०
2. खेडूत जे अनिवार्य नाश करे छे तेने हुं अहिंसा मां कदी गणावेल नथी। ए वध अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।
—अहिंसा पृ० १३६
3. खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।
—गांधीजी-खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७
4. संयम प्रकाश पृ० ८१
5. अहिंसा पृ० ८०-८१

असफल नहीं रहे, पर जीवन के कठोर सत्यों के बीच उन अमूर्त और जीवन से असम्बद्ध सिद्धान्तों पर निर्भर रहना कठिन ही नहीं, असम्भव था। निर्गुण-साधना की कठोरता में जनता को अपनी विषमताओं का समाधान नहीं मिल सका, क्योंकि उसमें जीवन के आधारभूत तत्त्वों का निषेध अथवा अभाव था। निर्गुण पन्थी सन्तों ने भौतिक जीवन के नैराश्य का समाधान इन्द्रियों के दमन और कामनाओं के हनन में पाने का प्रयास किया, पर जनता तो ऐसा आश्रय प्राप्त करना चाहती थी जहां वह अपने मन का अवसाद उंडेल सके, जिसके चरणों में सर्वस्व समर्पित कर अपने भौतिक जीवन के अभिशाप को वरदान में परिणत कर सके। अनुराग मानव हृदय का प्रबल पक्ष है। अनुराग और ज्ञानमूलक-साधना का सामंजस्य हो सकता है, पर तादातम्य नहीं। निर्गुण पन्थी सन्तों ने हृदय के अनुराग का पूरक मस्तिष्कजन्य साधना को बनाना चाहा और यहीं वे असफल रहे। सगुण मतवादी भक्तों ने मन की वृत्तियों को जो लौकिक जीवन में अतृप्त रहने के कारण विक्षिप्त हो रही थीं, राम और कृष्ण के रूप का वह आधार प्रदान किया, जिसके द्वारा भौतिक विषयों की भोक्ता इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान् में लग गई। एक ओर मर्यादापुरुष राम के चरित्र में अनेक आदर्शों की स्थापना की गई और दूसरी ओर लीलापुरुष कृष्ण के मनोरंजक रूप का अंकन किया गया।"[1]

साहित्य से राष्ट्रीय जागृति के क्षेत्र में

अहिंसा और धर्म के इस स्वरूप विपर्यय का अन्यान्य क्षेत्रों में भी स्वागत हुआ। राष्ट्रीय जागृति के साथ वह और भी बल पा गया। राष्ट्र और समाज के नवनिर्माण की चहल-पहल में सहयोगी होकर यही विपर्यय विकास का खिताब पा गया। महात्मा गांधी विशेष रूप से श्रेयोभाग् बने। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का कहना है—गांधीजी पर कुछ लोगों का यह आक्षेप एक तरह से गलत नहीं है कि उन्होंने भारतीय समाज को निवृत्ति-मार्ग से विमुख कर संसार के प्रति आसक्त कर दिया। लेकिन सचाई यह है कि समाज में अहिंसा उतने ही प्रमाण में टिक सकती है, जितने प्रमाण में प्रवर्तक धर्म अर्थात् समाजोपयोगी काम चलेंगे। निवर्तक धर्म से समाज की बुराइयां दूर की जा सकती हैं, परन्तु उनमें अच्छाइयों की वृद्धि नहीं हो सकती। गांधीजी ने त्याग, तपस्या और बलिदान रूप निवर्तक धर्म के साथ-साथ प्रवृत्तिरूप अहिंसा का भी प्रतिपादन किया और उसी के द्वारा

---

१. भारतीय वाङ्मय पृ० ५४७

राष्ट्र की समस्याओं का हल किया।...अनासक्तिमूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति ही अहिंसा के विकास का अब तक का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रतीत होता है।...गांधीजी के आदर्श को लेकर चलने वाले आश्रम में निवृत्तिरूप अहिंसा के साथ प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई मिलती है। अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि निवृत्तिमार्गीय व्रतों के साथ-साथ खेती, खादी आदि के प्रवृत्ति-कार्य भी वहां चलते हैं।[1]

खेती[2] और खादी[3] के सम्बन्ध से होने वाली हिंसा को महात्मा गांधी ने कभी अहिंसा की कोटि में नहीं लिया। कितने ही पुनीत उद्देश्य से किसान खेती करे, महात्मा गांधी की दृष्टि से उसमें सामाजिक स्वार्थ तो अन्तर्निहित है ही। हमें यहां इस चर्चा में नहीं उतरना है कि महात्मा गांधी ने कहीं हिंसा को अहिंसा और धर्म के अन्तर्गत माना है या नहीं। उनकी अहिंसा सम्बन्धी परिभाषा है—अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।[4] उनकी निष्ठा है—हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही रहेगी।[5] अतः यह प्रश्न बहुत विचारणीय है कि महात्मा गांधी की दृष्टि में हिंसा के साथ व्यापक प्रेम और अनासक्ति का मेल कहां तक बैठ सकता है? कुछ भी हो उक्त विवरणों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अहिंसा और निवृत्ति-प्रधान धर्म का यह विपर्यय विविध क्षेत्रों में एक विकास के रूप में ही देखा गया है।

उपयोगिता के साथ यथार्थता का निर्वाह अपेक्षित

अपेक्षा-भेद से यह माना जा सकता है—लौकिक प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक रूप मिल जाने से दया, दान आदि लोकोपकार में समाज विशेषरूप से प्रवृत्त हुआ। दीन, अनाथ प्राणियों के जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला। मोह-ममता बढ़ने से सामाजिक जीवन सरस हुआ, पर देखना यह है कि उपयोगिताओं के साथ

1. अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ९-१०
2. खेडूत जे खेतीकार्य करे छे तेने हुं अहिंसा मां कदी गणावतो नथी। ए कार्य अनिवार्य होई भले क्षम्य गणाय, पण ते अहिंसा तो नथी ज। खेडूतनी हिंसामां समाजनो स्वार्थ रहेलो छे। अहिंसामां स्वार्थने स्थान नथी।

—अहिंसा पृ० १३६

3. खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

—गांधीजी-खण्ड १० अहिंसा प्रथम भाग पृ० १७

4. मंगल प्रभात पृ० ८१
5. अहिंसा पृ० ८०-८१

यथार्थता का निर्वाह हुआ या नहीं ? किसी कर्म का उपयोगी हो जाना एक बात है और यथार्थ होना दूसरी बात। धर्म और अहिंसा का सम्बन्ध दार्शनिक मान्यताओं पर आधारित है। दर्शन के क्षेत्र में आत्मा, पुण्य, पाप और मोक्ष सम्बन्धी धारणाएं ज्यों की त्यों बनी रहें और धर्म के स्वरूप को सामाजिक उपयोगिता के लिए चाहे ज्यों विस्तृत करते रहें, यह संगत नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनों ने यह मान लिया होता कि जगत के प्रत्यक्ष स्वरूप की श्रेष्ठता ही इष्ट और काम्य हैं तो फिर भी समाज की लोकोत्तर विमुखता यथार्थ मानी जा सकती थी। लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने जीवन का परम लक्ष्य निर्वाण माना है; भले ही उसके बाह्य स्वरूप में विभिन्नता रही हो। उसके हार्द में लगभग सभी दर्शन एकमत हैं। वह जीवन का परम लक्ष्य होता है। वहां आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में पहुंचती है। भव-परम्परा के बीज राग और द्वेष यहां नहीं रह जाते। महायान सम्प्रदाय प्रभृति कुछ एक विचार-परम्पराओं को छोड़कर लगभग सभी दर्शन परम्पराएं इसमें सहमत हैं कि मोक्ष और मोक्ष के उपाय व्यक्तिगत हैं। पिता, पुत्र, समाज, राष्ट्र और विश्व के एक साथ मोक्ष-गमन की चर्चा कहीं नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति ही अपनी अनवद्य साधना से कर्म-मल रहित होकर मोक्ष पहुंचते हैं। ऐसी परिस्थिति में धर्म और अहिंसा के आधारभूत दर्शन की उपेक्षा कर समाज को एकान्तरूप से लोकाभिमुख ही बनाने का विचार कैसे यथार्थ माना जा सकता है और यह निर्हेतुक विपर्यास कैसे अहिंसा धर्म का विकास ही माना जा सकता है।

अहिंसा और धर्म का प्रयोजन

हमें यह भी भूलना नहीं चाहिए कि अहिंसा और धर्म का परम उद्देश्य व्यक्ति को उसकी मंजिल तक पहुंचाने का है। यह ठीक है कि अहिंसा और धर्म के व्यापक बहुमुखी प्रभावों से वर्तमान जीवन भी अलौकिक होता है। समाज-व्यवस्थाएं और अन्य विश्वोपक्रम सुसम्पन्न होते हैं, यह उनका गौण परिणाम ही होता है। अहिंसा प्राणीमात्र की जिजीविषा के लिए कही जाती है। भगवान् श्री महावीर के सूक्तों में भी यह बात बहुत प्रकारों से दुहराई गई है। प्राणीमात्र जीना चाहते हैं, इसलिए निर्ग्रन्थ उनकी हिंसा न करें। वास्तव में यह एक उपदेश-विधि ही है। इस स्थूलता के नीचे अहिंसा का स्वरूप और प्रयोजन तो इस प्रकार है—

आत्मा में रागादि भावों का अप्रादुर्भाव ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का प्रादुर्भाव ही हिंसा है।[1]

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

संयत मुनि के रागादि आवेश रहित आचरण से किसी प्राणी का प्राण-व्यपरोपण हो जाने पर भी वह हिंसा नहीं है।[1]

रागादि आवेशों के वश होने वाले असंयत आचरण से किसी जीव का प्राण-व्यपरोपण हो अथवा न भी हो, उस व्यक्ति के लिए तो वह निश्चितरूप से हिंसा है ही।[2]

तत्त्वार्थ यह है, व्यक्ति कषायज भावों से लिप्त होकर हिंसा करता हुआ सर्वप्रथम अपनी आत्मा से अपनी ही आत्मा की हिंसा करता है। अन्य प्राणियों की हिंसा हो या न हो, यह तो आगे की बात है।[3]

योगों की प्रमत्तता के कारण हिंसा से विरक्त न होना और हिंसा करना दोनों ही हिंसा के अन्तर्गत है।[4]

सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी परनिमित्तक नहीं होती, तथापि परिणामों की विशुद्धि के लिए प्राण-व्यपरोपणादि हिंसायतनों से व्यक्ति को निवृत्त होना चाहिए।[5]

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने द्वारा या अन्य किसी द्वारा होने वाली हिंसा को बचाने के लिए आत्मोपदेश या परोपदेश में प्रवृत्त होता है, हिंसा टले या न टले,

---

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४४

१. युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४५

२. व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४६

३. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४७

४. हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४८

५. सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥

—पुरुषार्थ सिद्धच् पाय ४९

नहीं मिलती। तर्क सत्यावाप्ति का एक साधन है, पर बुद्धि की तरतमता में उसका कोई एक रूप स्थिर नहीं होता। इसीलिए कर्मयोगी कृष्ण ने कहा है—'मामेकं शरणं व्रज—मेरा ही शरण ग्रहण करें'।[1] गौतम बुद्ध ने कहा—'यदि कोई किसी को सचमुच सम्यग् कहे, तो वह मुझको ही कह सकता है। मैंने ही उस अनुत्तर पूर्ण बुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।[2] भगवान श्री महावीर की शालीन भाषा थी, 'आणाए मामगो धम्मो' आज्ञा में ही मेरा धर्म है'।[3] आचार्य श्री भिक्षु भगवान श्री महावीर के अनुयायी थे। उन्होंने उस आदेश को श्रद्धापूर्वक शिरोधार्य किया और साथ-ही-साथ तर्क और युक्ति पर भी कसा। फलित रहा—भगवान् की आज्ञा कहां है, जहां संयम और सत् प्रवृत्ति की वृद्धि है।[4] ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप का संरक्षण है।[5] असंयम और असत् प्रवृत्ति के लिए भगवान् का कहीं इंगित नहीं है। भगवान् की आज्ञा वहां है, जहां ध्यान, लेश्या, परिणाम, योग और अध्यवसाय प्रशस्त हैं।[6] भगवान् की आज्ञा वहां है, जहां धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ज्योति[7] जलती है, व्रत-बीज अंकुरित, पुष्पित और फलित होता है। स्वार्थ मिटता है और परमार्थ जुटता है।

---

१. गीता अध्याय १८ श्लोक ६६

२. संयुत्तनिकाय दहर सुत्त ३।१।१

३. आचारांग सूत्र अध्ययन ६ उ० २

४. सर्व मूल गुण उत्तर गुण, देस मूल उत्तर गुण दोय रे।
यां दोनूं गुणां में जिण आगना, आगना बारै गुण नहीं कोय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १८

५. ग्यांन दर्शण चारित नें तप, ए तो मोख रा मारग च्यार रे।
यां च्यारां में जिणजी री आगना, यां बिना नहीं धर्म लिगार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० २

६. नंदी उत्तरै त्यांरो ध्यांन कीसो छै, किसी लेश्या किसा परिणाम रे।
जोग किसा अधवसाय किसा छै, भला भूंडां री करो पिछाण रे॥
ए पांचूं भला छै तो जिण आगना छै, माठा में जिण आग्या न कोय रे।
ए पांचूं माठा सूं पाप लागै छै, भलां सूं पाप न होय रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल ३ गा० १६-२०

७. धर्म ने सुकल दोनूं ध्यांन में, जिण आग्या दीधी वारूंवार रे।
आरत रूद्र ध्यांन माठा वेहूं, यांनै ध्यावैं ते आग्या वार रे॥
—जिनाज्ञा री चौपई ढाल १ गा० १२

भगवान् की आज्ञा वहां है जहां सावद्य कर्म टलता है, निरवद्य कर्म पलता है।[1] ऐसा एक भी कार्य नहीं है जो धर्म और अहिंसारूप हो और वह आज्ञा-सम्मत न हो। न ऐसा ही कोई कार्य अवशेष रह जाता है, जो आज्ञा-सम्मत हो और अहिंसा व संयम प्रधान न हो। इस प्रकार आज्ञा और तर्क को अपनी बुद्धि के तराजू पर तोल कर आचार्य भिक्षु ने अहिंसा और धर्म की कसौटी—आज्ञा और संयम को कहा। आगमवादियों से वे कहते, जो व्यक्ति यह कहता है, यह धर्म है, पर आज्ञा सम्मत नहीं है; वह सचमुच ही कहता है—मैं पुत्र हूं पर मेरी माता वन्ध्या[2] है। वे तर्कनिष्ठ लोगों से बतलाते—असंयति जीवों की जीवन-कामना राग है, मरण-कामना द्वेष है और उनके लिए की गई भव-तितीर्षा धर्म है।[3]

अविभक्त अहिंसा

अहिंसा सम्बन्धी सभी शास्त्रों में अहिंसा की परिभाषा लगभग समान ही मिलती है। ज्यों-ज्यों वह जीवन के व्यवहारिक प्रसंगों पर उतारी जाती है, वहां वह परिभाषा विभक्त होती देखी जाती है। प्रवर्तक व विचारक उन परिभाषाओं को तोड़-मोड़कर वर्तमान जीवन के साथ संगत करते हैं। जैन-शास्त्र कहते हैं, साधु अपने संयम निर्वाह के लिए अचित्त, प्रासुक और एषणीय आहार ग्रहण करे। आवश्यक निर्युक्ति में बताया जाता है—साधु रोगादि विशेष परिस्थिति में सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का उपयोग करे। अचित्त की अनुपलब्धि में वह सचित्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि गृहस्थ के यहां से लाए, वहां न मिले तो वह खान, सरोवर, अटवी आदि स्थानों में जहां सुलभ हो वहां से लाए।[4] रोगादि प्रसंगों में तथा संघ-संरक्षण, चैत्य-रक्षण आदि प्रसंगों से वैध मानी गई हिंसा के

1. दोय करणी संसार में, सावद्द निरवद्द जाण।
   निरवद्द करणी में आगन्यां, तिणसूं पामे पद निरवाण ॥
   —जिन आगन्यारी चौपाई ढाल १२ दु० २
2. कोई कहे मांहरी मा छो रे बांझड़ी, तिणरो हूं छूं पाधरो जात।
   इम दया कहे जिन आगन्या बिना, करणी बोला धर्म साख्यात ॥
   —जिन आगन्यारी चौपाई ढाल २ गा० ११
3. असंयति जीव रो जीवणो वांछे ते राग, मरणो वांछे ते द्वेष, तिरणो वांछे ते [illegible]
   [illegible]
   —[illegible]
4. [illegible]

और भी अनेकों रोम-हर्षक उदन्त पिछले प्रकरणों में बताए जा चुके हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण दृढ़ और न्यायोचित रहा है। उनका अभिप्राय था—राग और द्वेष से मुक्त तीर्थंकर द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि का उल्लेख करते हैं, वह उनके अधिकार की बात है। राग-द्वेष मुक्त सर्वज्ञों की तरह साधारण छद्मस्थ भी यदि अहिंसा धर्म में अपवाद जोड़ते चलें तो वह न्याय नहीं है। अवीतराग के निर्णय में राग और द्वेष की स्फुरणा सम्भावित है; अतः उनका इस ओर प्रवृत्त होना संगत नहीं। एक के बाद एक अपवाद जोड़े जाकर अहिंसा मिट ही जा सकती है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्तिकारी घोष था; टीका, भाष्य, चूर्णियां आदि स्वतः प्रमाण नहीं हैं। जैसे उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा विहित अपवादों को हेय बताया, वे स्वयं भी अपनी धारणा पर अत्यन्त सुदृढ़ रहे। उन्होंने एक धर्म-संघ का प्रवर्तन किया। सहस्रों प्रश्न और परिस्थितियां उनके सामने आती रहीं, तथापि एक भी अपवाद जोड़कर उन्होंने अहिंसा को विभक्त नहीं किया। दया, दान, लोकोपकार, साध्वाचार आदि की जो व्याख्याएं उन्होंने दीं, उनमें अहिंसा और संयम को सर्वत्र अविभक्त बनाए रखा। छद्मस्थ-अवस्था में भगवान् श्री महावीर ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह अवीतराग दशा की भूल थी।[1] लोकमत प्रतिकूल हुआ। दया के उत्थापक, दान के विध्वंसक के खिताब मिले, पर उन्होंने हिंसा के हाथों अहिंसा को नहीं जाने दिया। उनका विश्वास था—मेरा उपास्य अहिंसा है न कि लोक-समुदाय।

परम कारुणिक

स्थूल मेधावालों की धारणा में आचार्य भिक्षु जितने करुणा-शून्य थे, तत्त्वदर्शियों की दृष्टि में वे उतने ही अधिक कारुणिक थे। धनी और निर्धन, बलवान् और निर्बल, स्थावर और जंगम उनकी दृष्टि में समान थे। एक के लिए दूसरे का बलिदान उन्हें स्वीकार नहीं था। वे प्राणीमात्र की समानता में विश्वास रखते थे। मनुष्य संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसकी अपेक्षाओं के लिए अन्य प्राणियों का विनाश आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता। यही बात स्थावरों का प्राण-

१. तिणनें वीर बचायो बलतो जांण नें रे, लब्द फोड़वे सीतल लेस्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरै रे, छदमस्थ गया तिण काले चूक रे॥
—अनुकम्पा चौपई गीति १० गाथा ७

भी लोक धर्म कहते हैं, यह आश्चर्य है।[1] आचार्य भिक्षु के मन में निर्बल जीवों के प्रति होने वाली इस निर्ममता के प्रति एक करुणा है। वे कहते हैं—निर्बल स्थावर प्राणियों को मारकर सबल जंगम प्राणियों का पोषण करते हैं और उसमें धर्म कहते हैं, सचमुच ही यह विपरीत बात है। ऐसे लोग बेचारे स्थावर जीवों के लिए शत्रु खड़े हुए हैं।[2] जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना सांसारिक मार्ग है। इसमें धर्म बतानेवाले अज्ञ हैं।[3]

आचार्य भिक्षु ने स्थावर जीवों के प्रति अहिंसा का विवेक दिया। वे यह जानते थे, सामाजिक प्राणी का जीवन हिंसा के साथ जकड़ा हुआ है और वे इस हिंसा से बहुत अधिक ऊपर नहीं उठ सकते। आचार्य भिक्षु के मन में दो प्रेरणाएं बलवती थीं—स्थावर जीवों को साधारण या नगण्य समझकर मारा ही न जाए; श्रावक भी अपने सद्‌विवेक से यथासम्भव उनके प्रति अहिंसक बनें। दूसरी प्रेरणा—व्यक्तिगत या सामाजिक अपेक्षाओं से उनकी हिंसा भी की जाए और धर्म भी माना जाए, यह उचित नहीं।

सामाजिक जीवन की अपेक्षा में

सामाजिक जीवन की अपेक्षाओं में आचार्य भिक्षु का विवेक पूर्ण जागरूक था। अपने बारह व्रत की चौपई में वे श्रावक की भाषा में बोलते हैं—मैं गृहस्थाश्रम में बसता हूं। नाना कार्यों में स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। आरम्भ किए बिना उदर नहीं भरता और आरम्भ में हिंसा हुए बिना नहीं रहती। इसलिए स्थावर जीवों की हिंसा का यथाशक्य परिमाण करता हूं। जंगम प्राणियों के विषय में निरपराध प्राणी की हिंसा का त्याग करूंगा, अपराधी प्राणी की हिंसा का नहीं। मैं खेती करते हुए हल चलाता हूं, जमीन पोली करता हूं, घास आदि काटता हूं, निरपराध जीव भी उसमें मरते हैं। अत: निरपराध जीवों को भी मैं

---

१. मछ गलागल लोक में, सबला ते निबलां ने खाय।
तिण में धर्म परूपीयो, कुगुरा कुबुध चलाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ दोहा १

२. रांकां ने मार धींगाने पोषे, आ तो बात दीसै घणी गेरी।
ईण मांहीं दुष्टी धर्म परूपै, तो रांक जीवांरा उठ्या बेरी॥
—ज्ञानप्रकाश पृष्ठ ९८

३. जीवां ने मारे जीवां ने पोषै, ते तो मारग संसार नो जाणों जी।
तिण मांहें साध धर्म बतावै, ते तो पूरा छै मूढ अयाणो जी॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ६ गाथा २५

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने सुन्दर संगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस लोक को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गांधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द-विन्यास से देखा है। वे कहते हैं—अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसा के विना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है—जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष; इन भेदों को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य आदि भेद-प्रभेदों को यथार्थ नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग : एक समस्या

कार्यों की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। मीमांसकों ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए—ऋत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म, युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत, उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

---

१. युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५

२. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥
—गीता अध्याय १८

जीवन धारणा की अपेक्षा और सूक्ष्म जीवों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने सुन्दर संगति दी है। आचार्य भिक्षु ने इस लोक को 'मच्छ गलागल' और महात्मा गांधी ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के शब्द-विन्यास से देखा है। वे कहते हैं—अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फंसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य बाह्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिए, वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी।[1]

धर्म के दो स्वरूप-आधिभौतिक और आध्यात्मिक

गीता कहती है—जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष; इन भेदों को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विक है। जो धर्म और अधर्म, कार्य और अकार्य आदि भेद-प्रभेदों को यथार्थ नहीं जानती, वह बुद्धि राजसी है। धर्म को ही अधर्म माननेवाली और हर तत्त्व को विपरीत समझने वाली बुद्धि तामसी है।[2]

धर्म शब्द का प्रयोग : एक समस्या

कार्यों की हेयता और उपादेयता को पाने के लिए नाना वर्गीकरण आवश्यक होते हैं। मीमांसकों ने अबन्धक और बन्धक की अपेक्षा से कर्म के दो भेद किए—ऋत्वर्थ (यज्ञार्थ) और पुरुषार्थ। स्मृति विहित वर्णाश्रम कर्म, युद्ध वाणिज्य आदि स्मार्त कर्म और व्रत, उपवास आदि पुराण विहित कर्म पौराणिक कहलाए। नित्य,

---

१. युद्ध और अहिंसा (धर्म की समस्या) पृ० १७५

२. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥
—गीता अध्याय १८

नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ये भी सब कर्मों के भेद हैं।[1] जैन-आगमों की भाषा में पाप-आगमन के हेतुरूप कर्म अशुभ योग आश्रव हैं, पाप-निरोधक कर्म संवर हैं, पाप-मोचक कर्म निर्जरा हैं, पुण्य-निमित्तक कर्म शुभ योग आश्रव हैं। आचार्य भिक्षु ने इन्हीं हेयोपादेय भेद-प्रभेदों को सावद्य-निर्वद्य, व्रत-अव्रत, प्रवृत्ति-निवृत्ति, त्याग-भोग, आज्ञा-अनाज्ञा आदि भेदों से अभिहित किया।

वैदिक परम्परा में समाजस्थ प्राणियों के सभी करणीय और अकरणीय कर्म धर्म और अधर्म शब्दों से कहे जाने लगे। कार्यों की करणीयता और अकरणीयता विविध अपेक्षाओं पर आधारित थी। धर्म शब्द में उन सबका समावेश बहुत ही भ्रामक हो गया। धर्म शब्द का मुख्य अर्थ आत्म-शुद्धि का साधन है, पर जब वह नीति, कर्तव्य और नाना सामाजिक नियमनों के अर्थ में व्यवहृत होने लगा तो सामान्य लोगों में वे सभी कर्म मोक्ष साधक धर्म के अन्तर्गत समझे जाने लगे। विद्वान् और विचारक उन शब्द-प्रयोगों में भले ही स्वयं न उलझे हों, परन्तु उनके विभिन्न अपेक्षाओं से किए गए वे धर्म शब्द के प्रयोग समाज की धर्म सम्बन्धी धारणाओं में एक समस्या बन गए।

महात्मा गांधी के शब्द-प्रयोग

महात्मा गांधी के शब्द-प्रयोगों को देखें। वे कहते हैं—बन्दर जिस जगह उपद्रवरूप हो गए हैं, उस जगह उनको मारने में जो हिंसा होती है, वह क्षम्य है। ऐसी हिंसा धर्म होती है।[2] एक अन्य प्रसंग से वे कहते हैं—जब अकाल सामने हो। तब अहिंसा के नाम पर फसल को उजड़ने देना मैं तो पाप ही समझता हूं।[3] इसी प्रकार एक प्रसंग से वे लिखते हैं—मछली या मांस खाने वाले को ये चीजें खाने देने में जो हिंसा होती है, उसे मैं हिंसा नहीं मानता। मैं उसे अपना धर्म समझता हूं।[4] इन्हीं विषयों पर वे प्रसंगान्तर से दूसरी ही भाव-भाषा में अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं—बन्दर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों कालों में हिंसा ही गिनी जाएगी। उसमें बन्दर के हित का विचार नहीं है, किन्तु आश्रय के ही हित का विचार है।[5] किसान जो हिंसा करता है, वह हिंसा अनिवार्य होकर

१. कर्मयोग शास्त्र पृ० ५६-५७
२. हरिजन ता० २६-४-४६
३. हरिजन बन्धु ता० २६-५-४३
४. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० २०
५. अहिंसा (गुजराती) पृ० ५०-५२

क्षम्य हो सकती है, परन्तु अहिंसा नहीं हो सकती।[1] प्लेग के चूहे और चींचड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है।[2] इन परस्पर विरोधी उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है, बन्दर आदि की हत्या में धर्म कहते समय उनकी बुद्धि एक सामाजिक व राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर रही है और उन्हीं कार्यों को हिंसापरक तथा दोषपूर्ण बताते समय उनका चिन्तन प्राणीमात्र की समानता और आत्म-धर्म की यथार्थता पर रहा है।[3]

तिलक और धर्म का उभयात्मक स्वरूप

कर्मयाग के असाधारण विवेचक लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक के सामने धर्म शब्द का यह व्यापक प्रयोग कठिनाई होकर आया है। गीता-रहस्य के अनेकों पृष्ठों में धर्म के उभयात्मक रूप को उन्हें स्पष्ट करना पड़ा है। वे लिखते हैं— धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग पारलौकिक सुख का मार्ग इसी अर्थ में किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि तेरा कौन-सा धर्म है? तब उससे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए किस मार्ग—वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलता है और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधन-भूत यज्ञ-याग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्म-सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है; परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति-बन्धनों को भी धर्म कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक् करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को मोक्ष धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं।[4] इसी प्रकरण में वे आगे लिखते हैं—जो कर्म हमारे मोक्ष, हमारी आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हों वही पुण्य है, वही धर्म है और वही शुद्ध कर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल है वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ है।[5]

---

१. अहिंसा (गुजराती) पृ० १३६
२. व्यापक धर्म भावना पृ० ६-१०
३. विशेष विवरण—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पृ० १७-२६
४. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ६७-६८
५. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७०

मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म की इतनी स्पष्ट धारणा होते हुए भी लोकमान्य तिलक ने विषय के उपसंहार में यही कहा है—क्या संस्कृत और क्या भाषा सभी ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमों के बारे में किया है, जो समाज धारणा के लिए शिष्टजनों के द्वारा अध्यात्म-दृष्टि से बनाए गए हैं। इसलिए उसी शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ में किया है।[1]

मोक्ष-धर्म और व्यवहारिक धर्म विषयक अपनी धारणा को यदि लोकमान्य तिलक अपने सहस्र पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ गीता-रहस्य में आदि से अन्त तक उसी शब्द-भेद के साथ निभाते तो गीता-दर्शन एक नया ही रूप ले लेता। वह इस पहलू पर एक वैसी ही क्रान्ति होती, जैसी जैन-परम्परा में आचार्य श्री भिक्षु ने की है। पर वर्तमान गीता-रहस्य तो लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिलाकर चलने वाली प्राचीन परम्परा का ही पोषक ग्रन्थ बन गया है। शब्द-प्रयोग का प्रारम्भ में किया जानेवाला मात्र स्पष्टीकरण सामान्य पाठकों के साथ बहुत आगे तक नहीं चल पाता।

लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की विभक्ति

आचार्य श्री भिक्षु लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म को मिला देने के नितान्त विरोधी थे। उनकी धारणा थी, दोनों धर्मों को एक ही मानकर चलने में उद्देश्य-हानि के कारण दोनों ही अपना स्वरूप खो सकते हैं। एक वणिक् घृत और तम्बाकू इन दो चीजों का व्यापार करता था। एक दिन अपनी दुकान लड़के को सम्भलाकर स्वयं किसी दूसरे गांव को चला गया। लड़का वस्तु-विवेक से रहित था। उसने सोचा, पिताजी दोनों वस्तुओं का भाव तो एक ही बतला कर गए हैं और इधर आधा बर्तन तम्बाकू से भरा है और इधर आधा घृत से। क्यों नहीं मैं दोनों को एक ही बर्तन में डालकर एक बर्तन खाली करके ही रख दूं? वैसे ही किया। कोई भी ग्राहक आता—घृत या तम्बाकू का तो वह उसे घृत-तम्बाकू-क्वाथ दिखलाता और कहता दोनों चीज एक ही भाव की हैं। ले जाइये। ग्राहक उसकी मूर्खता पर हंसकर वापिस लौट जाते। सायंकाल पिता दुकान पर आया। लड़के की बुद्धिमानी देखी। हैरान रहा। बोला, ऐसा करके तो तू ने दोनों ही वस्तुओं का सत्यानाश कर दिया।[2] यही बात आचार्य भिक्षु मोक्ष-धर्म और समाज-धर्म को

१. गीता रहस्य प्रकरण ३ पृ० ७२

२. जिम कोइ घ्रत तंबाखू विणजै, पिण वासण विगत न पाडै रे।
घ्रत लेई तंबाखू में घालै, ते दोनूंई वसत विगाडै रे॥
—व्रताव्रत चौपई गीतिका ४ गाथा १

मुक्त कर देने के विषय में माना करते थे। उनका कथन था, अपने-अपने स्थान पर दोनों वस्तुएं उपयोगी और मूल्यवान् हैं। पर दोनों का इस प्रकार का मेल दोनों के लिए ही घातक होता है। सर्वसाधारण को विविध उदाहरणों से उन्होंने आधि-भौतिक और आध्यात्मिक धर्मों का बोध दिया है। वे कहते हैं—कोई व्यक्ति अग्नि में जल रहा है या कुएं में गिर रहा है, उसे किसी ने बचाया; यह लौकिक उपकार है।[1]

किसी ने किसी व्यक्ति को बोध-दान कर पाप-मुक्त किया और वह पाप-मुक्त व्यक्ति भव-कूप में गिरने से बचा और भव-दावाग्नि से जलते-जलते बचा; यह लोकोत्तर उपकार है और मोक्ष-मार्ग है।[2]

कोई किसी मरणासन्न रोगी को औषधादि उपचार से स्वस्थ कर मरने से बचा लेता है; यह सांसारिक उपकार है।[3]

किसी व्यक्ति ने मरणासन्न व्यक्ति को चार शरण दिए, नानाविध त्याग कराए, सांसारिक आसक्ति से मोह-मुक्त किया, यावत् आमरण अनशन (संथारा) करा दिया; यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[4]

किसी व्यक्ति ने किसी को तालाब में डूबने से बचाया या ऊपर से गिरते हुए को बचाया; यह उपकार सांसारिक है।[5]

---

१. कोई अग्नि लाय में बलतो राखै, द्रवे कूवो पड़[illegible]
ओ तो उपगार कीधो इण भव रो, जो विवेक वि[illegible]
—अनुक[illegible]

२. [illegible] तिण पड़तो [illegible]
[illegible] रिखेश्वर, ते पि[illegible]
—अनुकम्प[illegible]

३. [illegible] झपटा क[illegible]
[illegible] राख्यो साजो
—अनुकम्पा [illegible]

४. [illegible] देइ [illegible]
[illegible] सूं [illegible]
अनुकम्पा [illegible]

५. [illegible]

किसी ने किसी व्यक्ति को संसार-समुद्र में डूबने से बचाया या नरकादि निम्न गतियों में पड़ने से बचाया; यह उपकार मोक्ष सम्बन्धी है।[1]

किसी के घर में आग लगी है। छोटे-बड़े सभी लपेट में आ गए हैं। किसी ने आग बुझाकर उन सबको बचा लिया है; यह सांसारिक उपकार है।[2]

किसी व्यक्ति के घट में तृष्णा की होली जल रही है, उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुण उसमें जल रहे हैं। किसी ने धर्मोपदेश कर वह तृष्णा की आग बुझा दी, उसके हृदय में शान्ति का मेघ बरसा दिया; यह उपकार आध्यात्मिक है।[3]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र का लालन-पालन करता है, उसका विवाह करता है, उसके लिए भोगोपभोग की सभी सामग्री जुटाता है; यह उपकार सांसारिक है।[4]

कोई व्यक्ति अपने पुत्र को प्रारम्भ से आध्यात्मिक प्रशिक्षण देता है, संसार की अनित्यता बताता है, विषय-सुखों को दुःख-मूल बताता है और त्याग-मार्ग पर अग्रसर कर देता है; यह उपकार आध्यात्मिक है।[5]

कोई व्यक्ति माता-पिता को कावड़ में लिए चलता है, यथासमय उन्हें यथा-रुचि भोजन कराता है, यह सेवा सांसारिक है।[6]

---

१. जनम मरण री लाय थी वारै काढ़ै, भव कूआ मांहि थी काढ़ वारे।
नरकादिक नीची गति मांहे पड़तां नें राखै, संसार समुद्र थी वारै काढ़ उधारै॥
—अनुकम्पा चौपाई गीति ११ गाथा १३

२. किणरै लाय लागी घर वलै छै, तिणमें नान्हा मोटा जीव वलै लाय मांहि।
कोइ लाय वुझाय त्यांनै वारै काढ़ै, घणांरै साता कीधी लाय वुझाई॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १४

३. किणरे तिसणा लाय लागी घट भितर, ग्यांनादिक गुण वलै तिण मांय।
उपदेस देइ तिणरी लाय वुझावै, रूंम रूंम में साता दीधी वपराय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १५

४. कोइ टावर पालै नें मोटा करै छै, आछी आछी वस्त तिणनें खवाय।
वले मोटे मंडाण करै परणावै, वले धन माल देवै कमाय कमाय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १६

५. कोई वेटा नें रूडी रीत समझाए, धन माल सगलोइ देवै छोड़ाय।
कांम भोग अस्त्रीयादिक खावो नें पीवो, भली भांति सूं त्याग करावै ताय॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १७

६. माता पिता री सेवा करै दिन रात, वले मनमान्यां भोजन त्यांनैं खवावै।
वले कावड़ कांधे लीयां फिरै त्यांरी, वले वेहूं टकां रो सिनान करावै॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ११ गाथा १८

आध्यात्मिक हैं।[1]

द्वेष और राग की परख

चिन्तन के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु की मान्यता जरा भी अपूर्व या अनघड़ नहीं है। अतीत और वर्तमान के अनेकों विद्वानों एवं विचारकों ने उसी क्रम से सोचा, माना और लिखा है। आचार्य भिक्षु को इस यथार्थ और सर्वसम्मत जैसी मान्यता के निरूपण में अनेकों विरोध सहने पड़े। इसका कारण लोगों का साम्प्रदायिक अभिनिवेश था। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में राग को समझने की क्षमता थी। उन्होंने कहा—किसी व्यक्ति ने किसी एक बालक के शर में चपेटा मारा। देखनेवालों ने कहा—भले मानस ! यह क्या करते हो ? किसी एक व्यक्ति ने बालक के हाथ में मोदक या मूला दे दिया। देखनेवालों ने टोका नहीं, प्रत्युत वे खुश हुए। इस प्रकार द्वेष को परखना बहुत सहज है, पर राग की यथार्थता को परख लेना कठिन है।

गृहस्थ सब कुछ आध्यात्मिक ही करे और समाजोपयोगी या लौकिक कार्य करे ही नहीं, यह आचार्य भिक्षु का आग्रह नहीं था। उनका कथन था, वणिग् अपनी दुकान पर बैठकर नामे और जमा का हिसाब बराबर नहीं समझेगा और नहीं रखेगा तो उसकी दुकान नहीं चलेगी। जीवन भी एक व्यापार है। उसमें हरएक व्यक्ति के पास विवेक-चक्षु होना चाहिए कि वह लौकिक और लोकोत्तर के संतुलन व वैषम्य को समझकर अपने आपको सम्भालता रहे।

एक सन्तुलित जीवन-दर्शन

तर्क और चिन्तन के राजपथ पर

महाशास्ता गौतम ने कहा—भिक्षुओं, मैं जो कुछ कहता हूं, वह परम्परागत है इसलिए सच मत मानना, लौकिक न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है ऐसा मानकर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है इसलिए सच मत मानना, हमारे शास्ता का कहा हुआ है यह मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेकपूर्वक ग्रहण करते हों उसे ही सत्य मानना।[2]

महाकवि कालिदास ने कहा—सब कुछ प्राचीन ही यथार्थ नहीं है। न सब-कुछ नवीन ही यथार्थ है। विज्ञजन अपने परीक्षा-बल से यथार्थ को ग्रहण करते हैं।

---

१. स्वतन्त्रता की ओर पृ० २६४ पर किए गए विवेचन से

२. अंगुत्तर निकाय—कालाम सुत्त

अज्ञजन ही केवल इतर विश्वासों के अनुयायी होते हैं।[1]

वर्तमान युग का एक स्वस्थ विचारक इस बात को और भी बलपूर्वक कहेगा—यथार्थता की अन्तिम कसौटी हमारा अपना विवेक ही हो सकता है।

विवेचन की परिपाटी

शास्त्रों ने अमुक विषय में क्या कहा, दूसरे विचारक और विद्वान् इस विषय में क्या कह रहे हैं, विवेचन की इस परिपाटी को मान्यता इसलिए दी जाती है कि वह हमारे नए चिन्तन की प्रेरक भूमिका बनती है। यदि ऐसा न होता तो एक पंचवर्षीय बालक भी किसी विषय पर इतना ही प्रशस्त सोच लेता, जितना कि एक पारंगत पण्डित। पर ऐसा इसलिए नहीं होता कि उस बालक के मस्तिष्क में तत्सम्बन्धी अध्ययन की वह भूमिका नहीं है, जिस पर वह अपना नया चिन्तन अंकुरित कर सके। वर्तमान पीढ़ी यदि अतीत की पीढ़ियों से कुछ भी नहीं लेती होती तो ज्ञान-विकास की दृष्टि से प्राक्तन और चिरन्तन पीढ़ी में ज्ञान-विकास की कोई तरतमता ही नहीं बनती। स्वतन्त्र और तर्क-प्रधान चिन्तन का अर्थ सिमिट कर केवल इतना ही रह जाता है—जिस विषय में अब तक जितना सोचा जा चुका है, उसके साथ अपनी बुद्धि का नवीन मेल वह और बिठा दे। आधुनिक विज्ञान भी इसी क्रम से विकसित होता रहा है। न्यूटन और गेलेलियो की ज्ञान-भूमि पर खड़े होकर ही आईंस्टीन ने अपनी बुद्धि-संयोजन से विश्वमान्य सापेक्षवाद को जन्म दिया है। यह ठीक है, स्वस्थ सिद्धान्त निकेवल वही है, जो बिना किसी पर-आलम्बन के अपने बूते पर खड़ा रह सके; उतना ही सत्य यह है—दो विचार पारस्परिक संगति पाकर और अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। दीप वह है, जो अपनी वर्ती और तेल के सहारे पर जलता है और प्रकाश देता है। किसी विशेष हेतु से यदि इधर-उधर बिखरे दीपों को कोई सावधान व्यक्ति एक ही आलय विशेष में संजोकर रख दे तो क्या वह आलय अधिकाधिक नहीं जगमगा उठेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अब तक हम उन शास्त्राधार और व्यक्ति वैशिष्ट्य के दृष्टि-कोणों से शोध करते रहे हैं। अब हमें इसी विषय को निरपेक्ष चिन्तन की कसौटी पर कसना है।

जीवन : सराय का बसेरा

कुछ एक विचारक कहते हैं, जीवन को लौकिक और लोकोत्तर आदि भागों

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

की बात न हो, परन्तु किसी एक प्राणी को मारकर दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाने की बात प्रत्यक्ष स्वार्थपूर्ण ही है। अनासक्ति और निष्कामता का यथार्थ निर्वाह भी तथा प्रकार की हिंसाओं में यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। कुछ को मारकर कुछ के संरक्षरण में रागात्मक कामना और आसक्ति तो है ही।

यह प्रश्न तो उचित हो सकता है कि उक्त प्रकार की अनिवार्य हिंसाओं के बिना समाज का धारण कैसे हो सकता है? शासन-मुक्त समाज की परिकल्पना भी विकसित हुई है, जिसमें समाज-धारणा की बहुत सारी हिंसाएं विघटित हो जाती हैं। पर यह एक बहुत दूर की बात है। जन-जीवन के वर्तमान स्तर में जो हिंसाएं अपेक्षित हैं, समाज-शास्त्र की दृष्टि से उन्हें तो एक नीति का अंग मानना ही पड़ता है। उस सामाजिक जीवन में हिंसा और अहिंसा की तरह त्याग और भोग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, स्वार्थ और परमार्थ साथ-साथ चलते हैं। व्यक्ति अपने समाज और मोक्ष के उद्देश्य युग्म को साधता भी जाता है और एक के लिए दूसरे की स्वरूप-हानि भी नहीं करता। वह समाज में रहकर भी स्वतन्त्र रूप से मोक्षा-राधना करता है, पर उससे सामाजिक सहजीवन में कोई विक्षोभ या विघटन नहीं आने देता। सामाजिक मर्यादाओं का वह इसलिए पालन करेगा कि उसने अपने आपको समाज का एक अंग माना है। वह हिंसा परक और अहिंसा परक सामा-जिक नियमनों का कर्तव्य-भाव से पालन करता ही रहेगा। कर्तव्य-भावना से वह सेवा, परोपकार, दान, करुणा आदि के लौकिक और लोकोत्तर स्वरूप को यथावत् समझता भी रहेगा और दोनों अपेक्षाओं से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें करता भी रहेगा। धर्म और समाज का यही सम्बन्ध यौक्तिक और यथार्थ लगता है।

निर्हेतुक भय

कुछ लोगों को भय है, समाज-धारण सम्बन्धी प्रवृत्ति-प्रधान कार्यों को धर्म के अन्तर्गत न रखने से लोग सामाजिक अपेक्षाओं से विमुख हो जाएंगे और समाज दिन प्रतिदिन विशृंखल और दुःखमय बनता जाएगा। समाज सुखी बने या नहीं, यह एक पृथक् चिन्ता है और प्रवृत्ति जन्य कार्य अध्यात्म कोटि में आते हैं या नहीं यह एक पृथक् प्रश्न है। असाधन को साधन मानकर चलना उचित नहीं। धर्म यदि समाज की समस्त अपेक्षाओं का पूरक साधन है ही नहीं तो उसे उस रूप में जोड़ लेना यथार्थ भी नहीं और श्रेयस्कर भी नहीं। आंख की दवा आंख में और जीभ की दवा

जीभ पर ही यथार्थ होती है।[1] लोग समाजोपयोगी कार्यों से विमुख हो जाएंगे, यह आशंका भी संगत नहीं है। जिन देशों में धर्म समाज-व्यवस्था का या परलोक-सिद्धि का अंग माना ही नहीं गया है, उन देशों में भी लोग कर्तव्य-भावना से समाज हित के सभी कार्य करते हैं और वर्तमान भारतीयों से कहीं अधिक निष्ठा के साथ।

सामाजिक परिणाम भी असुन्दर

सामाजिक अभिसिद्धियों के लिए भारतवर्ष में धर्म का उपयोग होता रहा है। निष्कर्ष रूप में इसके लौकिक परिणाम भी सुन्दर नहीं रहे हैं। हिन्दू धर्म में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के समस्त क्रिया-कांडों को धर्म का अंग बना दिया गया। आज उसका परिणाम यह है कि नाना रूढ़ियां, नाना अन्धविश्वास और नाना असामाजिक प्रथाएं भी धर्म के नाम पर पल रही हैं। देश, काल के अनुसार लोग अपने जीवन-क्रम में थोड़ा भी परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक नहीं देखे जाते।

मानव जीवन व्यष्टिपरक से समष्टिपरक बना। परिवार, ग्राम, समाज और देश बने। अनाथ, अंगहीन व अकर्मण्य लोगों की संख्या बढ़ी। हल निकाला गया—दान करो, गरीबों पर दया करो। परोपकार ही अष्टादश पुराणों का सार है। यही सर्वोत्तम पुण्य कर्म है।[2] समाज में भीखमगी बढ़ी, अकर्मण्यता बढ़ी और उदरपूर्ति के ढोंग बढ़े। स्थिति यहां तक पहुंच गई, तथारूप प्रत्येक राष्ट्र के लिए भीख-मंगी एक ज्वलन्त समस्या बन गई। नाना नियमनों के निर्वारण में भी उसका नियमन दुष्कर हो रहा है।

करुणा और सेवा

करुणा का पूरक सेवा शब्द समाज में आया। उपकारक को अपना अहं समझने का अवसर मिला। सेवा भावी संस्थाएं बनी। जीवन-दानी समाज-सेवक बने। वे जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित अनिवार्य अपेक्षाओं के जुटाने में लगे। महात्मा ईसा ने कहा था, सूई की नोक से ऊंट निकल सकता है, पर धन-

---

१. जीभ रो ओषद आंख्यां में घाल्यो, आंख्यां रो ओषद जीभ में घाल्यो रे।
तिण री आंखई फूटी नें जीभई फाटी, दोनूंइ इन्द्री खोय चाल्यो रे॥
—व्रतावत चौपई गीति ४० गाथा ४

२. अष्टादश पुराणानां, सारं सारं समुद्धृतम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

वान् को स्वर्ग नहीं मिल सकता। यहां दान, करुणा और सेवा के आवरण में धनिकों को तीनों मंगल मिले। आदि मंगल—समाज में प्रतिष्ठा, मध्य मंगल—संग्रह और शोषण की अवधि का विस्तार हो जाना, अन्त मंगल—स्वर्ग में भी ऊंचा स्थान प्राप्त कर लेना।

सेवा और दान की अपेक्षा नहीं

दया, दान आदि के विचार सामाजिक अपेक्षाओं पर खड़े थे, पर आज के परिवर्तनशील युग में वे अपेक्षाएं बदल चुकी हैं। पिछले युग ने दानियों को उच्चता की अनुभूति से ऊपर उठने का विवेक दिया। दया, दान और परोपकार के बदले जन-जन का सेवक होकर रहने की बात कही। वर्तमान युग ने मनुष्य को वह वोध दिया है, जिससे वह किसी के द्वारा सेवा लेकर उपकृत होने की बात से हीनता की अनुभूति करने लना है। समानता व स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगा है। वह अपने जीवनयापन के लिए सेवा कराना और दान नहीं चाहता। वह अपने सामाजिक अधिकार की भूमि पर ही अपने जीवन की गाड़ी को खींचना चाहता है। जन-मानस की उद्दीप्त प्रेरणा ने सारा समाज-शास्त्र वदल डाला है। "कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने काम से इतनी अधिक आय होनी चाहिए कि हम दान-धर्म, तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय-समय पर ब्राह्मण भोज व जातीय भोज कराकर उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित कार्य कर धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है, जैसा कीचड़ में पांव रखकर पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्विक ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालों को दान-पुण्य आदि की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए। उनका काम ही यज्ञ रूप है।"[1]

महात्मा गांधी कहते हैं—विना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को खाना देना मेरी अहिंसा वर्दास्त नहीं कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहां मुफ्त खाना दिया जाता है, ऐसा प्रत्येक सदाव्रत या अन्न-छत्र वन्द करा दूं।[2]

आचार्य विनोवा भावे कहते हैं—दुनिया में विना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे संन्यासी को है। सच्चे संन्यासी को जो ईश्वर भक्ति के रंग में रंगा हुआ है—ऐसे संन्यासी को ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपर में देखने से यह भले ही मालूम पड़ता हो कि यह कुछ नहीं करता, पर अनेकों दूसरी बातों से वह समाज की सेवा करता है। ऐसे संन्यासी को छोड़कर किसी

---

१. सर्वोदय दैनिक जीवन में पृ० ४०

२. सर्वोदय दिसम्बर ३८, गान्धीवाणी पृ० १५३

को अकर्मण्य रहने का अधिकार नहीं है।[1]

आधुनिक समाज-शास्त्र में

आधुनिक समाज-शास्त्र मानता है—समाज-सेवा का अर्थ अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्था में मान्यता प्राप्त दान-पुण्य नहीं है। दान-प्रवृत्ति का आविर्भाव दया की भावना पर आधारित होता है और दया सर्वदा दुःखित और पीड़ित की सहानुभूति में पैदा होती है। जब मानव-वेदनाएं नष्ट हो जाएंगी, तब दया और दान के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा हो जाना अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं में कभी सम्भव नहीं है। प्राचीन समाज-व्यवस्था में जाति और वर्ग के भेद मूलभूत हैं। वहां निम्न वर्ग होता ही है और वही दया और दान का भाव जागृत करता है। उस समाज-व्यवस्था में दान एक अनिवार्य गुण हो जाता है और वह मनुष्य के दुःखों पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। रामायण की एक घटना वस्तु-स्थिति पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाल देती है। "राम लंका-विजय कर सीता को लेकर जब अयोध्या आए, तब एक विशेष समारोह आयोजित किया गया। राम ने एक-एक करके सभी वीरों को बुलाया और उन्हें यथोचित रूप से सत्कृत किया। आश्चर्य की बात यह रही कि राम ने सर्वोत्कृष्ट भक्त हनुमान को अपने सम्मुख नहीं बुलाया किसी सभासद के याद दिलाने पर राम मुस्कराये और हनुमान को बुलाया। सभी सभासदों की आंखें राम और हनुमान पर टिक गईं। राम ने कहा—बोलो, क्या चाहते हो? हनुमान बोले, बस यही कि सदा की भांति आपकी सेवा करता रहूं। राम बोले—हे हरि! जो कुछ भी तूने मेरे लिए किया है, वह मेरे साथ ही समूल नष्ट हो जाने दे। जो व्यक्ति दूसरे का भला करना चाहता है, वह उसका दुःख चाहता है।

दान-पुण्य और जनतन्त्र व्यवस्था

"दान-पुण्य जनतन्त्र-व्यवस्था के प्रतिकूल है, क्योंकि वह दया पर आधारित है। दया के भाव तभी जागृत होते हैं, जबकि दूसरों को अपने से हीन या निम्न समझा जाता है। जनतन्त्र में कोई ऊंचा या नीचा नहीं होता। प्राचीन अजानतान्त्रिक समाज-व्यवस्थाओं में सम्पन्न लोगों को दरिद्र लोगों पर दया करना और अपनी कमाई में से थोड़ा-सा भाग उनके लिए रख लेना, सिखलाया जाता है, जबकि दयापात्र दरिद्र लोगों को दूसरे जन्म में सुखपूर्ण जीवन का आश्वासन दिया जाता है। 'आशीर्वाद प्राप्त वे हैं, जो कि यहां शोकग्रस्त हैं, क्योंकि वे अग्रिम जन्म में

---

१. विनोबा भावे के विचार पृ० १२०

लाभान्वित किए जाने वाले हैं।' 'यहां जो अन्तिम है, वह अगले जन्म में प्रथम होगा और यहां जो प्रथम है, वह वहां अन्तिम होगा।' प्राचीन समाज-व्यवस्था जो कि समता और स्वतन्त्रता से रहित है, उसकी नीति और दर्शन के अनुसार जो उपदेश दिया जाता है वह कोई समाज-सेवा नहीं है। जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यांकन में एक दूसरे के समान है, इसलिए कल्याण का अर्थ है—सभी का समान मात्रा में कल्याण। गलियों का स्वच्छ रहना स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तो सभी गलियों को स्वच्छ रखना होगा, न कि केवल उन गलियों को जिनमें नगरपालिका के सदस्य रहते हैं। यदि चिकित्सा निशुल्क है तो वह सभी के लिए निशुल्क है।

"इस भावना को चरितार्थ करने के लिए विशेष संस्थानों की अपेक्षा है। दुनिया के कुछ विशेष भागों में तत्सम्बन्धी कुछ विशेष प्रयोग हुए हैं—स्वास्थ्य प्रवृत्तियां इस प्रकार से चलाई गई हैं, जिनमें रोगी के प्रति दया, आभार या वैषम्य नहीं वरता जाता है।

दान और मनुष्य का स्वाभिमान

"दान एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो मनुष्य के स्वाभिमान को नीचा करती है। वह पराश्रितों की संख्या बढ़ाती है। हम देखते हैं—रास्तों पर भिखारी, अपांग, रोगी सहायता के लिए चिल्लाते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे लोग हैं, जो ढोंग रचकर दान प्राप्त करने में निष्णात हो चुके हैं। ऐसी स्थितियां उस समाज में बनती हैं, जिसमें दान को पुण्य माना जाता है और परिणामस्वरूप पराश्रितता को बढ़ावा दिया जाता है। मान लिया जाए—हमारे समाज में हरेक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए कमाना होता है, पराश्रितता मान्य नहीं है। समाज के सामूहिक प्रयत्न से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य और आजीविका मिल जाती है, तो वहां दान का क्या स्थान होगा? यह क्यों आवश्यक है, एक व्यक्ति दूसरे के पास दानार्थी हो? इससे तो असमानता पनपती है, जो कि जनतन्त्र को स्वीकार नहीं है।

समाज-कल्याण का अर्थ

"दान कष्टों का नाश नहीं करता। वह दुःखी को एक क्षणिक सन्तोष देता है। जनतान्त्रिक समाज के निर्माण में हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल अन्त करना है; क्योंकि यहां सबका सुख अभीष्ट है। इसलिए सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख-निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया; अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।

मनुष्य का स्वाभिमान उस समाज में सुरक्षित नहीं रह सकता, जिस समाज में दान (Charity) अनुकम्पा (Compassion) और दया (Kindness) का ऊंचा मूल्य माना गया है। मनुष्य का स्वाभिमान केवल उस समाज में सुरक्षित रह सकता है, जहां मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक और सहयौगिक प्रयत्नों द्वारा ही होती है। सहयोग ही ऐसे समाज का आधार है और उस जन-तन्त्र में यही सर्वोत्कृष्ट गुण है।

इस प्रकार जनतन्त्र में समाज-कल्याण का अर्थ होता है—बिना किसी आभार, दया, अनुकम्पा और ऐसे किसी शास्त्रोक्त पुण्य के सामुदायिक प्रयत्नों द्वारा सामुदायिक कल्याण।[1]

समाजोपयोगिता और अध्यात्म

दान, दया और सेवा आदि समाजोपयोगी हैं, केवल इसीलिए इन्हें धर्म और अध्यात्म की कोटि में ले लेना लोक-वंचना है। करुणा प्रधान होने से ये समस्त व्यवहार आध्यात्मिक हैं, इसलिए इन्हें समाज में अधिक-से-अधिक फैलाया जाए, यह दृष्टि भी सदोष है। वर्तमान समाज-व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए व एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के लिए आभारी और अधीन बनाकर नहीं छोड़ देना चाहती। हीनता और उच्चता के पोषक समस्त व्यवहारों को वह समूल मिटा देना चाहती है। अध्यात्म का स्वरूप व्यापक है। सामाजिक लोगों को उसका पाठ देने में यह अवश्य देखना होता है, अमुक पहलू आध्यात्मिक होते हुए भी नितान्त समाज-विरोधी तो नहीं है। पिता के प्रति पुत्र का मोह और पुत्र के प्रति पिता का मोह अनाध्यात्मिक तो है ही, पर पुत्र-पालन व पितृ-सेवा मत करो, यह उप-देश तो किसी धर्म या सम्प्रदाय ने जोरों से नहीं उठाया है, इसीलिए न कि उक्त व्यवहार वर्तमान परिवार-व्यवस्था के मेरुदण्ड हैं। सुदूर भविष्य में यदि समाज किसी ऐसी व्यवस्था को अपना ले, जिसमें पारिवारिकता अपेक्षित न हो तो अध्यात्मवादियों के लिए भी दृढ़तापूर्वक यह कहने का समुचित अवसर बन जाएगा कि पितृ-राग और सन्तति-राग मिटा ही देना चाहिए।

धर्मोपदेशकों की जागरूकता

धर्म यद्यपि व्यक्ति को समस्त राग-बन्धनों से मुक्त कर मोक्ष तक पहुंचा देना चाहता है, पर मेघ शील धर्म-प्रवर्तक और धर्मोपदेशक समाज और मोक्ष के सम्बन्धों में सदा जागरूक रहे हैं। भगवान महावीर ने धर्म का आगार-धर्म और अनगार-

1. The Psychological Foundations of the State. p. 19.

धर्म, इन दो भागों में उपदेश किया है। अनगार-धर्म अध्यात्म साधना की पराकाष्ठा का जीवन है। वह साधना मुख्यतः व्यक्तिगत है। कुछ ही व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर अपने ध्येय में लीन होते हैं। उनकी माधुकरी जीवन-चर्या समाज में कोई असन्तुलन या विक्षोभ पैदा नहीं करती। भगवान् महावीर ने तो इस व्यक्तिगत साधना को सामाजिक रूप दिया। साधु अरण्यवासी होकर सर्वथा समाज निरपेक्ष नहीं होते। वे समाज के बीच में रहकर अपने आचरणों व उपदेशों से समाज को लाभान्वित करते हैं। समाज से बहुत अल्प लेते हैं और उसे बहुत अधिक देते हैं। आगार-धर्म गृहस्थों का है। उनका द्वादश व्रत रूप धर्म जितना आध्यात्मिक है, उतना समाजोपयोगी भी। इस प्रकार धर्म समाज से पृथक् होकर भी उसकी सद्व्यवस्था में एक आधारभूत नीति का रूप ले लेता है। नीति के रूप में मान्यता प्राप्त हिंसाएं क्रमशः मिटती जाएं और अहिंसा अधिकाधिक विकास पाती रहे, यही समाज और धर्म के सन्तुलित जीवन-दर्शन का एक स्वरूप है।

रक्षा और उसका विवेक

रक्षा शब्द अधिकांशतः प्राण-रक्षा के अर्थ में प्रचलित हो चला है। जीवन और मरण संसारी आत्मा के सहज स्वभाव हैं। जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर मनुष्य नवीन वस्त्र धारण करता है, आत्मा उसी प्रकार जीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन गति में नवीन शरीर धारण करती है।[1] भारतीय दर्शन में जीवन और मरण का यह लेखा-जोखा है। आत्मा अविनाशी है। उसी के ऊर्ध्व संचरण की चिन्ता यहां प्रमुख है। कसाई बकरे को मारने जा रहा है। दर्शक के हृदय में बकरे के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। वह करुणाराधक दर्शक आततायी को मार-पीटकर या प्रलोभन आदि देकर बकरे को छुड़ाता है और समझता है, मैंने अपनी करुणा का निर्वाह किया है। तत्त्व-दृष्टि में वह यथार्थ करुणा या अनुकम्पा नहीं है, मार-पीट, बलात्कार है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में—एक को चपेटा मारना और एक को पुचकारना स्पष्ट रूप से राग और द्वेष हैं।[2] धनादि देकर बकरे को बचाना अध्यात्म तो क्या लौकिक न्याय भी नहीं है। कसाई का हृदय तो बदलता नहीं, प्रत्युत वह

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
—गीता अध्याय २ श्लोक २२

२. एकण रे देरे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नो चालो, दशवैकालिक संभालो ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति २ गाथा १७

एक के बदले दो बकरों को खरीदने और मारने का शरन्जाम हो जाता है।

दया का आध्यात्मिक और लौकिक स्वरूप

दया के आध्यात्मिक स्वरूप को समझना तो कठिन है ही, सर्वसाधारण के लिए उसके लौकिक स्वरूप को समझ लेना भी सहज नहीं है। महात्मा गांधी कहा करते थे—बहुत-से लोग चींटियों को आटा डालकर सन्तोष मानते हैं। ऐसा मालूम होता है, मानो आजकल की जीव-दया में जान ही नहीं रही। धर्म के नाम पर अधर्म चल रहा है, पाखण्ड फैल रहा है।[1]

प्राण-रक्षा के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने साधन-शुद्धि पर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—यह तो कहीं नहीं लिखा कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।[2]

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की पीठ में छुरा भोंक रहा है, ऐसे प्रसंग पर महात्मा गांधी कहते हैं, "तो क्या हमें भी अपराधी की पीठ में छुरा निकालकर भोंक देना चाहिए? मैं समझता हूं यह रास्ता भी गलत होगा। हमारे लिए एकमात्र ठीक रास्ता यही होगा कि दुष्टता करने वाले से कहें कि वह निर्दोष रक्त से हाथ न रंगे और यदि ऐसा करते समय हम स्वयं उसके कोप-भाजन बन जाएं तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए।"[3]

साध्य और साधन का विचार

यहां साधन का विचार है, पर जिस व्यक्ति को बचाया जा रहा है, उस साध्य का नहीं। आचार्य भिक्षु के मन्तव्यानुसार उस प्राण-रक्षा को परम विशुद्ध और आध्यात्मिक रखने के लिए रक्षणीय पात्र का भी विवेक परम अपेक्षित होता है। जिसे हम बचा रहे हैं, वह संयति है या असंयति, व्रती है या अव्रती, त्यागी है या भोगी इन तथ्यों के आधार से ही की गई प्राण-रक्षा की लौकिकता और लोकोत्तरता आंकी जा सकती है। दान देते समय दाता और देय वस्तु की विशुद्धता भी जिस प्रकार अपेक्षित है उसी प्रकार पात्र की विशुद्धता भी। प्राण-रक्षा के सम्बन्ध में रक्षक की अभिप्राय-शुद्धता व साधन की अहिंसात्मकता जिस प्रकार अपेक्षित है, उसी

---

१. हरिजन बन्धु ता० २६-५-४३
२. हिन्द स्वराज्य पृ० ७६
३. हिन्दुस्तान दैनिक

प्रकार रक्षित पात्र की संयमशीलता भी। गृहस्थ का शरीर अधिकरण अर्थात् जंगम, स्थावर प्राणियों के विनाश का शस्त्र है।[1] उसका संरक्षण या पोषण अध्यात्म-गत कैसे हो सकता है? गृहस्थ के जीवन में त्याग की अनिवार्यता नहीं, भोग तो अवश्यम्भावी है ही। असंयत प्राणी के संरक्षण में योग देना असंयम में ही योग देना है।

महात्मा गांधी कहते हैं—जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता है, तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।[2] महात्मा गांधी का यह चिन्तन एक स्थूल घटना पर अभिव्यक्त हुआ है, इसलिए सहजतया बुद्धिगम्य होता है। आचार्य भिक्षु का मन्तव्य जीवन-व्यवहार की सूक्ष्मता में प्रकट हुआ है, अतः सर्वसाधारण के लिए सहजगम्य नहीं होता। परन्तु असंयमी पुरुष के जीने में योगभूत होना और किसी डाकू या सैनिक के कार्य में योगभूत होना चिन्तन की एक ही दिशा के उदाहरण हैं।

दो मर्यादाएं

साधारण दृष्टि में यह अवश्य आता है, आचार्य भिक्षु की करुणाधारा मानो चलते-चलते रुक ही गई हो। उसके व्यापक प्रसार के लिए कोई विस्तृत अवकाश नहीं रह गया है। प्राण-रक्षा अहिंसात्मक साधनों से हो, संयति पुरुष की हो; ये दो ऐसी संकीर्ण मर्यादाएं हैं, जिनके बीच से इने-गिने लोग ही गुजर सकते हैं। परन्तु आचार्य भिक्षु की दया और अनुकम्पा अपनी परम विशुद्धि के साथ ही सहसा एक

---

१. सूत्र भगवती ने विषै, सप्तम सतके भेव।
प्रथम उद्देशा नें विषै, दाख्यो श्री जिनदेव॥
सामायक मांहें कही, श्रावक नी संपेख।
आतम ते अधिकरण इम, प्रगट पाठ में लेख॥
शस्त्र जे षट्काय नो, अधिकरण कहिवाय।
तसु तीखो कीधां छतां, धर्म पुण्य किम थाय॥
—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध अ० २६, दुहा ६७-६६

२. गांधीजी, खण्ड दस, अहिंसा प्रथम भाग पृ० ४

ऐसा मार्ग पकड़ लेती है, जो पूर्ण यौक्तिक, पूर्ण यथार्थ और सर्वाधिक व्यापक है। उनका मन्तव्य है—एक आदमी चोरी कर रहा है, बलात्कार कर रहा है या अन्य कोई दुराचरण कर रहा है; सही करुणा तो उस व्यक्ति की पतनोन्मुखता के प्रति होनी चाहिए। उसकी दुर्वृत्ति से आक्रान्त होने वाला व्यक्ति तो सहजतया ही वच जाता है, जवकि हम उस दुराचारी की आत्मा को उस आत्म-हनन से वचा लेते हैं। कसाई वकरे को मारता है। वकरे का प्राण-घात होता है, पर आत्म-पतन नहीं। वह यहां से मरकर और किसी श्रेष्ठ योनि को भी प्राप्त कर सकता है। पर वधिक का अधोगमन तो निश्चित है ही। इस स्थिति में हमारा प्रथम करुणा-पात्र तो वधक ही होना चाहिए। वधक को पापाचरण से वचा लेने में वध्य का वच जाना तो सहज है ही। इस करुणा में वध्य का हित विघटित नहीं होता और वधक की करुणा हो जाती है। जन-संस्कार सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। 'वचाओ और रक्षा करो' का ही उद्घोष सर्वोपरि हो रहा है। वधक की करुणा से 'मत मारो' का उद्घोष प्रस्फुटित होता है। 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की वात अधिक यौक्तिक और व्यापक है। 'बचाओ' को ध्येय मानने में, 'मारते रहो' का भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी-वध परम्परा मिटती नहीं। समाज में दो वर्ग हो जाते हैं, एक मारनेवाला, दूसरा बचानेवाला। 'मत मारो' के उद्घोष को व्यापक करने में समस्या का अन्त निकट होता है।

तीन दृष्टान्त

अहिंसा और धर्म व्यक्ति को पापाचारण से बचाने में सफल होते हैं। आचार्य श्री भिक्षु के तीन दृष्टान्त इस विषय में वहुत यथार्थ हैं।[1]

१. एक दुकान के एक भाग में साधुजन ठहरे हुए थे। रात्रि के निस्तब्ध अन्धकार में चोर आए। धनवान् की तिजोरियों पर छापा मारा। चुपचाप धन निकालकर चलने लगे। साधुओं की नींद टूटी। देखा, चोर धन लिए जा रहे हैं। साधु दरवाजे पर आ खड़े हुए। चोर भी सकपकाए, पर देखा सन्त पुरुष हैं, इनसे हमें कष्ट नहीं होना है। साधुओं ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी और व्यक्तित्व से प्रभावित चोर विना कुछ आगा-पीछा सोचे उपदेश श्रवण में लीन हो गए। समय की वात थी। तीर खाली नहीं गया। धन की नश्वरता, पर-पीड़न के दुःखावह परिणामों को सुनकर वे चोर सज्जन हो गए। भविष्य में कभी चौर्य कर्म करने का व्रत ले लिया। सवेरा होते-होते धनवान् अपनी दुकान पर पहुंचा। सारा हाल देखकर अवाक् रह गया। चोरों ने कहा—सेठजी, डरने की

१. अनुकम्पा गीति ५ गाथा १-१०

बात नहीं है। साधुजी ने हमें और आपको; दोनों को वचा लिया है, आपकी धन-क्षति बची है और हमारा आत्म-पतन बचा है। सेठ साधुजनों के चरणों में गिर पड़ा और अपनी हार्दिक कृतज्ञताएं व्यक्त करने लगा।

यहां साधुओं की प्रवृत्ति से दो परिणाम निष्पन्न हुए हैं--चोरों की आत्मा पापाचरण से बची है और सेठ का धन चोरी होने से वचा है। धर्म क्या है, पहला परिणाम या दूसरा ?

२. एक कसाई कुछ बकरों को साथ लिए कसाईखाने की ओर जा रहा था। संयोगवश साधुओं से साक्षात्कार हो गया। साधुओं ने उपदेश दिया—तुम्हारा प्राण-वियोजन तुम्हें जैसा लगता है, इन वकरों को भी अपना प्राण-वियोजन वैसा ही लगता है। क्यों इस तुच्छ जीवन के लिए निरपराध प्राणियों की हत्या से अपने हाथ रंगते हो। और भी तो अनेकों आजीविकाएं हुआ करती हैं। कसाई को बात लग गई। जीवन-भर के लिए तथारूप निर्मम हत्या का प्रत्याख्यान कर लिया।

यहां भी कसाई की आत्मा पापाचरण से बची और बकरे अपने प्राण-वियोजन से।

साधारणतया लोग कहेंगे, चोरों और कसाई की आत्मा बची, वह भी धर्म और धन और बकरे सुरक्षित रहे यह भी धर्म। इस लोकमत को अयथार्थ प्रमाणित करने के लिए तीसरा उदाहरण दिया गया है।

३. राजमार्ग पर अवस्थित किसी एक दुकान पर साधु ठहरे थे। रात्रि के सन्नाटे में कुछ लोग उन्मत्त गति से चले जा रहे थे। साधुओं ने समझ लिया, वेश्यागामी लोग हैं। अकस्मात् उनकी दृष्टि भी उन पर पड़ी। सबने प्रणाम किया। साधुओं ने अवसर पाकर वर्तालाप प्रारम्भ कर दिया। बात वही निकली जो साधुओं की कल्पना में थी। धर्मोपदेश लगा। सबकी आंखें खुल गईं। अपने प्रति ग्लानि हुई। सदा के लिए व्यभिचार का परित्याग कर लिया। प्रतीक्षा में बैठी हुई वेश्या ऊब गई। वह उनके रास्ते पर चल पड़ी। जहां सब लोग थे, वहां पहुंच गई। उसके प्रेमी प्रणबद्ध हो चुके थे। उसे अत्यन्त निराशा हुई। साधुओं पर और अपने प्रेमियों पर झल्लाती हुई पास के एक कुएं में जा गिरी।

यहां भी साधुओं के उपक्रम से दो फलित निकले। विषयी लोगों की आत्मा उन्नत हुई और प्रेमिका कुएं में जा गिरी। धन का बच जाना और बकरे का बच जाना यदि धर्म है तो प्रेमिका का मर जाना क्या साधुओं के लिए पाप-बन्ध का हेतु होगा ? सारांश; चोर कसाई और व्यभिचारी लोगों का आत्म-उत्थान धर्म है। शेष परिणाम उपदेश प्रवृत्ति के अवान्तर फलित रूप हैं। उनसे उपदेशक पुण्यभाक् या पापभाक् नहीं बनता।

साधुओं की प्रवृत्ति पापोन्मुख व्यक्तियों को इस भवसिन्धु से तारने की थी, न कि धनादि बचाने की या वेश्या को मारने की। जीवों का सहज जीना और मरना दया या हिंसा नहीं है। मारने की प्रवृत्ति से व्यक्ति हिंसक होता है और नहीं मारने की प्रवृत्ति से दयाशील।[1] कोई आम, नीम आदि वृक्षों को काट गिराने का त्याग ले लेता है, यह धर्म है, पर वे वृक्ष खड़े रह जाते हैं, वह धर्म नहीं है।[2] कोई लड्डू, घेवर आदि खाने का त्याग ले लेता है, यह संयम है, धर्म है, पर वे मिष्टान्न बचे रहे, वह धर्म नहीं है।[3]

आचार्य श्री भिक्षु के हृदय में लोक-अज्ञान के प्रति एक व्यथा थी। उनका कहना था—दया-दया सभी कहते हैं और दयाधर्म उत्तम भी है, पर मोक्षोन्मुख वे ही लोग हैं, जिन्होंने दया के हार्द को पा लिया है।[4] अनुकम्पा के नाम में ही केवल नहीं भटक जाना चाहिए, उसकी अन्तर्दृष्टि से परीक्षा करनी चाहिए।[5] गाय और भैंस का भी दूध होता है और आक व थोहर का भी। आक और थोहर के दूध को पीने से मृत्यु ही होती है। इसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा कर्म-बन्ध का कारण ही होता है।[6]

---

१. जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे हो ते दया गुणखाण।।
—अनुकम्पा चौपई गीति ५ गाथा ११

२. निम्ब अम्बादिक विरष नो, किण ही किधो हो वाढ़ण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव तणी, वृक्ष उभो हो तिणरो धर्म केम।।
—अनुकम्पा चौपई, गीति ५ गाथा १२

३. लाडू घेवर आदि पकवान नें, खाणा छोड़्या हो आतम आणी तिण ठाय।
वैराग बढ़्यो तिण जीव रे, लाडू रह्यो हो तिण रो धर्म न थाय।।
—अनुकम्पा चौपई गीति ५ गाथा १४

४. दया-दया सहु को कहे दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यांरे मुगत नजीक।।
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ दुहा १

५. भोलेई मत भूलज्यो अनुकम्पा रे नाम।
कीजो अन्तर पारखा ज्यूं सीझे आतम काम।।
—अनुकम्पा चौपई गीति १ दुहा ४

६. गाय भैंस आक थोहर नो ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणजो राखे मन में सूध।।
—अनुकम्पा चौपई गीति १ दुहा २

अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा

मिश्र धर्म का विचार

अहिंसा के क्षेत्र में मिश्र-धर्म का विचार भी बहुत चिन्तनीय है। सामाजिक मनुष्य की अनगिन प्रवृत्तियां तो ऐसी ही हैं, जिनमें हिंसा भी है और लोकोपकार भी। ऐसी प्रवृत्तियां सामान्य विचारक के मन में सहसा भ्रम पैदा कर देती हैं। उन्हें धर्म-कार्य कहने में अहिंसा का सिद्धान्त टूटता है और पाप-कार्य कहने में करुणा और लोकोपकार का सिद्धान्त। जो लोग यह कहने के लिए तत्पर नहीं होते थे कि थोड़ी हिंसा में यदि अधिक लोगों का लाभ है तो वह पुण्य-कार्य ही है, उन्होंने ऐसी प्रवृत्तियों को मिश्रधर्म के नाम से कहा। किसी क्षुधातुर व्यक्ति को मूला खिला देने में वनस्पति के जीवों की हिंसा हुई, वह पाप है और व्यक्ति को सुख मिला, वह धर्म है।[1] कूप और वापी के निर्माण में पृथ्वी, जल आदि के जीवों की हिंसा है और तृषातुर लोगों को जल-पान से सुख मिला, वह धर्म है।[2]

देखने में यह विचार कितना ही संगत लगे, पर अहिंसा के चिन्तन में अधिक स्थायी नहीं हो सकता। सिद्धान्त वह है, जो आदि से अन्त तक खरा उतरे। मूला खिलाने और कुआं-बावड़ी बनाने के उदाहरण को यदि हम अन्य उदाहरणों के साथ परखें तो उसकी अयथार्थता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

१. सौ व्यक्तियों को मूला, गाजर आदि खिलाकर बचाया।
२. सौ व्यक्तियों को सचित्त (सजीव) पानी पिलाकर बचाया।
३. सौ व्यक्तियों को अग्नि-ताप देकर बचाया।
४. सौ व्यक्तियों को हुक्का पिलाकर बचाया।
५. सौ व्यक्तियों को पशु-मांस खिलाकर बचाया।
६. सौ व्यक्तियों को पशुओं के मृत कलेवर खिलाकर बचाया।
७. सौ व्यक्तियों को 'ममाई' करके अर्थात् रक्तौषधि के उपचार विशेष से बचाया।[3]

---

१. पाप लागो मूलां तणो, धर्म हुओ हो खाधां बचीया एह।
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा १

२. कहे कुवा वाव खणावविया, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीये कुसले रह्या, साता पांमी हो तिणरो हुवा धर्म॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गा० २

३. अनुकम्पा चौपई गीत ७ गाथा ५-१०

हिंसा की उन्मुक्तता

अल्प हिंसा और अधिक रक्षा के विचार को यहां हिचकना पड़ता है। उक्त सभी कार्यों में धर्म कहने का साहस नहीं हो सकता। एक मनुष्य को मारकर उसके रक्त-दान से सौ मनुष्यों को बचा लेने की बात अहिंसा और धर्म के क्षेत्र में तो लेशतो भी नहीं आ सकती। साध्य की विस्तृतता में यदि साधन को नगण्य और गौण न बनाते हैं तो जीवन-व्यवहार के कुछ एक प्रसंग उलझन भरे मालूम पड़ने लगते है, पर साध्य की विस्तृतता में साधन शुद्धि की बात को एक ओर छोड़ देने में तो अहिंसा का कोई स्वरूप ही नहीं टिकता। समाज में प्रयोजन-सिद्धि के लिए हिंसा मुक्त होकर खेलेगी और उसके साथ असत्य और असदाचार भी। आचार्य श्री भिक्षु कहते हैं—कुछ जीवों की हिंसाकर कुछ जीवों को बचाने में यदि पाप अल्प और धर्म अधिक है, तब तो हिंसा की तरह समग्र प्रकार के पाप कार्य भी इस धर्म के साधन रूप हो जाएंगे।[1] कोई असत्य बोलकर जीव बचाएगा तो कोई चोरी करके। कोई अब्रह्मचर्य-सेवन से जीव बचाएगा तो कोई धनादि के प्रलोभन से।[2] दो वेश्याएं कसाईखाने पर गई। वहां होनेवाला जीव-संहार देखा। एक ने अपना समस्त गहना देकर सहस्र जीव बचाए। दूसरी ने अपना शील खोकर सहस्र जीव बचाए। अहिंसावादी और हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखनेवाला साधननिष्ठ व्यक्ति यहां क्या कहेगा?[3] अल्प हिंसा और अनल्प रक्षा के विचार से तो सिंह और कसाई जैसे हिंसकों को जहां देखे वहीं मारे, यह कोई बड़ा धर्म हो जाएगा।[2]

---

१. जो हिंसा करे जीव राखीयां, तिणमें होसी हो धर्म नें पाप दोय।
तो इम अठारेइ जांणजो, ए चरचा में हो विरलो समझे कोय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २३

२. जीव मारे झुठ बोल नें, चोरी करने हो पर जीव बचाय।
वले करे अकार्य एहवा, मरता राख्या हो मइथुन सेवाय॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २१

३. दोय वेस्या कसाइवाड़े गइ, करता देख्या हो जीवां रा संधार।
दोनूं जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोड़ाया इण विधे, एकां दोयां हो चौथो आश्रव सेवार॥

—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ५१-५२

आचार्य अमृतचन्द्र कहतेहैं—इस एक ही जीव को मारने से बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए ? और न बहुत जीवों के घाती ये जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप उपार्जन करेंगे इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को मारना चाहिए।[१]

महात्मा गांधी ने भी ऐसे प्रश्नों पर सोचा है। वे कहते हैं—मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए तो मुझे क्या करना चाहिए ? मैं उसे मार डालूं या उसके पैर पकड़कर उसे ऐसा न करने की प्रार्थना करूं। अगर आप कहें कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।[३]

सांप और पड़ोसी

एक बार महात्मा गांधी से यह पूछा गया—आदमी अपनी प्राण-रक्षा के लिए सर्प आदि हिंस्र प्राणियों को मारे, यह हिंसा हो सकती है, पर जो मनुष्य अनेक मूल्यवान् प्राणियों को बचाने के लिए सर्प आदि को मारे तो वह हिंसा नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि यदि उसे हम नहीं मारते हैं तो वह अनेकानेक प्राणियों के प्राण लेता ही रहता है।

महात्माजी ने इसके उत्तर में कहा—यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले सांप को नहीं मारूंगा तो वह जरूर ही अनेक आदमियों और स्त्रियों की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे कर्तव्य का अंग नहीं कि मैं तमाम विषैले जन्तुओं को ढूंढ़-ढूंढ़कर मारता फिरूं। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलने-वाले विषैले सांप को यदि मैं नहीं मारूंगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस सांप और मेरे पड़ोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिए। यदि मैं अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही सलूक करूं, जैसे सलूक की आशा

---

१. कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्यां हो घणा जीव अनेक।
जो गिणें दोयां नें सारिषा, त्यांरी बिगड़ी हो सर धा बात ववेक॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा २७

२. रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसा हिंस्रसत्वानाम्।
बहुसत्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥

३. हिन्द स्वराजय पृ० ७६

मैं उनसे करता हूं। यदि मैं उनको किसी ऐसे बड़े खतरे में नहीं डालता, जिससे मैं हूं, तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया। इसलिए जैसा अक्सर किया जाता है, मैं उस सांप को अपने पड़ोसी के हाते में नहीं छोड़ंगा। अधिक-से-अधिक यह मैं कर सकता हूं कि सांप को जितना एक तरफ छोड़ा जा सके उतना छोड़कर अपने पड़ोसियों को इस बात की सूचना कर दूं। मैं जानता हूं कि इससे मेरे पड़ोसियों को न तो कोई आराम मिलेगा न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुंह में खड़े रहकर सत्य की राह ढूंढ़ रहे हैं।[1]

इन्द्रियवाद को मान्यता

हिंसा और अहिंसा के बीच में इन्द्रियवाद को भी लोगों ने एक मानदण्ड मान लिया है। एकेन्द्रिय आदि जीवों की पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा और भोगोपभोग के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा ही है; क्योंकि पंचेन्द्रिय जीव अधिक पुण्यशील और सृष्टि के ऊंचे प्राणी होते हैं।[2] अहिंसा के विवेक में यह विचार नितान्त मिथ्यात्व पूर्ण है। एक ओर प्राणीमात्र की समानता का यथार्थ आदर्श और दूसरी ओर इन्द्रियाधिक्य का यह भेद-निरूपण किसी प्रकार संगति नहीं पा सकते। अहिंसा सर्वभूत कल्याणकारी है।[3] उसके साम्राज्य में प्राणीमात्र समान हैं। स्थावर और जंगम, सूक्ष्म और बादर, एकेन्द्रिय और अधिकेन्द्रिय की उच्चावचता वहां मान्य नहीं है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, यह विचार भी लोकमत का विषय बन गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता इतर प्राणियों के बीच विभिन्न अपेक्षाओं से ही है, परन्तु जीवमात्र की जिजीविषा अपना स्वतन्त्र मूल्य रखती है; वहां एक के लिए दूसरे का वध मान्य नहीं हो सकता। अन्य प्राणियों की अपेक्षा में जिस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी अनेकों निकृष्ट और अनेकों श्रेष्ठतर और श्रेष्ठ-तम हैं। इन्द्रियवाद की तरह यहां भी एक के वध और एक की रक्षा में यह तरतम-वाद मान्य करना होगा। ऊंचे लोगों के लिए निम्न लोगों की हिंसा भी अहिंसा बन जाएगी। बहुत बार दो में एक के वध की अनिवार्यता उपस्थित होने पर एक का

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८५-८६

२. केइ कहे म्हे हणां एकेंद्री, पंचेंद्री जीवां रे तांइ जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां, धर्म घणों तिण मांहि जी ॥
एकेंद्री थी पंचेंद्री नां, मोटा घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां म्हांने पाप न लागे लिगारी जी ॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ९ गाथा १९-२०

३. अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी

वध स्वीकार किए विना लोक-व्यवहार नहीं चलता। गर्भिणी स्त्री और गर्भ में एक की मृत्यु अनिवार्य होने पर डाक्टर और घर के लोग गर्भिणी की रक्षा को प्राथमिकता देते हैं। यह लोक नीति है। गर्भस्थ प्राणी अल्प वयस्क और अजनवी है। गर्भिणी परिवार की एक चिरन्तन सदस्या है। उसके रहते दूसरी सन्तान होने की भी आशा है, पर यह विचार अध्यात्म और अहिंसा का अंग तो नहीं वन सकता। यही लोक-नीति मनुष्य और इतर प्राणियों के बीच में वरती जाती है। अग्नि, पानी, वनस्पति आदि के स्थावर प्राणियों की हिंसा कर गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशुओं को पाला जाता है और मनुष्य की अपेक्षा पशु-वध को कर्तव्य कहा जाता है। अहिंसा में छोटे और वड़े का भेद नहीं होता और जहां इन्द्रिय, उपयोगिता आदि के भेद हैं, वहां अहिंसा टिक नहीं सकती।

अहिंसक का उद्देश्य

अहिंसक का उद्देश्य तो हिंसा से सर्वथा मुक्त होने का है, पर अपनी साधनावस्था में विभिन्न हिंसाओं में से वह कुछ हिंसाओं का चुनाव करता है। अध्यात्म वह है, जो उसमें अहिंसा का विकास हुआ है। हिंसामात्र मनुष्य की दुर्वलता है। गांधीजी ने अपने शब्दों में कहा है—हिंसा के विना कोई देहधारी प्राणी जी नहीं सकता। जीने की इच्छा छूटती ही नहीं है। अनशन करके छूटने की इच्छा मन को नहीं है। देह अनशन करे और मन अनशन न करे तो यह अनशन दम्भ में खपेगा और आत्मा को अधिक वन्धन में डालेगा। ऐसी दयावनी स्थिति में जीने की इच्छा रखता हुआ जीव भला क्या करे? कैसी और कितनी हिंसा अनिवार्य गिने? समाज ने कितनी ही हिंसाओं को अनिवार्य गिनकर व्यक्ति को विचार करने के भार से मुक्त किया। तो भी प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अपना क्षेत्र जानकर उसे नित्य छोटा करने का प्रयत्न तो करना वाकी रहा ही है।[1]

मिश्र धर्म पर दो और उदाहरण

मिश्र धर्म पर आचार्य भिक्षु ने सिंह और कसाई के अतिरिक्त दो उदाहरण और दिए। भयंकर सर्प है, चूहों को खाता है, मनुष्यों को डसता है, वहुत सारे पक्षियों के घोंसले उजाड़ देता है, किसी व्यक्ति ने म्रियमाण जीवों की अनुकम्पा कर सर्प को मार डाला। क्या यह भी मिश्र धर्म होगा?[2]

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १०६

२. तीजो दृष्टान्त स्वामी दियो रे, उरपुर एक अजोगो।
घणा ऊंदरां रा गवका करे रे, मनुष्य पहुंचावै परलोको।

कोई पुरुष भयंकर जंगलों में आग लगा देता है, गांव-नगरों को उजाड़ देता है, अनेकानेक जीवों के प्राण लेता है, किसी ने यह सोचकर कि इस एक दुष्ट को मार देने से सबका बचाव होगा, उसे अचानक मार डाला। यदि मिश्र धर्म का सिद्धान्त यथार्थ है तो इस नर-हत्या को भी धर्म व पुण्य का हेतु मानना होगा।[1]

साधारण जीव-जन्तु और मनुष्य का भरण-पोषण

आचार्य भिक्षु से किसी ने पूछा, साधारण जीव-जन्तु तो मनुष्य के भरण-पोषण के लिए ही सरजे गए हैं, इन्हें मारने में क्या दोष ? आचार्य भिक्षु ने कहा, इसका अर्थ है—तुम भी किसी शेर के खाने के लिए बनाए गए हो। ऐसा मौका आ पड़ने पर तुम कोई प्रतिकार नहीं करोगे ? बिना किसी ननुनच के सिंह के मुंह में चले जाओगे ?

व्यक्ति—ऐसा तो मैं नहीं करूंगा।

आचार्य भिक्षु—क्यों ?

व्यक्ति—मुझे मरने का भय लगता है।

आचार्य भिक्षु—सभी जीवों को अपने जैसा ही समझ। मरना कोई नहीं

मनुष्य मार परलोक पहुंचावै, घणा पंख्यां ना अण्डा पिण खावै।
सर्प घणा जीवां सतावै, उत्कृष्टे धूमप्रभा लग जावै जी॥
किण ही विचार इसो कियो रे, सर्प घणा ने सतावै।
एक सर्प मारचां थकां रे, जीव घणा सुख पावै।
जीव घणा सुख पावै सुजाणी, अनुकम्पा बहु जीवारी जाणी।
सर्प मार बचाया बहुप्राणी, लाय बुझायां कहे मिश्र वाणी।

—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ७-८

१. चौथो दृष्टांत स्वामी दियो रे, कोई पुरुष नो एहवो आचारो।
बाप मुवां पहली कह्यो रे, काल करंतां तिणवारो॥
काल करतां सुत कही थी वाणों, सुखे तुम्हारा निसरो प्राणो।
थां लारै अटव्यादिक बालस्यूं जाणो, घणा ग्राम नगर कर स्यूं घमसाणो जी।
मनुष्य ढांढा घणा मारस्यूं रे, बाप ने एहवो सुणायो।
पिता पहुंतो परलोक में रे, पछै करवा लागो सहु तायो॥
करवा लागो छै जीवां रो घमासाणो, किणहिक मन में विचारचो जाणो।
एक मारचां सूं बच बहू प्राणो, इम चिन्तव ते पुरुष ने मारचो अचाणो जी॥

—भिक्षुजसरसायन गीतिका २० गाथा ९-१०

चाहता।[1]

इसी प्रकार के एक प्रश्न पर गांधीजी लिखते हैं—मुझे यह दलील नास्तिक-सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियों को इसलिए बनाया है कि मनष्य सहज आनन्द के लिए या अपने शरीर के पोषण के लिए उन्हें मारता रहे, जो निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है।[2]

हिंसा के बिना धर्म नहीं होता ?

आचार्य भिक्षु के पास लोक विचित्र प्रश्न घड़कर लाते। वे भी उनका घड़ा-घड़ाया उत्तर देते। किसी एक व्यक्ति ने कहा, हिंसा किए बिना धर्म भी नहीं बन पड़ता। मान लीजिए—दो श्रावक थे। एक को अग्नि समारम्भ का त्याग था, दूसरे को नहीं। दोनों ने चने खरीदे। एक ने उन्हें भूनकर भूंगड़े बना लिए। एक के पास यों ही रखे थे। भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए साधु आए। जिसके पास भूंगड़े थे, उसे सुपात्र दान का योग मिला और तीव्र हर्ष से उसने तीर्थंकर गोत्र बांधा। जिसके पास कच्चे चने थे, वह यों ही देखता रहा। इसलिए यह सत्य है कि धर्म की निष्पत्ति में कुछ-न-कुछ हिंसा अपेक्षित होगी ही और वह धर्म हेतु हो जाने के कारण धर्म ही मानी जाएगी।

आचार्य भिक्षु ने तत्काल उत्तर दिया—मान लो, दो श्रावक थे। एक ने सदा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया, दूसरा यों ही रहा। अब्रह्मचर्य के सेवन से उसके पांच पत्र उत्पन्न हुए। साधु गांव में आए। उपदेश सुनकर दो बड़े पुत्रों को वैराग्य हुआ। पिता ने सहर्ष उन्हें संयम-ग्रहण की आज्ञा दी। उस हर्ष में उसने तीर्थंकर गोत्र बांधा। यहां अब्रह्मचर्य भी धर्म का कारण बना। यदि हिंसा धर्म होगी तो अब्रह्मचर्य भी धर्म होगा और निष्कर्ष रूप में ब्रह्मचारी की अपेक्षा भोगी व सन्तानोत्पादक पुरुष श्रेष्ठ होगा; क्या इस बात को कोई भी विचारक मानेगा ?[3]

राजाज्ञा और अहिंसा

'अमारीपड़ह'

राजा अपने राज्य में 'अमारीपड़ह' बजवाता है अर्थात् घोषणा करवाता है—राज्य में कोई पशु-बध मत करो। इस घोषणा का उल्लंघन करनेवाला सजा पाता

---

१. भिक्खु दृष्टान्त सं० २३६

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८६

३. भिक्खु दृष्टान्त सं० २१०

है। यह प्रथा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से रही है। यवन सम्राटों के इतिहास में भी धर्माचार्यों की प्रेरणाओं से ऐसी राजाज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। राजा श्रेणिक के द्वारा 'अमारीपड़ह' बजवाने का उल्लेख जैन आगमों में आता है।[1] आजकल भी भारतवर्ष में गोवध को अपराध घोषित करने का वृहत् आन्दोलन चल रहा है। ऐसी राजाज्ञाएं अहिंसा की कोटि में आ जाती हैं अथवा ये केवल लोकनीति का अंग बनकर ही रह जाती हैं; यह एक जिज्ञासाओं को उभारने वाला विषय है।

अहिंसा व्यक्ति की भावनाओं से प्रस्फुटित होती है। वहां विवशताएं लेशतोपि नहीं टिक सकतीं। राजाज्ञा बल-प्रयोग का एक ज्वलन्त अंग है। बल-प्रयोग में न अहिंसा है, न धर्म है। आचार्य भिक्षु कहते हैं—कोई व्यक्ति मूला, गाजर आदि अनन्तकायिक वनस्पति खा रहा है, सचित्त जल पी रहा है, कोई दूसरा व्यक्ति आया और उसने ये सारी वस्तुएं उससे छीन लीं। बिना मन के कराये गए त्याग, धर्म और अहिंसा के अन्तर्गत नहीं आते। भोगातुर व्यक्तियों के भोग-लाभ में अन्तराय देने से महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। यह दशाश्रुतस्कन्ध में स्पष्ट बताया है।[2]

महात्मा गांधी कहते हैं—मछली खानेवाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने में बहुत ज्यादा हिंसा है। जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता है। बलात्कार अमानुषी कर्म है।[3]

रेवती और मांस-भक्षण

राजाज्ञा के भंग में दंड का भय है। जहां भय होता है, वहां अहिंसा नहीं होती। वह स्फटिक की तरह पवित्र होती है। वह लोभ, ईर्ष्या, कालुष्य आदि किसी दुर्गुण के साथ नहीं ठहरती। वह स्वयं अभय है और दूसरों के लिए अभय है। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा में महाशतक श्रावक की मदविह्वला पत्नी रेवती ने छद्म-रीति से अपने ही गोवर्ग से प्रतिदिन दो-दो बछड़े मरवाए और उनका

१. उपासकदशांगसूत्र अ० ८, प्रश्नव्याकरणसूत्र

२. मूला गाजर ने काचो पाणी, कोई जोरी दावे ले खोसी रे।
जे कोई वस्त छोड़ावै बिना मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगीना कोई भोगज रूंधे, वले पाड़े अन्तरायो रे।
महामोहणी कर्मज बान्धे दसाश्रुतखंध मांहि बतायो रे॥

—व्रताव्रत ढाल १ गाथा ३३-३४

३. हिन्दुस्तान

मांस खाया।[1] राज-भय से यदि वह ऐसा न भी करती तो क्या वह अहिंसा का पालन करती ? कायिक हिंसा भले ही न हो, मन से तो वह घोर हिंसा करती ही होती। उस राजकीय नियन्त्रण में रहकर भी व्यक्ति स्वयं के आचरण में अहिंसा की परिणति कर सकता है, यदि उसका विवेक प्रबुद्ध हो; वह उस नियन्त्रण को विवशता से ग्रहण नहीं करता। वह तो एक स्थूल निमित्त मात्र रह जाती है। वह अपनी अहिंसा-निष्ठा से और अपने जागृत विवेक से अहिंसा का पालन करता है। उसके हृदय में विवशता जैसी कोई अनुभूति ही नहीं होती, परन्तु राज्य-बल अर्थात् सैनिक बल पर आधारित आदेश आदेष्टा को अहिंसक नहीं होने देता, भले ही उसके राज्यांकुश के कारण कितने ही जीव बच गए हों। अमारी घोषणा, गोवध-निषेध आदि लोक-नीति के विषय हैं। जैसे बच्चे को डरा-धमकाकर भी क, ख सिखलाया जाता है और उसके भविष्य को सुधारा जाता है, इसी प्रकार ऐसे अधिनियमों से भविष्य में हिंसा के संस्कार घटें, यह सोचा जाता है। पिता अपने पुत्र को मार-पीटकर भी और बन्धन में डालकर भी धूम्रपान, मद्यपान व वेश्या-गमन आदि से बचाता है। वह अहिंसा का आचरण तो नहीं, पर लोक-नीति का आचरण अवश्य कहा जा सकता है। 'अमारीपड़ह' का भी समाज में यही औचित्य सोचा जा सकता है।

सम्राट् अशोक का शासन काल

अमारी घोषणा भी धर्म और अहिंसा का अंग हो सकती है, यदि वह मात्र धर्म प्रेरणा ही हो। उसका स्वरूप आदेशात्मक न होकर उपदेशात्मक ही हो। सम्राट् अशोक के शासन में उपदेशात्मक और नियन्त्रणात्मक दोनों ही प्रकार काम में लिए जाते थे—विक्रमीय संवत् पूर्व १८६ में उसने जीव-रक्षा के सम्बन्ध में बड़े-बड़े नियम बनाए। यदि किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी मनुष्य इन नियमों को तोड़ता था तो उसे बड़ा कड़ा दण्ड दिया जाता था। कुल साम्राज्य में इन नियमों का प्रचार था। इन नियमों के अनुसार कई प्रकार के प्राणियों का वध बिल्कुल ही बन्द कर दिया गया था। जिन पशुओं का मांस खाने के काम में आता था, उनका वध यद्यपि बिल्कुल तो बन्द नहीं किया गया तथापि उनके सम्बन्ध में बहुत कड़े-कड़े नियम बना दिये गए, जिससे प्राणियों का अन्धाधुन्ध वध होना रुक गया। साल में छप्पन दिन तो पशु-वध बिल्कुल ही मना था।[2]

सम्राट् अशोक के एतद्विषयक अधिनियमों का एक ब्यौरा इस प्रकार है—

---

१. उपासकदशांगसूत्र अध्ययन ८

२. अशोक के धर्म-लेख पृ० ५१

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों को अवध्य कर दिया है, जैसे सुक, सारीका, अरुण, चक्रवाक, हंस, नन्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड़), अम्बाकपीलिका, दुड़ि (कच्छवी), अनस्थिक मत्स्य, जीवंजीवक, गंगाकुक्कुटक, शकुल मत्स्य, कमठ, साही, पर्णशस, बारहसींगा, सांड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गांव के कबूतर और अन्य सब प्रकार के चतुष्पद, जो न तो किसी प्रकार उपभोग में आते हैं और न खाए जाते हैं। गर्भिणी या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ और शूकरी तथा उनके बच्चों को जो छः महीने तक के हों न मारना चाहिए। कुर्कुट को वधित नहीं करना चाहिए। जीव सहित तुषों को नहीं जलाना चाहिए। अनर्थ के लिए या प्राणियों की हिंसा के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मार दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। तीनों चातुर्मासिक पूर्णिमाओं के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए। इन दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को तथा अन्य पशुओं को न दागना चाहिए।[1]

राज्याधिकारियों का दौरा

सम्राट् अशोक ने अपने राज्याधिकारियों को भी प्रचार कार्य में लगाया था। वह कहता है—मेरे राज्य में सब जगह युक्त (साधारण कर्मचारी), रज्जुक (आयुक्त) और प्रादेशिक (प्रान्तीय अधिकारी) पांच-पांच वर्षों से धर्मानुशासन तथा अन्य कार्यों के लिए, यह कहते हुए दौरा करें कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र परिचित सजातीय ब्राह्मण व श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।[2]

सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार में राजनीति और धर्म का मिश्रण था। पंचम स्तम्भ लेख में बताए गए जीव-हिंसा सम्बन्धी अधिनियमों से सम्राट् की धर्म-भावना का एक परिचय मिलता है, पर दण्ड-विधान के साथ करवाई गई जीव-दया विशुद्ध अहिंसा की कोटि में तो नहीं आ सकती। आज की समाज-व्यवस्था में भी मद्यपान, पर-स्त्रीगमन, चोरी, झूठा तोल-माप, मिलावट, चोरबाजारी आदि को रोकने के नाना कानून हैं ही, पर उनका लागू होना राज-व्यवस्था का अंग है, न कि अध्यात्म का। पशुओं के प्रति क्रूरता न बरते जाने के आज भी

---

१. अशोक के धर्म-लेख (पंचम स्तम्भ लेख) पृ० ३४१-४६

२. अशोक के धर्म-लेख (तृतीय शिलालेख) पृ० १२२

अनेकों कानून हैं। शहरों में सवारी आदि के संख्या-परिमाण निश्चित हैं। सम्राट् अशोक ने भी ऐसा करके कोई अपूर्व काम किया हो, यह नहीं लगता। उसके शासन में राजनीति और धर्म कैसे मिले-जुले चलते थे, उसका एक उदाहरण चतुर्थ स्तम्भ लेख में मिलता है। सम्राट् अशोक कहता है—आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाए। इस अवधि में जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाए हुए लोग परलोक का चिन्तन करें।[1] यहां एक ओर मृत्यु दण्ड की चर्चा है और दूसरी ओर धर्माचरण की। अशोक के मन में धर्म-विस्तार की उत्कट भावना थी, इसमें सन्देह नहीं। उसने अपने अभिमत को आगे बढ़ाने में कानून की अपेक्षा प्रचार का ही अधिक आश्रय लिया था। राजनीति और धर्म के उस मिले-जुले रूप में से 'नीर-क्षीर' का विवेक ही अध्यात्म और राजनीति का पृथक्करण कर सकता है।

राजाओं का परम्परागत आचार

श्रेणिक राजा ने अवध घोषणा की, यह शास्त्रों में उल्लिखित है, पर उस घोषणा का स्पष्ट रूप क्या था, यह नहीं। महाशतक की पत्नी रेवती ने जिस प्रच्छन्न विधि से मांस प्राप्त किया, उसे देखते हुए राजपुरुष उस आज्ञा को बहुत ही कड़ाकड़ी से पलाते थे, ऐसा लगता है। उपासकदशांगसूत्र में रेवती के प्रसंग विशेष से अमारी घोषणा का उल्लेख मात्र किया गया है। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि शास्त्रकारों का ध्येय उसकी श्लाघा का रहा है। आचार्य श्री भिक्षु का अभिमत है, पुत्र-जन्मोत्सव व किसी विशेष प्रसंग पर ऐसी घोषणाओं की परम्परा राजा लोगों में रही होगी। यह राजाओं का परम्परागत आचार ही हो सकता है। यदि यह धर्म का अंग होता तो वासुदेव, चक्रवर्ती आदि भी इस सहज सम्भव धर्म से वंचित क्यों रहते ? यदि बल-प्रयोग में धर्म होता तो वे यही धर्माचरण कर अधिक-से-अधिक धर्मी बन जाते।[2]

---

१. अशोक के धर्मलेख (चतुर्थ स्तभ-लेख) पृ० ३३६

२. श्रेणक राय फड़हो फेरावीयो, ए तो जाणों हो मोटा राजा री रीत।
भगवंत न सरायो तेहनें, तो किम आवै हो तिणरी परतीत॥
ए तो पुत्रादिक जायां परणीया, ओछवादिक हो ओरी सीतला जाण।
एहवो कारण कोइ ऊपजे, श्रेणक राजा हो फेरी नगरी में आण॥

गांधीजी और अहिंसा

सत्याग्रह-विचार

आचार्य भिक्षु से लगभग सवासौ वर्ष पश्चात् महात्मा गांधी आए। अहिंसा के इतिहास में उन्होंने भी कुछ नये अध्याय जोड़े। अहिंसा की उन्होंने एक व्यवहारिक नीति के रूप में भी स्थापना की। सत्ता-परिवर्तन जैसे दुष्कर कार्य जो कि अब तक युद्ध से ही सम्भव माने जाते थे, उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग आदि अहिंसा प्रधान प्रयत्नों में भी उनकी सम्भवता मानी। व्यवहार दशा में सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन भले ही अहिंसा जैसे न लगते हों, पर महात्मा गांधी का प्रयत्न उनको अधिकाधिक अहिंसात्मक बनाने का ही रहा है। उनका कहना था—अंग्रेज लोगों के प्रति हमारे मन में जब तक किंचित् भी कटुता और शेष है, तब तक हमारे ये प्रयत्न अहिंसात्मक नहीं कहे जा सकते। उनके सामने प्रश्न आया—क्या सत्याग्रही कतार बांधकर खड़े हो सकते हैं? उन्होंने कहा—यह प्रश्न ऐसे प्रसंग पर पूछा जा रहा है, जहां कतार बांधकर खड़े होने में प्रतिपक्षी के गमनागमन में एक अवरोध करने का लक्ष्य स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यह तरीका कदापि अहिंसात्मक नहीं हो सकता।[1] इस प्रकार अनेकों सामाजिक व्यवहारों में अहिंसा को एक अनिवार्य नीति का रूप दिया और अनेकों समस्याओं पर उनके सफल प्रयोग भी कर दिखाए।

चीनी, खादी और चाय

गांधीजी ने अहिंसा को राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धों से ही परखा है, पर व्यक्तिगत जीवन-साधना के सम्बन्ध से भी उन्होंने बहुत सोचा और बहुत लिखा है। जीवन-व्यवहार के नगण्य कार्य और होनेवाली नगण्य हिंसा के विषय में भी उन्होंने अपने स्पष्ट मन्तव्य दिए हैं। अनेक स्थलों पर उनकी दृष्टि आचार्य भिक्षु की दृष्टि के साथ अद्भुत तादात्म्य रखती है। किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से तीन प्रश्न पूछे—

१. क्या यह बात सच है कि विदेशी चीनी में हड्डियां तथा खून आदि अपवित्र चीजें डाली जाती हैं? अहिंसा का पालन करनेवाला मनुष्य क्या विदेशी शक्कर खा सकता है?

२. खादी पहनना अहिंसा का प्रश्न है या राजनीति का?

फल फूल अनन्त काय ने, हिंसादिक हो अठारे पाप नें जाण।
जोरी दावे पंला नें मना कीयां, धर्म हुवे तो हो फेरे छः घंटे में आण॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ७ गाथा ३७,४०,४६

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० २२३ के आधार से

३. अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाला क्या चाय पी सकता है?

उक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार से दिया—

विदेशी चीनी के अन्दर हड्डियां आदि नहीं रहतीं, पर हां ऐसा सुना है कि उनका उपयोग चीनी साफ करने में किया जाता है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि ऐसा प्रयोग देशी चीनी के लिए नहीं होता है। अहिंसा की दृष्टि से सम्भवतः दोनों प्रकार की शक्कर त्याज्य है। यदि लेनी ही हो तो उसकी बनावट की जांच करना उचित है। विदेशी शक्कर का त्याग स्वदेशी के उत्तेजन के लिए ही संगत है। शक्कर मात्र के त्याग के लिए अहिंसा की एक सूक्ष्म दृष्टि है। प्रत्येक प्रक्रिया में हिंसा है। अतएव प्रत्येक खाद्य-पदार्थ पर जितनी कम प्रक्रिया हो, उतना ही अच्छा है।

खादी पहनने में अहिंसा, राजकाज और अर्थशास्त्र तीनों का समावेश हो जाता है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार खादी पर प्रक्रियाएं कम होती हैं, इसलिए उसमें हिंसा कम है।

अहिंसा-व्रत पालनेवाला चाय पी भी सकता है और नहीं भी पी सकता है। चाय में भी प्राण हैं। वह निरुपयोगी वस्तु है। इस कारण उसके लेने से होनेवाली हिंसा अनिवार्य नहीं है। अतएव उसका त्याग इष्ट है। व्यवहार में हम इतनी बारीक बातों का ख्याल नहीं करते। इस कारण जिस तरह दूसरी चीजों को अहिंसा की दृष्टि से निर्दोष समझते हैं, उसी तरह चाय को भी मान सकते हैं।

माता का शिशु-प्रेम

तीनों प्रश्नों के उपसंहार में वे लिखते हैं—अहिंसा एक मानसिक स्थिति है। जिसने इस स्थिति को नहीं समझा है, वह चाहे कितनी ही चीजों का त्याग कर दे तो भी उसे उसका फल शायद ही मिले। रोगी रोग के लिए बहुत-सी चीजों से परहेज करता है, इससे उसके इस त्याग का फल रोग दूर करने के अतिरिक्त नहीं मिलता। दुष्काल पीड़ित को यदि भोजन न मिले तो इससे उसे उपवास का फल नहीं मिलता। जिसका मन संयमी नहीं है, उसकी कृति में चाहे संयम भले ही दिखाई दे, पर वह संयम नहीं है। जिस कार्य में जिस अंश तक दया है, उस कार्य में उसी अंश तक अहिंसा हो सकती है। इसलिए दया और ज्ञान की आवश्यकता है। अंध-प्रेम को अहिंसा नहीं कहते। अंधप्रेम के अधीन होकर जो माता अपने बालक को अनेक तरह दुलराती है, वह अहिंसा नहीं अज्ञानजात हिंसा है। मैं चाहता हूं खाने-पीने की मर्यादाओं का पालन करते हुए भी लोग अहिंसा के विराट रूप को, उसकी सूक्ष्मता को, उसके धर्म को समझें।[1]

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १६

रामायण और महाभारत

आचार्य भिक्षु ने रामायण, महाभारत आदि प्राचीन पुराण ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण नहीं माना। उन्होंने जैन रामायण पर तो असंगत उदन्तों के लिए परिष्कारक प्रयत्न भी किया था।

महात्मा गांधी से एक बार पूछा गया—हिन्दू लोग राम के अवतार को धर्म का अवतार कहते हैं। राम ने रावण को मारा था, क्या यह बुरा किया? राम ने वालि का वध किया यह कहकर कि—

अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या सम चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि विलोकहिं जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई॥

भगवद् गीता में अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों का वध करने के लिए तैयार नहीं होता है। भगवान् कृष्ण उसे युद्ध करके नाश करने का आग्रह करते हैं। आपका अहिंसा-मन्तव्य इस विषय में क्या कहता है?

उत्तर में महात्मा गांधी लिखते हैं—तुलसीदास ने राम के मुंह में कितनी बातें डाली हैं, जिनका मतलब मैं नहीं समझता। वालि सम्बन्धी सारा प्रसंग ही ऐसा है। तुलसीदास ने राम के मुंह से कहलाई इन पंक्तियों के शब्दार्थ के अनुसार चलने से यदि कोई फांसी पर न चढ़ेगा तो बड़ी मुसीबत में जरूर फंस जाएगा। रामायण और महाभारत में हर महान् व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, सबको मैं शब्दशः नहीं ग्रहण करता हूं और न मैं इन ग्रन्थों को ऐतिहासिक संग्रह मानता हूं। उनमें भिन्न-भिन्न रूपों में आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। और न मैं राम तथा कृष्ण को अस्खलनशील—कभी गलती न करने वाले मानता हूं, जैसा कि इन दो महाकाव्यों में उनका चरित्र-चित्रण मिलता है। वे अपने युग के विचारों और आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल अस्खलनशील व्यक्ति ही अस्खलनशील पुरुषों के चरित्र का यथार्थ चित्रण कर सकता है। ऐसी अवस्था में उनका आशय मात्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शन का काम दे सकता है। उनके अक्षर-अक्षर का अनुसरण करने से हमारा दम घुटने लगेगा और सब तरह की उन्नति रुक जाएगी। जहां तक गीता से सम्बन्ध है, मैं उसे कोई ऐतिहासिक संवाद नहीं मानता। आध्यात्मिक सिद्धान्त समझाने के लिए उसमें भौतिक उदाहरण लिए गए हैं। चचेरे भाइयों के दरम्यान हुए युद्ध का उसमें वर्णन है। 'अहिंसा परमो धर्मः' जीवन का एक उच्चतम सिद्धान्त है। उसके पालन से यदि जरा भी हम च्युत हों तो उसे हमारा पतन समझना चाहिए। भूमिति की सरल रेखा काले तख्ते पर चाहे न खींची जा सकती हो, परन्तु उस कार्य की

असम्भवता के कारण वह व्याख्या नहीं बदली जा सकती।[1]

मछली, वनस्पति और जल-जन्तु

अहिंसा के सम्बन्ध में एक प्रश्न उनके सामने आया। मछली पकड़ना हिंसा है। शाक के लिए वनस्पतियों को उखाड़ना हिंसा है। जन्तु-नाशक द्रव्य पानी में डालना हिंसा है। अब बताइए दुनिया में कैसे रहें ?

गांधीजी लिखते हैं—एक पौधे को उखाड़ना भी बुरा है। किसी खूबसूरत गुलाब के फूल को तोड़ते किसे वेदना नहीं होती ? किसी घास-पात को तोड़ते समय हमें वेदना नहीं होती, इससे कहीं सिद्धान्त में बाधा पड़ सकती है ? इससे यही सूचित होता है कि हमें पता नहीं है कि प्रकृति में घास-पात का क्या स्थान है। अतएव किसी भी प्रकार की हानि पहुंचाना अहिंसा-सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। अहिंसा के पूर्ण पालन की अवस्था में अवश्य ही जीवन की स्थिति असम्भव हो जाती है। अतएव हम सब मर जाएं तो परवा नहीं, सत्य को कायम रहने देना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस सिद्धान्त को आखिरी मर्यादा तक पहुंचाया है और यह कह दिया है कि भौतिक जीवन एक दोष है, एक जंजाल है। मोक्ष देहादि के परे की ऐसी अदेह सूक्ष्म अवस्था है, जहां न खाना है, न पीना है और इसीलिए जहां न दूध दुहने की आवश्यकता है और न घास-पात को तोड़ने की। सम्भव है इस तत्त्व को समझना या ग्रहण करना कठिन हो। सम्भव है कि पूर्णतः उसके अनुकूल जीवन व्यतीत करना असम्भव हो और है भी। फिर भी मुझको इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सत्य यही है और इसीलिए भलाई इस बात में है कि हम अपने जीवन को अपनी पूरी शक्ति भर उसके अनुकूल बनावें। यथार्थ ज्ञान हो जाना मानो आधी लड़ाई को जीत लेना है। इस भव्य सिद्धान्त का हम जितना ही पालन अपने जीवन में करते हैं, उतना ही वह जीवन रहने और प्रेम करने लायक होता है। क्योंकि उस अवस्था में बजाय खुद सदा शरीर के वश में रहने के हम अपने शरीर को अपने वश में रखते हैं।[2]

शिशु के लिए सिंह-वध

केलिफोर्निया (अमरीका) से किसी एक व्यक्ति ने गांधीजी से पूछा—एक केनेडी अपनी पशुशाला में बैठा था। आंगन में उसकी पौत्री खेल रही थी। अचानक एक पहाड़ी सिंह पशुशाला में आया और लड़की पर झपटा। उस केनेडी ने अपनी राईफल उठाई और एक ही गोली में उस शेर को मार डाला। आप बतलाइए

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १९-२०

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २०-२१

उस केनेडी का क्या कर्तव्य था ? वह अहिंसा-धर्म का पालन करते हुए यों ही बैठे रहता, यह ठीक था या जो उसने किया ?

गांधीजी ने उत्तर दिया—यह बात बिल्कुल सच है कि अहिंसा की उच्चतम स्थिति पर पहुंचना बहुत ही थोड़े लोगों के लिए शक्य है। इसलिए मनुष्य जाति आम तौर पर हमेशा सिंह और शेर को मारकर अपने बच्चे और पशुओं की रक्षा करती रहेगी। पर इससे मूल सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। साधु सन्तों का जंगल में निशस्त्र रहना और किसी भी जंगली पशु को दुःख न पहुंचाए बिना रहना, यह चमत्कार हिन्दुस्तान में अज्ञात नहीं है। पश्चिम में भी इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं।[1]

खटमल, मकड़ी का जाला व पतंगे आदि

प्रश्न—माना कि मैं संसारी हूं। बड़ा ख्याल रखने पर भी खटिया में खटमल हो गए हैं। उन्हें उठाकर रखने में भी कितने ही मर जाते हैं। घड़े के पानी में भी जीव पड़ गए हैं और उस पानी को फेंक देने पर भी उन छोटे-छोटे जीवों की हिंसा होतीहै। घर में मकड़ी ने जाले बनाए हैं। उन्हें साफ करने में भी हिंसा होती है। मान लो कि मैं एक व्यापारी हूं, माल की पेटी में जीव पड़ गए हैं। यदि उन जीवों को मैं दूर न करूं तो माल का नुकसान होता है। मैं बाहर घूमने के लिए जाता हूं तो उस क्रिया में भी पैरों के नीचे थोड़े-बहुत जीव आ जाते हैं। बत्ती जलाता हूं तो यहां भी यही मुश्किल होती है। सिंहादि के विषय में पूछना ही क्या है ? ऐसे दूसरे अनेक दृष्टांत मैं दे सकता हूं। क्या आप उनका खुलासा कर सकेंगे? ऐसी स्थिति में अहिंसा धर्म का पालन कैसे किया जाए ?

उत्तर—ऊपर कही गई सभी क्रियाओं में अवश्य हिंसा है, क्योंकि क्रियामात्र हिंसामय है और इसलिए सदोष है। भेद है तो सिर्फ कम व बेशी परिमाण का ही है। देह का और आत्मा का सम्बन्ध ही हिंसा के आधार पर रचा गया है। इस-लिए देहधारी मनुष्य अहिंसा के आदर्श को दृष्टि के समीप रखकर जितना दूर जा सके, उतना दूर जाए। परन्तु अधिक-से-अधिक दूर जाने पर भी कुछ हिंसा का होना तो अनिवार्य ही होगा, जैसे श्वासोच्छ्वास लेने अथवा खाने इत्यादि में। अनाज के प्रत्येक कण में जीव है। इसलिए यदि हम मांसाहार के बदले अन्नाहार करते हैं तो उसमें हम हिंसा से मुक्त नहीं गिने जा सकते हैं, परन्तु अन्नाहार में होने वाली हिंसा को अनिवार्य समझकर उसका आहार करते

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३३

हैं और इसीलिए तो भोग के लिए आहार सर्वथा त्याज्य है।[१]

प्रश्न—हिंसा की आवश्यकता प्रमाणित हो जाने पर भी क्या सैद्धान्तिक दृष्टि उसमें बाधक होती है ?

उत्तर—ऐसे अवसर पर भी जहां हिंसा की आवश्यकता सिद्ध होती हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का समर्थन नहीं कर सकते। कार्य-साधकता की दृष्टि से उसका बचाव किया जा सकता है।[२]

व्यवसाय और खेती

प्रश्न—अन्य व्यवसायों की अपेक्षा क्या खेती अधिक हिंसा जन्य नहीं है ?

उत्तर—कार्यमात्र, प्रवृत्तिमात्र, उद्योगमात्र सदोष हैं। आवश्यक उद्यम मात्र में एक-सा दोष है। मोती के रोजगार में, रेशम के धन्धे में, सुनार के पेशे में खेती से बहुत अधिक दोष है। क्योंकि ये धन्धे आवश्यक नहीं हैं। उनमें हिंसा तो बहुतेरी हुई है। मोती हिंसा बिना मिल नहीं सकते। रेशम का कीड़ा उबाला जाता है। सुनार जो आसमानी आग पैदा करता है, उसमें जलने वाले जन्तुओं से यदि पूछें और यदि वे जवाब दे सकें तो हमें उनके धन्धे की हिंसा का कुछ ख्याल हो सकता है।[3]

प्रश्न—किसी व्यक्ति या पशु को मारने वाला क्या उस बध्य को दुर्गति देने का पाप नहीं करता ?

उत्तर—एक मनुष्य दूसरे को मारकर उसे दुर्गति कैसे दे सकता है ? यह बात मेरी समझ के बाहर है। मनुष्य अपने ही बन्धन और मोक्ष का कारण होता है, दूसरे का नहीं। अहिंसा-धर्म का पालन अपने ही मोक्ष के लिए होता है।[४]

अहिंसा और उपयोगितावाद

प्रश्न—क्या आपका सिद्धान्त उपयोगितावाद पर आधारित नहीं है। उपयोगितावाद का अर्थ है—अधिकांश लोगों का अधिक लाभ। सामान्यतः वह अर्थ-सिद्धि के लिए हिंसा-अहिंसा में भेद नहीं मानता। आप अपना स्थिति स्पष्ट करें।

उत्तर—अहिंसावादी उपयोगितावाद का समर्थन नही कर सकता। वह तो

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ४७
२. गांधीजी खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० २६
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ३६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७५

'सर्वभूतहिताय' यानी सबके लिए अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में मर जाएगा। दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख के अन्दर अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है, इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, पर अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा, जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दशा में एक-दूसरे का विरोध भी करना पड़ेगा।

अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार यूरोपीय महासमर सरासर अनुचित मालूम होता है। उपयोगितावाद के अनुसार प्रत्येक पक्ष ने उपयोगिता के अपने विचार के अनुसार अपना पक्ष न्यायसिद्ध कर दिया है। उपयोगितावाद के सहारे जलियां वाला बाग-काण्ड को भी उसके करनेवालों ने न्याय-सिद्ध कर दिखाया। ठीक इसी तर्क से अराजक भी अपनी हत्याओं का समर्थन करते हैं, किन्तु सर्वभूतहित-वाद के सिद्धान्त की कसौटी पर इनमें से किसी भी काम को समुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।[1]

भावना और कार्य

प्रश्न—मानव समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे, जबकि वह केवल समाज-हित की भावना से ही किया जाता है।

उत्तर—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया, किन्तु अकेली भावना से अहिंसा नहीं सिद्ध हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त में भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना-माप भी कार्य पर से ही निकालना पड़ता है और जहां स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है, वहां भावना चाहे कितनी ही ऊंची क्यों न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उलटे जो आदमी मन में वैर-भाव रखता है, किन्तु लाचारी से उसे काम में नहीं ला सकता, उसे वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है।[2]

ज्ञानपूर्वक दया

प्रश्न—मनुष्य-भक्षी जाति से मनुष्य-भक्षण छुड़ाना और पशु के मांस से

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ८३-८४

२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११५

अपना निर्वाह करने की बात कहना, मांस खानेवाले लोगों को फल, फूल वनस् से जीवन-निर्वाह करने की बात कहना क्या अहिंसा है ? अहिंसा की दृष्टि जीवमात्र समान हैं।

उत्तर—सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चि करता है, तब उस हद तक वह अहिंसा-धर्म का पालन करता है। इसके विप जो रूढ़ि के कारण मांस आदि नहीं खाता वह अच्छा तो करता है, लेकिन यह कहा जा सकता कि उसमें अहिंसा का भाव है ही। जहां अहिंसा है, वहां ज्ञ पूर्वक दया होनी ही चाहिए।[1]

प्रश्न—आप दया और अनुकम्पा के स्थान पर जब तब अहिंसा शब्द प्रयोग करते हैं, इससे भ्रान्ति पैदा होती है ?

उत्तर—अहिंसा और दया में उतना ही भेद है, जितना सोने और सो गहनों में, बीज में और वृक्ष में। जहां दया नहीं, वहां अहिंसा नहीं। अतः यों सकते हैं कि उसमें जितनी दया है, उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्र करनेवालों को मैं न मारूं, उसमें अहिंसा हो भी सकती है और नहीं भी। ड अगर उसे न मारूं तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दया-भाव से ज्ञानपूर्वक न म में ही अहिंसा है।[2]

महात्मा गांधी के अहिंसा चिन्तन में जैन अहिंसा-दृष्टि का भी प्रभाव है। गांधीजी ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरी, हेमचन्द्राचार्य, अ चन्द्रसूरी प्रभृति आचार्यों के अहिंसा सम्बन्धी विशेषावश्यकभाष्य,[3] पुरु सिद्ध्युपाय[4] आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, ऐसा अनेक संदर्भों से स्पष्ट होता है।

तत्त्व-निरूपण और लोक-धारणा

अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण बहुधा लोक-धारणा और लोक-व्यवहार के स मेल नहीं खाते। इसीलिए तो आचार्य भिक्षु को, साले का सर काट दूंगा,[5] f करोड़ कसाइयों से भी अधिक बुरा है,[6] जी करता है भिक्षुजी को कटारी से

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११७
२. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ११६-१७
३. नवजीवन ता० १३-१-२८
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ७७
५. भिक्खु दृष्टान्त ६१
६. भिक्खु दृष्टान्त ८४

दूं[1] आदि वीभत्स वाक्य अपने कानों से सुनने पड़ते थे। एक चर्चावादी तो उनकी छाती में मुक्का मारकर ही चलता बना।[2] अपने निर्भीक निरूपण को लेकर उन्हें नाना लोक-यातनाओं का सामना करना पड़ा।

इस विषय में गांधीजी की स्थिति भी लगभग यही थी। उनके अहिंसा सम्बन्धी निरूपणों से बहुत बार लोग बौखला उठते और अपने कटु उद्‌गार उन तक पहुंचाते। गांधीजी ने स्वयं ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है। उनके शब्द हैं—कितनेक लोगों का कहना है, मेरा साठवां वर्ष बैठा है, इसलिए ही मेरी बुद्धि का नाश हुआ है। तो कितनेक लोग कहते हैं—ऐसा धर्म आपको अभी बुढ़ापे में सूझा है क्या? यदि पहले ही सूझा था तो इतने दिन मुंह में दही जमाए क्यों बैठे थे?[3] अब आपको अहिंसा के क्षेत्र से त्याग-पत्र दे देना चाहिए।[4] आप महात्मा माने जाते हैं, इसलिए समाज के बहुत से लोग आपके रास्ते पर चलकर दुःखी और पामाल हो रहे हैं।[5]

सत्य-निरूपण में दोनों ही विचारक टलते नहीं थे। एक बार गांधीजी ने किसी प्रसंग से कहा था—मच्छरों, मक्खियों और चूहों को भी जीने का उतना ही अधिकार है, जितना कि मेरा। अमेरिका के पत्रों में इस बात का बहुत ही उपहास हुआ। वहां के एक हितैषी ने गांधीजी को लिखा—मैं नहीं मानता, आपने ऐसी बेवकूफी भरी बातें कही होंगी; अतः आवश्यक है, आप एक प्रतिवाद लिखकर भेजें, जिसे मैं यहां समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर सकूं। गांधीजी ने उस पर लिखा—खेद है, मेरी बेवकूफी को मिटाने का श्रेय आपको मिलना सम्भव नहीं है।[6]

महात्मा गांधी इन आलोचनाओं में वेदनाशील भी होते देखे जाते हैं। प्रसंगवश वे लिखते हैं—मेरे नाम इस विषय में ढेरों पत्र आए हैं। इनमें से कोई मीठा, कोई तीखा और कोई कड़वा है। मेरे मित्र भी मेरा अभिप्राय नहीं समझ सके हैं। मेरे नसीब से मेरे जीवन में हमेशा ऐसा ही होता चला आया है।[7]

मैंने टीकाकारों का रोष बहुत बटोर लिया है। कोई गालियां देकर अपनी

---

१. भिक्खु दृष्टान्त ७४
२. भिक्खु दृष्टान्त ४७
३. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ६६
४. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११
५. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग ४ पृ० ४३४
६. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८०-१८१
७. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० ५६

अहिंसा की परीक्षा दे रहा है, कोई सख्त टीका करके मेरी अहिंसा की परीक्षा ले रहा है।[1]

आचार्य भिक्षु का उग्र सत्य

आचार्य श्री भिक्षु से उनके उत्तराधिकारी शिष्य भारमलजी स्वामी ने पूछा—आप छद्मस्थ भगवान् महावीर को चुका कहते हैं, यह लोगों को बहुत ही अप्रिय लगता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो मैं कहता हूं, वह सत्य है या नहीं ?

भारमलजी—सत्य तो है ही।

आचार्य भिक्षु—फिर प्रिय और अप्रिय होने की चिन्ता मत करो।[2]

आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—आपका उग्र निरूपण क्या वास्तव में निन्दा या हिंसा नहीं है ?

आचार्य भिक्षु—एक धनवान् अपने लड़के को सीख देता है, जिसका धन उधार लिया जाए, उसे यथासमय वापिस करना चाहिए, नहीं तो लोग दिवालिया कहते हैं।

पड़ोसी सचमुच ही दिवालिया था। उसे यह सीख चुभती और वह झल्लाकर कहता है, बेटे को ऐसी सीख न दिया करो, मेरी छाती जलती है।

आचार्य भिक्षु ने प्रश्नकर्ता से कहा—ठीक इसी प्रकार मैं तो अपने शिष्यों को साध्वाचार सिखलाता हूं। शिथिलाचारी कुढ़ते हैं, यह तो उनका अपना ही दोष है।[3]

आचार्य भिक्षु की दृष्टि में पाप की आलोचना असंगत नहीं पापी की आलोचना असंगत हो सकती है।

गांधीजी की स्पस्टवादिता

गांधीजी ने चीन में रहे पादरियों के धर्म-परिवर्तन कार्य की तीव्र आलोचना की। ईसाई जगत् में एक उद्वेलन आ गया। वरीष्ठ लोगों ने गांधीजी को लिखा—आपका हमेशा का स्वभाव तो विशिष्ट शान्ति, धैर्य व समय से बात करने का है। आप इस कठोरता को सहज ही टाल सकते थे। इस कठोरता में आपने पादरी-वर्ग के प्रति हिंसा की है।

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग १ पृ० १११

२. भिक्खु दृष्टान्त १७८

३. भिक्खु दृष्टान्त ६०

गांधीजी के विस्तृत उत्तर का अभिप्राय है—ईसामसीह ने अपने जमाने के कुछ लोगों को 'सांपों की औलाद' कहा था। उनके शब्दों व कार्यों से लोगों को इतनी चोट पहुंची कि वे उनकी जान के गाहक बन गए। क्या ईसामसीह ने वचन द्वारा हिंसा की थी?

सत्य यदि कठोर हो सकता है तो उसे व्यक्त करने का नम्रतापूर्ण मार्ग ऐसा कौन-सा है, जिससे कि विरोधी को क्रोध आए ही नहीं। किसी चोर के कार्य को मैं चोरी कहकर ही व्यक्त करूं या 'द्राविड़ी प्राणायाम' जैसी भाषा में मैं उसके विषय में यह कहूं कि वह साहूकारी के चारों ओर की भूमि में भ्रमण करता है, हत्यारे के लिए कहूं कि वह निर्दोष खून करता है। इन प्रयोगों में भी क्या निश्चितता है कि दोषी का दिल दुःखेगा ही नहीं। मेरे मतानुसार कठोर सत्य विवेक और नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है। पादरियों की प्रवृत्ति के विषय में मैंने जो वचन कहे हैं, वे किसी प्रकार हिंसक नहीं ठहरते।[1]

मत-विभिन्नता भी

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा मन्तव्यों में क्वचिद् अत्यन्त भिन्नताएं भी थीं। मरणशील को मृत्युदान[2] का विचार गांधीजी का अपना निराला था। आचार्य भिक्षु साधु-दीक्षा में थे। अतः जीवन-व्यवहार में हिंसा का अनुमोदन मात्र भी उनके लिए वर्जित था। गांधीजी एक लोकपुरुष थे। वे अपने सामाजिक दायित्व को समझते हुए समाज-धर्म के रूप में हिंसा का आदेश व अनुमोदन भी करते थे। सामाजिक लोग कहां तक हिंसा कर सकते हैं और कहां तक नहीं, इस तथ्य को तोलने की उनके पास अपनी तुला थी। एक ओर उन्होंने अहमदाबाद के प्रमुख उद्योगपति सेठ अम्बालाल द्वारा साठ पागल कुत्तों के मरवा डालने को यह कहकर कि इसके सिवाय और दूसरा हो क्या सकता था, अनुमोदित किया और सारे देश का रोष अपने ऊपर लिया; दूसरी ओर अंग्रेजों की हत्या के लिए उग्र युवकों के विषय में पुनः-पुनः ये कहते रहे—नौजवान मुझसे कहते हैं कि यदि मैं उनकी मदद नहीं कर सकता तो मैं चुप ही रहूं और उनके मार्ग में रोड़े न अटकाऊं। उन्हें मेरा यही उत्तर है कि यदि आप अंग्रेज अधिकारियों को मारना ही चाहते हैं तो उनके बजाय मुझे ही क्यों नहीं मार डालते? अपने ढंग से आपके मार्ग में रोड़े अटकाने के आपके आरोप का मैं अपने को अपराधी स्वीकार करता हूं। यह मेरा ध्येय है। मुझ पर दया न करो, मुझे सीधी राह ठिकाने लगा दो। लेकिन जब तक

---

१. गांधीजी, खण्ड १० अहिंसा—भाग २ पृ० १८३-१८४

२. विशेष विवरण के लिए देखें 'आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी'

मेरे अन्दर प्राण हैं, मैं अपने ढंग से आपका विरोध करूंगा ही। यदि आप मुझे छोड़ते हैं तो आप सरकारी नौकरों पर, चाहे वे बड़े हों या छोटे, हाथ न डालिए।

मुसलमानों द्वारा किए गए अभद्र व्यवहारों के बावजूद भी वे हिन्दुओं को अहिंसा से काम लेने की अपील ही करते रहे और उसी में अपने प्राण दे दिए। अपने ऊपर बम फेंकनेवालों को भी उन्होंने क्षमा किया था। इस प्रकार आचार और विचार से समुद्भूत गांधी-अहिंसा इस युग का एक स्वतन्त्र जीवन-दर्शन बन गई है। सुप्रसिद्ध विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं—महात्मा गांधी ने प्रत्येक विचारधारा को परखा और उसे समन्वय दृष्टि दी। उनकी दृष्टि उसी सूक्ष्मता को पहुंची, जहां उसने एक नवीनवाद का सूत्रपात किया और उसे कह सकते हैं—गांधी-धर्म। श्रेष्ठता और सूक्ष्मता की दृष्टि से जैन-धर्म और गाधी-धर्म सम हैं। महात्मा गांधी एक नये समन्वयात्मक धर्म के अधिष्ठाता कहे जा सकते हैं, जबकि आचार्य भिक्षु परम्परा से आते हुए एक पुरातन धर्म को नये सिरे से मान्यता देनेवाले थे। महात्मा गांधी ने गांधी-धर्म की सृष्टि की। आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की पुनर्जागरणा की। दोनों का तत्त्व-चिन्तन विभिन्न परिस्थितियों में होते हुई भी बहुत कुछ समान दृष्टि रखता है।[1]

कथनी करनी में भेद

"अमृत सबके लिए समान है। वह किसी के लिए विष नहीं होता। अनुकम्पा भी सबके लिए समान है। वह एक (श्रावक) के लिए आचरणीय और एक (साधु) के लिए अनाचरणीय नहीं होती।"[2]

किसी एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कहा—तेरे शरीर में वायु की व्याधि है। सातवीं मंजिल पर से नीचे गिर, तेरा रोग मिट जाएगा। उसने कहा तेरे भी तो यही रोग है ? तू भी तो ऐसा कर। वह बोला, मैं ऐसा नहीं कर सकता। ऐसा करने में मेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी। उसने कहा, यह कौन-सा न्याय है कि तेरी तो हड्डी-हड्डी बिखर जाएगी और मेरा रोग भी मिट जाएगा।[3]

अनुकम्पा की दृष्टि से जैन परम्पराओं में एक बहुत बड़ा विषंवाद चलता

---

१. भूमिका—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

२. साध श्रावक दोनूं तणी, एक अनुकम्पा जाण।
इमरत सहु नें सारिषो, कूड़ी मत करो ताण।।
—अनुकम्पा चौपई गीति २ दोहा ३

३. भिक्खु दृष्टान्त ७२

कहा जाता है, अमुक प्रकार की अनुकम्पा हम साधु तो नहीं कर सकते, हमारे भंग होते हैं। तुम यदि करते हो तो धर्म-पुण्य ही होगा। वे देहपोषक दया व दान के लिए गृहस्थों को प्रेरणा देते हैं, पर उनके अपने पास कोई क्षुधातुर या तृषातुर चला आए, उनके पास भोजन और पानी वर्तमान हो तो भी आगन्तुक की भूख और प्यास नहीं बुझाते। कहते हैं, ऐसा करने में हमारे महाव्रत टूटते हैं। कोई शीत-पीड़ित व्यक्ति उनसे वस्त्र की याचना कर ले या कोई राह-भ्रष्ट पथिक उनसे मार्ग-जिज्ञासा कर ले तो न वे वस्त्र ही देते हैं और न वे मार्ग ही बतलाते हैं। कहने भर के लिए ही क्या वे जीव-रक्षा करते हैं? सचमुच ही अहिंसा-चिन्तन में यह एक अक्षम्य विपर्यास है। साधु और गृहस्थ के धर्म में अणुव्रतों का और महाव्रतों का अन्तर है। वह अन्तर केवल व्रत-परिमाण का है न कि अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के आधारभूत सिद्धान्तों का। अहिंसा, सत्य आदि गृहस्थ के लिए अंशतः उपास्य हैं तो साधु के लिए पूर्णतः। देहोपचायक दया भी यदि उपास्य धर्म है तो साधु के लिए वह पूर्णतः उपास्य धर्म होना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं माना जा सकता तो सोचना चाहिए, एतद्विषयक मूल धारणा में ही कहीं भूल है और वही भूल है जिसे आचार्य भिक्षु ने लौकिक दया और लोकोत्तर दया के भेद युग्म से सुधारा है। सिद्धान्त वह है जो सम स्थिति में सम प्रकार से चलता जाए।

दूसरा विपर्यास यह चलता रहा है, हम यह अनुकम्पा तो कर सकते है, यह नहीं। आचार्य भिक्षु ने ऐसी निर्मूल मान्यताओं पर तीव्र प्रहार किया। वे साधु कहते हैं—कोई पक्षी अपने घोंसले से अकस्मात् नीचे आ गिरा तो हम उसकी अनुकम्पा कर उसे पुनः घोंसले में संस्थापित कर देते हैं। बिल्ली चूहे पर झपट रही हो तो हम उस बिल्ली को भगाकर चूहे को बचा लेते है। आचार्य भिक्षु ने कहा, कोई तपस्वी श्रावक कायोत्सर्ग करके बैठा है। अचानक उसे मूर्च्छा आ गई। गिर पड़ने से गर्दन भी बुरी तरह से दब गई है। तब तुम क्या करोगे? इस पर वे कहते हैं—हम तो साधु हैं। हम गृहस्थ की सार-सम्भाल नहीं कर सकते। आचार्य भिक्षु कहते हैं, जिनकी अनुकम्पा में इतना विरोधाभास है, उन्होंने अनुकम्पा के मूल को पकड़ा नहीं है। सौ श्रावकों का पेट दुःख रहा है। साधु अकस्मात् वहां पहुंच गए। श्रावकों ने कहा, हम लोग दर्द के मारे मर रहे हैं। आप हमारे पेट पर हाथ फिराते रहें। हमें बहुत शान्ति मिलेगी। स्यात् हम मरने से बच भी जाएंगे। वहां साधु क्या करे? वे जीव-रक्षा के उपदेशक तब कहते हैं, गृहस्थ की परिचर्या करना साधु को कल्पता नहीं।'[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह कैसी जीव-दया है?

---

१. अनुकम्पा चौपई ढाल ६ गाथा २ से ४

एक ही जैसे प्रसंगों से एक को कल्प्य मानते हैं, एक को अकल्प्य। वे एक जैसी बात नहीं कहते। गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आकर मर रहा है! वे कहते हैं—हम उसे अवश्य बचाते हैं। गृहस्थ के भाजन से रह-रहकर तेल निकल रहा है। उस बहते तेल में अनेक जीव लपेट में आ रहे हैं। वही तेल चींटियों की दरारों में से गुजर रहा है और आगे वह अग्नि में पहुंच रहा है। तब कहते हैं—हमें यह सब बताना नहीं कल्पता।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—यह सब अनुकम्पा को हार्द न समझने का परिणाम है। मूर्ख बहू का पीपल को लाने जैसा प्रयत्न है।[2] घर में कोई मंगल प्रसंग था। सास ने पुत्रवधू से कहा—पास के चौराहे से पीपल ले आ। सास का अभिप्राय पीपल की टहनी तोड़कर लाने से था। बहू नासमझ थी। वह पीपल के पास पहुंचकर कहने लगी—पीपल! घर चलो, सास बुलाती है। बार-बार यह बात कहती रही। पीपल जरा भी आगे सरका नहीं। तब वह पीपल के तने में रस्सा डालकर जोर से खींचने लगी। आयास करते-करते हाथ लोहू-लुहान हो गए। कोई विज्ञ पुरुष आया। उसने सारा हाल उससे पूछा। सब कुछ सुनकर उसने कहा—तू तो बहुत ही नासमझ ठहरी। सास के कहने का तात्पर्य समझे बिना व्यर्थ ही खींचातान मचा रही हो।

जो साधु बढ़-बढ़कर यह कहा करते थे—हम बिल्ली से चूहे को बचाकर दया-धर्म का पालन करते हैं। आचार्य भिक्षु ने उनके समक्ष तत्सदृश छव उदाहरण और रखे और पूछा—

१. तालाब में मछलियां और मेंढक भरे हैं। लट, जलोक आदि अनेक जीव इधर-उधर रेंग रहे हैं। स्थावर जीवों की भी वहां भरपूर उत्पत्ति है। एक भैंस गर्मी से व्याकुल हो, उसमें लोटने जा रही है। यदि भैंस को रोका जाता है तो उसकी हिंसा है और नहीं रोका जाता है तो तालाब में रहे अनगिन प्राणियों की हिंसा है। उस स्थिति में वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे?

२. सड़े धान का ढेर लगा है। उसमें लट, ईली, अण्डे आदि जीव किलबिलाहट कर रहे हैं। एक भूखा बकरा उस अन्न को खाने जा रहा है। यदि उसे रोका जाता है तो वह बेचारा भूखों मरता है। नहीं रोका जाता है तो धान और उसमें रहे अनेकों प्राणियों की हिंसा होती है। उस स्थिति में वे अहिंसा धर्म का पालन

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा १८-२०

२. किण हीक ठोड़ें जीव बतावै, किण हीक ठोड़ संका मन आणें।
समझ पड्यां विण सरधा परूपे, पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं ताणें॥
—अनुकम्पा चौपई गीति ८ गाथा ३२

कैसे करेंगे ?

३. अनन्तकाय वनस्पति से गाड़ी भरी है। उसमें चार पर्याय और चार प्राण वाले अनन्त जीव हैं ही। एक भूखा बैल उसे खाने जा रहा है। एक ओर वनस्पति की हिंसा है, एक ओर बैल की। उस स्थिति में वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

४. पानी के मटके भरे पड़े हैं। जिनमें नीलण-फूलण छाई हुई है। लट आदि अनगिन प्राणी पैदा हो गए हैं। प्यास से व्याकुल गाय उन पर आकर खड़ी है। वे अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

५. कूड़े-करकट का ढेर लगा है। वर्षा में खाद भीग गई है। गिण्डोले और गधिये तलबल कर रहे हैं। उस समय पक्षी आए और लट आदि प्राणियों को चुगने लगे हैं। उस स्थिति में अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

६. गुड़, खाण्ड आदि पदार्थों पर अगणित मक्खियां बैठी हैं। मकड़े उन मक्खियों को मारने के लिए मंडरा रहे हैं। वे साधु अहिंसा धर्म का पालन कैसे करेंगे ?

आचार्य भिक्षु ने कहा—बिल्ली से चूहे को बचाने के लिये तो तत्पर होते हैं, शेष उदाहरणों में चुप रहते हैं, यह कैसा विसंवाद ?

सातों ही प्रश्नों पर आचार्य भिक्षु का अभिमत था—साधु की दृष्टि में जीव-मात्र समान है। जहां कुछ की हिंसा है और कुछ की दया है, वहां साधु तटस्थ और मौन रहें।[1]

महात्मा गांधी से एक भाई ने पूछा—छोटे जीव-जन्तुओं को एक-दूसरे का आहार करते अनेक बार देखता हूं। मेरे यहां एक छिपकली है। उसे यही काम करते मैं रोज देखता हूं। बिल्ली को पक्षियों पर झपटते भी देखता हूं। क्या मुझे यह देखते रहना चाहिए ? उन हिंसक जीवों को रोकता हूं तो उनकी हिंसा हो जाती है। ऐसी स्थिति में आप बताएं क्या करना चाहिए ?

गांधीजी ने उत्तर में लिखा—क्या मैं ऐसी हिंसा नहीं देखता ? बहुत बार मैंने छिपकली को तिलचट्टों का शिकार करते तथा तिलचट्टों को दूसरे जीव-जन्तुओं का शिकार करते देखा है। किन्तु 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव दूसरे जीव का आधार है, यह तो प्राणी-जगत् का नियम है, उसमें हस्तक्षेप करना मुझे कभी कर्तव्य नहीं सूझा। ईश्वर की इस अगम्य उलझन को सुलझाने का मैं दावा नहीं करता।

1. अनुकम्पा चौपई ढाल ४ गाथा १ से १३

आगमों में अनुकंपा-प्रसंग

आचार्य भिक्षु एक शास्त्र-शोधक थे। दया और अनुकम्पा शब्द पर उन्होंने शास्त्रों की बहुत गहरी शोध की। शास्त्रों का एक भी अनुकम्पा शब्द उनकी टिप्पणी से अछूता रहा हो, ऐसा नहीं लगता। उन्होंने उपलब्ध अनुकम्पा के प्रसंगों को सावद्य और निरवद्य दो भागों में बांटा। इस विषय में संयम-असंयम, आज्ञा-अनाज्ञा निश्चल मानदण्ड सर्वदा उनके साथ रहे।

१. मेघकुमार ने हाथी के भव में शशक की अनुकम्पा की। अपना पैर ऊपर उठाए रखा। भयंकर कष्ट सहा। यह निकेवल हिंसा दोष से बचानेवाली आत्म-उन्नायक और आज्ञा-सम्मत दया थी। देहोपचायक दया यदि उसका लक्ष्य होती तो वह जंगल के प्राणियों को सूंड से पकड़कर दावानल से बचाने का प्रयत्न करता। शशक को भी सूंड से उठाकर अपनी पीठ पर क्यों नहीं रख लेता।[1]

२. अरिष्टनेमि ने सारथी के द्वारा बहुत सारे प्राणियों के विनाश की बात सुनकर सोचा—मेरे लिए बहुत सारे प्राणियों का विनाश हो, यह मेरे परभव के लिए श्रेयस्कर नहीं होगा। यह भी आत्म-उन्नायक (निवर्तक) दया का ही उदाहरण है। अवरुद्ध प्राणियों को उन्होंने बन्धन-मुक्त करवाया हो, ऐसा उल्लेख नहीं है।[2]

३. धर्मरुचि अनगार ने शाक की एक बूंद डालकर कीड़ियों को मरते देखा तो वे समग्र कड़वे तुम्बे का शाक स्वयं खा गये। यह नितान्त निरवद्य अनुकम्पा थी।[3]

४. भगवान् श्री महावीर ने छद्मस्थावस्था में शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर गोशालक को बचाया। यह उनकी सराग अनुकम्पा थी। साधु लब्धि का प्रयोग कर प्रायश्चित्त का भागी होता है; इसलिए यह छद्मस्थ भगवान महावीर की भूल भी थी। वीतराग-दशा में भगवान् के सम्मुख उनके दो साधुओं को उसी गोशालक ने भस्म कर दिया। उस समय भगवान् ने उन दो मुनियों की रक्षा के लिए तथा-प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया। अन्य लब्धिधारी मुनियों ने भी लब्धि का प्रयोग नहीं किया।[4] टीकाकर श्री अभयदेवसूरी ने भी कहा है—भगवान् ने गोशालक का संरक्षण सरागभाव से किया था। मुनि युग्म का असंरक्षण वीतराग-दशा का

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १ से ४

२. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ५-६

३. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ७

४. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ८ से १० तथा गीति १०

परिचायक है।[1]

५. अनुकम्पामात्र ही निरवद्य नहीं हुआ करती, यह समझाने के लिए जिन ऋषि का उदाहरण यथेष्ट है। कामविह्वलता का छद्म करनेवाली रयणादेवी के सामने राग वशंगत जिनऋषि ने अनुकम्पा पूर्ण दृष्टि से देखा। शैलक यक्ष ने अपनी पीठ से उसे नीचे डाल दिया और उस धूर्त देवी ने उसे खड्ग में पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[2]

६. सुलसा हरिणेगमेषी देवता की भक्ता थी। उसके पुत्राभाव को मिटाने के लिए देवकी के छः पुत्र क्रमशः अनुकम्पापूर्वक उसके यहां लाकर रख दिए, यह अनुकम्पा प्रत्यक्ष सावद्य थी।[3] यह तो स्पष्ट अपने राग-बन्धन का निर्वाह था।

७. हरिकेशी मुनि यज्ञ-मण्डप में आए। ब्राह्मणों ने उनका अपमान किया। सेवा-भावी यक्ष ने ब्राह्मणों को ऐसे प्रताड़ित किया कि उनके मुंह से रक्त बहने लगा। एक की हिंसा कर दूसरे की रक्षा सावद्य अनुकम्पा ही होती है।[4]

८. धारिणी रानी ने गर्भावस्था में गर्भ की अनुकम्पा के लिए मनोज्ञ पदार्थ खाए। यह अनुकम्पा सावद्य थी।[5] गर्भ-पोषण का रागमूलक कार्य क्या अध्यात्म हो सकता है?

९. अभयकुमार के मित्र देव ने अभयकुमार पर अनुकम्पा की और धारिणी रानी की दोहद पूर्ति के लिए देव-शक्ति से अकाल वर्षा की। यह सावद्य अनुकम्पा है।[6] इस अनुकम्पा में निकेवल लौकिक भाव था।

१०. श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि प्रभु को वन्दन करने के लिए जाते थे। एक वृद्ध पुरुष दूर से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर में रख रहा था। श्रीकृष्ण ने भी एक ईंट वहां से उठाकर उसके घर पहुंचा दी। यह अनुकम्पा सावद्य है।[7] यह लौकिक

---

१. इह च यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवतः सुनक्षत्रसर्वानुभूतिमुनिपुंगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वात् अवश्यं भावित्वाद्वेत्यवसेयं।

—भगवतीसूत्र वृत्ति शतक १५

२. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा ११

३. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १२

४. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १३

५. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १४

६. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १५

७. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा १६

उपकार मात्र था। इससे उस वृद्ध के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की जरा भी वृद्धि नहीं हुई।

११. गजसुकुमाल मुनि ने अरिष्टनेमि प्रभु की आज्ञा लेकर श्मशान में कायोत्सर्ग किया। सौमिल ब्राह्मण ने उनके शर पर अंगारे रख दिए। गजसुकुमाल ने दयाभाव से अपने शर को हिलाया तक नहीं। यह अनुकम्पा निरवद्य थी।[1] इसमें आत्म-संयम का अग्नि के जीवों के प्रति अहिंसाभाव था और सौमिल के प्रति क्षमा-भाव।

तत्त्वज्ञ लोगों ने सराग अनुकम्पा का कठिन परिस्थितियों में भी आचरण नहीं किया। आगमों ऐसे उल्लेख भी अनेकों मिलते हैं।

१२. अरणक श्रावक को बीभत्स रूपवाले देव ने कहा—यदि तुम धर्म नहीं छोड़ते हो तो मैं नावा को ऊपर उठाकर ज्यों का त्यों उलट दूंगा। तेरे साथ सब लोग मर जाएंगे। अन्य लोग करुण विलाप करने लगे, पर अरणक ज्यों का त्यों अडिग रहा। लोगों के जीने मरने की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया। देवता पराजित हुआ और उसकी धर्म दृढ़ता की श्लाघा करता हुआ अपने स्थान गया।[2]

१३. नमि राजर्षि ने सांय-सांय जलती हुई मिथिला नगरी की ओर झांका तक नहीं। उनकी इस निर्मोह स्थिति को शास्त्रकारों ने प्रशस्त बतलाया है।[3]

१४. चुलनीपिता श्रावक अपने पौषध व्रत में अपनी माता को बचाने के लिए उठा। इससे उसका पौषधव्रत भंग हो गया। सूरादेव, चुलशतक, सकडाल आदि के सम्मुख भी ऐसे उपसर्ग हुए। जो-जो स्त्री, माता आदि को बचाने के लिए उठे, उनके पौषधव्रत-भंग हुए। ये सब सराग अनुकम्पाएं थीं।[4]

भगवान् श्री महावीर ने दीक्षा-ग्रहण से पूर्व एक वर्ष तक स्वर्ण-मुद्राओं का दान किया।[5] देवता अज्ञात भूमिगत धन लाकर उनके कोष में रखते[6] और भग-

---

१. अनुकम्पा चौपई गीति १ गाथा २१

२. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा १-१०

३. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा ११-१६

४. अनुकम्पा चौपई गीति ३ गाथा २८-३७

५. आचारांग सूत्र तथा कल्पसूत्र

६. चिरभ्रष्टानि नष्टानि, प्रक्षीणस्वामिकानि च।
अनिप्रनष्टसेतूनि, गिरिकुंजगतानि च॥
श्मशानस्थानगूढानि, गुप्तानि च गृहान्तरे।
रजतस्वर्णरत्नादिधनान्याहृत्य सर्वतः॥

वान् प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान करते। इस प्रकार समग्र वर्ष में उन्होंने तीनसौअठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान किया। प्रत्येक तीर्थंकर भी दीक्षा से पूर्व ऐसा करते हैं।

प्रश्न होता है यह दान किस हेतु से होता होगा ? शास्त्र इस विषय में मौन हैं, अतः नाना हेतु सोचे जा सकते हैं। देव धन एकत्रित करते हैं। भगवान् के हाथों दिलाते हैं, इससे यह अर्थ तो स्पष्ट-स्पष्ट निकल ही आता है कि भगवान् के महिमा-ख्यापन का ही यह एक उपक्रम है। परम्परागत होने के कारण भगवान् उसे करते हैं। आज भी दीक्षार्थी के हाथों से सोने-चांदी की अंगूठियां बंटाई जाती हैं। वे स्मृति की सूचक हैं। मिले भोगों को छोड़ना ही वास्तविक त्याग है।[1] दान व्यक्ति की सम्पन्नता को व्यक्त करता है। लोग समझ लेते हैं, भगवान् का संन्यास अभाव का नाम त्याग[2] ऐसा नहीं है। सबसे महान् अर्थ वर्षीदान का यह निकलता है—सम्पन्नता से मोक्ष नहीं मिलता। दान-समर्थ लोगों का भी आत्म-कल्याण तो सर्वस्व-त्याग अर्थात् संयम-ग्रहण करने में ही है।

इस दान को धर्म-पुण्य से जोड़ने में तो सहज ही प्रश्न उठ सकता है, वह धर्म-पुण्य मिलेगा किसे ? वह धन तो देवार्जित था। देवों ने भी इधर-उधर से उठाया था। उनके मूल मालिक तो और ही लोग रहे होंगे। आचार्य भिक्षु ने कहा—इस प्रकार धन देने में ही धर्म-पुण्य होता तो देवता भगवान् श्री महावीर की प्रथम वाणी को निष्फल क्यों जाने देते ? अर्थ-दान तो उनके लिए कोई बड़ी बात ही नहीं है।[3] आदिनाथ प्रभु ने जब वर्षीदान दिया, दीन, अनाथ याचक रहे ही कौन

वासवादिष्टधनदप्रेरिता जृम्भकाः सुराः।
ददतोऽपूरयन् भर्तुः, पयांसीव पयोमुचः॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २० से २२

१. जेय कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥
—दशवैकालिक सूत्र अ० २ गाथा ३

२. वत्थ गन्ध मलंकारं इत्थिओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
—दशवैकालिक सूत्र अ० २ गाथा २

३. जिण धर्म हुवे सोनइया दीधां, तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा, वीर वाणी निरफल न जात जी॥
रतन हीरा ने माणक पन्नां, मन मानें ज्यूं देवता देत जी।

होंगे ? लोग उनकी दीक्षा-वार्ता से स्वयं वैराग्यशील हो रहे थे। उन्होंने भगवान् का सम्मान रखने के लिए केवल प्रसाद-बुद्धि से ही दान लिया।[1] न यह पात्र दान था, न करुणादान। धर्म-पुण्य का लेखा-जोखा उसके साथ बैठ ही कैसे सकता है?

आचार्य भिक्षु और अनुकम्पा चौपई

आचार्य श्री भिक्षु के विस्तृत व्यक्तित्व को थोड़े-से शब्दों में रखना सागर को गागर में भरने का प्रयत्न मात्र है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की एक झांकी तेरापंथ धर्मसंघ है। एक छोटा-सा पौधा जो उन्होंने अपने हाथों से रोपा, वही आज शतशाखी वट-वृक्ष होकर उनकी स्मृति का एक धर्म-स्तूप बन गया है। तेरापन्थ की प्रत्येक विशेषता में उनके बिखरे बीज ही फूटे हैं। आचार्य भिक्षु एक सिद्धहस्त कृषिक थे। उनके हाथ से गिरा कोई बीज व्यर्थ नहीं गया। छव साधुओं का उनका समुदाय आज दो सौ वर्षों के पश्चात् छव सौ से भी अधिक श्रमणों का समुदाय बन गया है। तेरह श्रावकों की संक्षिप्त संख्या विस्तृत होकर आज लाखों में चली गई है। तेरापन्थ अपने नवम अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आज सर्वजनोपयोगी हो रहा है। यह सब उन्हीं दीर्घदर्शी और कुशल व्यवस्थापक आचार्य श्री भिक्षु की देन है।

आचार्य श्री भिक्षु आचार से, विचार से अहिंसक थे। उन्होंने शास्त्र-विलोडन किया, अहिंसा का नवनीत पाने के लिए। वे बोले, अहिंसा का तत्त्व समझाने के लिए। उन्होंने लिखा, रचा, अहिंसा को अमर बनाने के लिए। उनके अहिंसा तत्त्व की एक झांकी उनके जीवन-प्रसंगों (भिक्खु दृष्टान्त) में मिलती है। विविध मतों के लोग आते और उनसे अहिंसा विषयक प्रश्न पूछते। उत्तर देने की उनकी शैली तात्त्विक होते हुए भी व्यवहारिक होती। उनके तर्क अत्यन्त तीक्ष्ण होते। जिज्ञासु को सन्तोष होता। दुराग्रही की चुप्पी होती। प्रश्न आया—किसी ने चार पैसे देकर सपेरे के पास से सर्प को छुड़ाया। छूटते ही सर्प चूहे के बिल में गया, पर वहां पर चूहा नहीं था। छुड़ानेवाले को धर्म हुआ या पाप ? आचार्य भिक्षु ने प्रश्न का समाधान एक प्रतिउदाहरण से किया। उन्होंने कहा—किसी ने कौवे पर गोली चलाई। कौवा उड़ गया। गोली चलाने वाले को पुण्य हुआ या पाप ? तात्पर्य

वीर री वाणी सफल करे, देवता पिण लाहो लेत जी॥

—अनुकम्पा चौपई गीत १२ गाथा १-२

१. जातसंसारवैराग्या, दीक्षया स्वामिनो जनाः।
दोषामात्रमदोऽगृह्णन्निच्छादानेऽपि नाऽधिकम्॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् पर्व १ सर्ग ३ श्लोक २५

चूहा या कौवा नहीं मरा यह तो उनके आयुष्य बल की बात थी। सर्प को छुड़ानेवाला और गोली चलानेवाला तो अपनी ओर से हिंसा कर ही चुका।[1]

कुछ लोग कहने लगे—आचार्य भिक्षु की मान्यता है, बकरे को बचाने में, बचने के पश्चात् वह (बकरा) पानी, वनस्पति आदि की जीवन पर्यन्त जो-जो हिंसा करता है, उन सब हिंसाओं का पाप उस बचानेवाले को क्रमशः लगता रहता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—मेरी तो मान्यता है कि असंयति के पोषण में असंयत जीवन का जो अनुमोदन उस समय हुआ, उसका पाप तो उसी समय लग चुका। जीवन-भर जैसे-जैसे वह पाप करता रहेगा, वैसे-वैसे बचानेवाले को पाप लगता रहेगा, यह मेरी मान्यता नहीं है। हां, यह मान्यता अपवाद उठानेवाले उन लोगों की अवश्य हो सकती है। क्योंकि वे तपस्या का धारणा कराने में आगे की जानेवाली तपस्या का फल भी धारणा करानेवाले को मानते हैं। धर्म यदि पीछे मुड़कर आता है तो उनकी मान्यता के अनुसार पाप भी पीछे मुड़कर आना चाहिए। तपस्या का फल यदि धारणा करानेवाले को मिलेगा तो धारणा करनेवाला तपस्या न करके यदि किसी की हत्या कर डाले तो उनकी मान्यता के अनुसार उस हत्या का फल भी उसे क्यों नहीं मिलेगा?[2]

'भिक्खु दृष्टान्त' आचार्य भिक्षु के जीवन-प्रसंगों का एक अनूठा संग्रह है। आचार्य भिक्षु के दिवंगत होने के बहुत वर्षों पश्चात् मुनिप्रवर श्री हेमराजजी ने अपने स्मृति-बल से इसका संकलन कराया। तेरापन्थ के भावी अधिनायक श्रीमद् जयाचार्य ने उनसे सुनकर ये जीवन प्रसंग लिखे।[3] दोनों मुनि पुंगव इस कार्य के लिए अवश्य ही बधाई के पात्र हैं। यह संकलन कर उन्होंने उनके अहिंसा तत्त्व को ही नहीं, प्रत्युत उनके गौरवमय जीवनवृत्त को ही साकार कर दिया है।

आचार्य भिक्षु स्वयं सिद्ध कवि थे। उन्होंने कविता करना कब सीखा, इसका कोई इतिहास नहीं बना। पर उनका सुविस्तृत कविता-साहित्य उनके सिद्धहस्त कवि होने का ज्वलन्त प्रमाण है। उनका राजस्थानी पद्य-साहित्य अड़तीस हजार श्लोक परिमाण माना जाता है। 'व्रताव्रत री चौपई', 'आचार री चौपई' 'जिनाज्ञा री चौपई', 'श्रावकना बारह व्रत' आदि अनेकों ग्रंथ अहिंसा सम्बद्ध हैं।

---

१. भिक्खु दृष्टान्त २७२

२. भिक्खु दृष्टान्त १३५

३. हेम लिखाया हर्ष स्यूं, लिख्या जीत धर खंत।
सरस रसे भारी सोभता भिक्खु ना दृष्टान्त॥

—भिक्खु दृष्टान्त—प्रशस्ति

'अनुकम्पा चौपई' अपने विषय का उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें विभिन्न रागों में सन्दर्भित बारह गीतिकाएं हैं। प्रत्येक गीतिका पर भूमिका रूप में कुछ दोहे हैं। समग्र ग्रंथ छः सौ बारह गाथामय है। भाषा राजस्थानी है। कविता सहज और प्रांजल है। पाठक को लगता है, कवि अपने विषय का बिना कोई आयास उठाए गद्य में ही विवेचन किए जा रहा है। विवेचन के आधार सर्वत्र आगम, तर्क और दृष्टान्त हैं।

गीतिकाओं के विषय-क्रम का स्थूल ब्यौरा निम्न प्रकार से है—

१. प्रथम गीतिका में—अनुकम्पा के दो भेद—सावद्य और निरवद्य। आग-मोक्त अनुकम्पा प्रसंग। आज्ञा और अनाज्ञा की कसौटी पर।

२. द्वितीय गीतिका में—साधु और श्रावक का अनुकम्पा धर्म एक। एक का संरक्षण, एक के चपेटी।

३. तीसरी गीतिका में—जीवन और मरण की कामना धर्म नहीं। अनुकम्पा में राग। मोह अनुकम्पा सहित और मोह अनुकम्पा रहित घटना प्रसंग।

४. चौथी गीतिका में—हिंसा का करना, करवाना और अनुमोदन करना पाप है, पर देखना पाप नहीं। जीव रक्षा पर सात दृष्टान्त।

५. पांचवी गीतिका में—जीव-रक्षा पर तीन दृष्टान्त। त्याग धर्म है, पर त्याग का भौतिक परिणाम धर्म नहीं।

६. छठी गीतिका में—दया की परिभाषा। कथनी और करनी में भेद।

७. सातवीं गीतिका में—जगत् जीवों का मात्स्य न्याय। मिश्र-धर्म पर सात दृष्टान्त। एक को मारकर अनेक की रक्षा। बल-प्रयोग में धर्म नहीं। श्रेणिक राजा की अमारी घोषणा। जीव-रक्षा पर दो वेश्याओं का उदाहरण।

८. आठवीं गीतिका में—दया के दो स्वरूप—लौकिक और लोकोत्तर। दया को पहचानने में भूल। एक समान दया-प्रसंगों में एक को हेय कहना, एक को उपा-देय कहना। मिश्र-धर्म पर विवेचन।

९. नवमीं गीतिका में—दया भगवती का रूप। हिंसा धर्म की हेयता। पंचेन्द्रिय जीवों के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा। स्थावर जीवों का समारम्भ। हिंसा-धर्म के प्ररूपण में महाव्रत भंग। अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा। धर्मार्थ हिंसा। जीवमात्र की समानता। हिंसा और दया की करणी एक नहीं। दया में हिंसा का मेल नहीं। हिंसा में धर्म तो जल-मंथन में घृत।

१०. दसवीं गीतिका में—गौशालक पर की गई अनुकम्पा का सविस्तार विवेचन।

११. इग्यारहवीं गीतिका में—उपकार के दो रूप। लोकोत्तर उपकार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा अन्य विविध प्रकार। लौकिक उपकार—माता-पिता

की सेवा तथा अन्य विविध प्रकार। जन्म-जन्मान्तर में उपकार-परम्परा।

१२. बारहवीं गीतिका में—भगवान् श्री महावीर के वर्षीदान पर सविस्तार विवेचन। लड्डुओं के लिए पौषध और तप। देवों द्वारा जीव दया की सम्भावना। सावद्य-दान की पहिचान।

प्रत्येक गीतिका में नाना अवान्तर विषय हैं, उन्हें क्रमबद्ध कर लेना अत्यन्त विस्तार सापेक्ष है।

'अनुकम्पा चौपई' आचार्य श्री भिक्षु द्वारा कब रची गई, यह एक प्रश्न है। समग्र द्वादश गीतिकाओं में अन्तिम चार गीतिकाओं के अन्त में उनका रचना-काल, विषय और स्थान का ब्यौरा दिया है।

नवम गीतिका सं० १८४४ फाल्गुन शुक्ला नवमी।

दसम गीतिका सं० १८५३ आषाढ़ कृष्णा एकादशी।

ग्यारहवीं गीतिका सं० १८५४ आश्विन शुक्ला द्वितीया।

बारहवीं गीतिका सं० १८५७ कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी।

उक्त चारों गीतिकाओं के रचना-काल में कम-से-कम एक और अधिकतम नौ वर्षों का अन्तर है। इससे यह लगता है, समग्र अनुकम्पा चौपई निश्चित रूप-रेखा के आधार पर किसी एक ही अवधि में नहीं रची गई है। अनुकम्पा गीतिकाओं के सम्बन्ध में अन्य जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे उनका उक्त चार गीतिकाओं के बहुत ही पूर्व रचा जाना प्रमाणित होता है। लगता है—स्थानकवासी समाज से पृथक् होते ही आचार्य भिक्षु ने रचनाएं नहीं कीं। लोगों की साम्प्रदायिक व्यामूढ़ता के कारण जब आचार्य भिक्षु को अपना तत्त्व समझा सकने में निराशा हुई तो एक बार के लिए उन्होंने जन-कल्याण की चिन्ता छोड़कर, स्व-कल्याण के लिए उत्कट तपस्या करते हुए निकेवल आत्म-साधना में लगे। कुछ समय पश्चात् अपने सहवर्ती साधुओं द्वारा प्रेरित होकर पुनः वे लोक-प्रबोधन के कार्य में जुटे। तब उन्होंने नाना रचनाएं कीं। जिनमें अनुकम्पा गीतिकाएं भी प्रमुख थीं। इसका आधार हमें आचार्य भिक्षु के संस्मरणों में[1] मिलता है। पर उन संस्मरणों से भी सुनिश्चित

---

१. भीखणजी स्वामी हेमजी स्वामी ने कह्यो। म्हें उणाने छोड्या जद पांच वर्ष तांइ तो पूरो आहार न मिल्यो। घी चोपड़ तो कठै। कपड़ो कदाचित् बासती मिलती तो सवा रुपीया री। तो भारमलजी स्वामी कहिता पछेवड़ी आपरै करो। जद स्वामीजी कहिता एक चोलपटो थांरै करो एक म्हांरै करो। आहार पाणी आयनें उजाड़ में सब साध परहा जावता। रूंखड़ा री छायां सो आहार पाणी मेलने आतापना लेता, आथण रा पाछा गाम में आवता।

रचना-काल नहीं पकड़ा जाता। भिक्षुजशरसायन में रचना-उल्लेख के साथ मेवा
की ओर जाने का भी उल्लेख है।[1] पूर्वोक्त जीवन संस्मरणों से आचार्य भिक्षु
पृथक् होने से पांच वर्षों के अन्दर ही अनुकम्पा चौपई के रचे जाने का आभा
मिलता है और भिक्षुजशरसायन से लगभग तीन वर्ष के अन्दर ही। आचार्य भि
का प्रथम चतुर्मास केलवा मेवाड़ में होता है। दूसरा और तीसरा चतुर्मास क्रमश
बरलू और सिरियारी (मारवाड़) में होता है। चौथे और पांचवे चतुर्मास
लिए वे पुनः मेवाड़ में जाते हैं।[2] इससे लगता है अपने नव प्रव्रज्या के तीसरे व
में ही उन्होंने अनुकम्पा सम्बन्धी गीतिकाओं की रचना प्रारम्भ की है। निश्चि
रूप से यह कहना कठिन ही है कि आठों गीतिकाओं की रचना क्रमशः एकाध व
में ही सम्पन्न हो गई या स्पष्ट रूप से एक-एक गीतिका यथा प्रसंग बनती गई
आठों गीतिकाओं में यत्र तत्र भावों की पुनरावृत्ति भी है। इससे यह भी माना ज
सकता है कि प्रत्येक गीतिका अपने आप में स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कुल मिला
कर अनुकम्पा चौपई बन गई है। प्राचीन ग्रन्थों में आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा प
रचनाएं (अनुकम्पा री जोड़ां) कीं, ऐसे उल्लेख ही बहुधा मिलते हैं। चौपई शब
पीछे से जोड़ा गया है, ऐसा सम्भव लगता है। आचार्य भिक्षु का नव प्रव्रज्या का
वि० संवत् १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा का है। उपर्युक्त उदाहरणों से अनुकम्प
चौपई की रचना का आरम्भ काल वि० संवत् १८२० सम्भावित होता है औ
पूर्ति काल बारहवीं गीतिका के अन्त में वि० संवत् १८५७ दिया गया ही है।

इण रीते कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्हें या न जाणता म्हांरो मारग जमसं
नें म्हां में यूं दीक्षा लेसी ने यूं श्रावक श्राविका हुसी। जाण्यो आत्मा रा कार
सारसां मर पूरा देसां इम जाणनें तपस्या करता। पछै कोई-कोई रे सरध
बेसवा लागी। समझवा लागा। जद थिरपालजी फतैचन्दजी आदि मांहिल
साधां कह्यो लोग तो समझता दीसै है। थें तपस्या क्यूं करो। तपस्या करण
तो म्हें छांईज। थें तो बुद्धिवान छो सो धर्म रो उद्योत करो। लोकां नें सम
झावो। जद पछै विशेष खप करवा लागा। आचार अनुकम्पा री जोड़ां क
व्रत अव्रत री जोड़ां करी। घणा जीवां नें समझाया। पछै बखाण जोड्या

—भिक्खु दृष्टान्त संख्या २७६

१. प्रगट मेवाड़ में पूज पधारीया युक्ति आचारनी जोड़।
अनुकम्पा दया दान रे ऊपरे जोड़ां करी धर कोड़॥

—भिक्षुजशरसायन गीति १० गाथा १०

२. आचार्य चरित्रावली सम्पादकीय से

अनुकम्पा चौपई और अहिंसा पर्यवेक्षण

अनुकम्पा चौपई का विवेचन अहिंसा विषयक प्रचलित धारणाओं से सम्बन्धित और खण्डन-मण्डनात्मक है, तो भी उससे साध्य-साधन, बल-प्रयोग और हृदय-परिवर्तन आदि अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्त सहज ही पकड़े जा सकते हैं। प्रस्तुत 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' आचार्य भिक्षु के अहिंसा-चिन्तन का एक अध्ययन है। अनुकम्पा चौपई का समग्र अध्ययन यह सहज रूप से हो ही जाता है। अनुकम्पा चौपई जीवन के व्यावहारिक प्रसंगों से अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तों पर पहुंचाती है और 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अहिंसा के आधारभूत सिद्धान्तों से जीवन-व्यवहार के अहिंसा विवेक पर लाता है। इस शैली-भेद से दोनों कृतियों की सापेक्ष उपयोगिता बनी रहती है। 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' पर जाने वाले के लिए अनुकम्पा चौपई का स्वतन्त्र अध्ययन अपेक्षित रहेगा और अनुकम्पा चौपई का अध्ययन कर चुकनेवालों के लिए 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' का।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' अनुकम्पा चौपई पर एक अध्ययन होने के साथ-साथ भारतीय अहिंसा-चिन्तन के प्रवृत्ति और निवृत्ति अंगों का एक समग्र अध्ययन भी बन गया है। प्रागार्य काल से आचार्य श्री भिक्षु और महात्मा गांधी के युग तक की अहिंसा-मान्यताओं का एक शोधमूलक सिंहावलोकन है।

'अहिंसा पर्यवेक्षण' क्यों और कब ?

आचार्यप्रवर के कलकत्ता प्रवास की बात है। कासीपुर में आचार्यप्रवर के सान्निध्य में तेरापंथ [illegible] साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन हो रहा था। कुछ एक साधु और कुछ एक साहित्य-प्रेमी श्रावक उसमें भाग ले रहे थे। चर्चा-प्रसंग में आचार्यप्रवर ने कहा—अनुकम्पा चौपई को आधुनिक भाव-भाषा में और शोधपूर्ण [illegible] के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख रखा जा सके, यह अत्यन्त अपेक्षित है। यहीं चर्चा-प्रसंग मेरी ओर भी ढला और मुझे इस कार्य के लिए समुद्यत होना पड़ा। 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् महावीर और बुद्ध विषय पर एक तुलनात्मक और शोधपूर्ण अध्ययन में मैं अपने आपको लगा चुका था। तत्पश्चात् उस विषय से मुड़कर इस ओर लगना अधिक सहज तो नहीं लगा, पर [illegible]। आचार्य प्रवर का इंगित इसे बहुत आवश्यक बना चुका था। [illegible] के सम्बन्ध में मैं कुछ [illegible], वह [illegible] प्रेरणा भी स्वतः [illegible] प्रकट हो उठी और मैं [illegible] साहित्य-[illegible] स्थगित कर इस ओर प्रवर्तित हुआ।

[illegible] में इस सम्बन्ध से विशेष कार्य न हो सका। आचार्यप्रवर

के सान्निध्य में चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवादमात्र वहां हो सका। चतुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार-प्रसंग था। शीत ऋतु के छोटे-छोटे दिन और प्रतिदिन दोनों समय के बड़े-बड़े विहार; साहित्य-सर्जन के लिए बचा-खुचा समय पैरों की मरहम पट्टी में लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के सांकेतिक घटना प्रसंग इस अवधि में लिख लिये गए।

सरदारशहर से आचार्यप्रवर के आदेश को पाकर वि०संवत्२०१७ के चातुर्मास-प्रवास के लिए दिल्ली आए। यहां लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वांछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ़ शुक्ल पक्ष में'अहिंसा-पर्यवेक्षण'का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित जैसा ही रहा। चिन्तन, मनन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति से स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेखन-कार्य बीच में रोक देना पड़े, ऐसी स्थितियां आई, पर जैसे-तैसे उठाए कार्य की मंगल ममता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा होने दिया। इस प्रवृत्ति में मुझे जितना श्रम उठाना पड़ा, उससे अधिक मैं लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थों की स्वाध्याय हुई और ज्ञान बढ़ा।

अनुवाद कार्य

दूसरे के भावों को भाषा-भेद से अपने शब्दों में बान्धना अनुवाद है। यह अनुष्ठान दूर से जितना सरल लगता है, प्रयोग में उतना ही कठिन होता है। पद्यात्मक ग्रन्थों का गद्यानुवाद तो अनुवादक को श्रेयोभाग् होने का बहुत ही थोड़ा अवसर देता है। एक भाषा के लालित्य को दूसरी भाषा में फिर भी लाया जा सकता है, पर पद्य के लालित्य को गद्य में ला देने का प्रयत्न तो नमक का आस्वाद अलोनी वस्तु में लाने जैसा ही है। अनुकम्पा चौपई के अनुवाद की उपयोगिता तो केवल यहीं तक मानकर चलना चाहिए कि राजस्थानी भाषा में गति न रखनेवाले विद्वान् आचार्य भिक्षु के भावों को ज्यों का त्यों नहीं, परन्तु अधिकतम निकटता से समझ सकें। अनुवाद व्याख्या-प्रधान नहीं है, पर वह यथेष्ट रूप में शब्दानुसारी तथा भावानुसारी रह सके, यह मेरा अभिप्रेत रहा है। कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी भाववाची शब्द प्रयोग में लिए गए हैं तो कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्दों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसे अनुवादों में किसी एक ही नियम पर रूढ़ होकर चलना संगत नहीं लगा। मूल ध्येय पर स्थिर रहकर जहां जैसा उपयुक्त लगा, वहां वैसा ही किया। तेरापन्थ में राजस्थानी साहित्य को हिन्दी में अनूदित करने का यह प्रथम प्रयास है। विगत में अनुवादकों को कोई व्यवस्थित

शैली नहीं मिल रही है। उन्हें स्वयं ही अपना मार्ग बनाना है। बहुत शालीनता उसमें न भी आ पाए तो भी भावी विकास की भूमिका रूप तो वह होगा ही।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और सानुवाद अनुकम्पा चौपई का युगवत् नाम अहिंसा-विवेक है। इसके प्रणयन में मेरा कार्य केवल विचारों को योग देने भर का रहा है। पाण्डुलिपि से लेकर समग्र सम्पादन कार्य तक का कार्य मेरे सहयोगी मुनियों का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने सम्बन्धित अंग्रेजी ग्रन्थों के जुटाने एवं उनके अवलोकन में हाथ बटाया। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थों को स्वाध्याय और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य में लगभग मेरे जितना ही समय लगाया है। मेरी सुविधा के लिए उन्हें अपनी सुविधाएं न्यौछावर कर देनी पड़ी हैं। मुनि हर्षचन्द्रजी का भी लेखन-कार्य में उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' का है। उन्होंने मेरी अब तक की और भी दसों पुस्तकों का निष्काम और निर्लोभ सम्पादन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुकम्पा चौपई का पारिभाषिक शब्दकोष उन्होंने अपनी स्वतन्त्र शैली से तैयार किया है। हरएक शब्द का हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषागत रूप उससे जाना जा सकता है। शब्दों की सूत्रबद्ध परिभाषा उन्हें बहुत खोज पड़ताल से उपलब्ध हुई है। एक-एक शब्द के लिए अनेकों ग्रन्थ टटोलने पड़े हैं। जो शब्द कहीं भी नहीं मिले उनकी मौलिक परिभाषा उन्होंने स्वयं तैयार की है।

दूसरा कोष उन्होंने राजस्थानी शब्दों का बनाया है। उसमें उन्होंने वे ही शब्द लिए हैं, जो अधिकांशतः आज की राजस्थानी में प्रचलित नहीं हैं। राजस्थानी भाषा के भी मेवाड़ी, मारवाड़ी, ढूंढाड़ी, बीकानेरी आदि नाना भेद हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु की मातृ-भाषा मारवाड़ी थी। मेवाड़ आदि प्रदेशों में उनका अधिक रहना हुआ; अतः सब की मिश्रित रूप से उनकी भाषा बन ही गई। कुछ भी हो दो सौ वर्षों के पश्चात् भाषा-व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। आज राजस्थानी व्यक्ति उनकी भाषा को सर्वतः समझ ले, यह कठिन है। भविष्य में यह और भी कठिन होता जाएगा, यह लगता ही है; अतः आवश्यकता भी यह है कि समग्र भिक्षु-साहित्य पर एक स्वतन्त्र कोष का निर्माण हो ताकि वह सुन्दर साहित्य सब सुगम भाषा से पढ़ा जा सके।

अनुकम्पा चौपई में भी ऐसे शब्दों की बहुलता है जो वर्तमान राजस्थानी भाषा से लुप्त हुए रहते हैं। 'जापे', 'पाखण्डियो', 'टबके', '[illegible]', 'रोझ रोझे', '[illegible]' आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। प्रस्तुत शब्द-कोष से मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने ऐसे शब्दों का [illegible] शब्द देकर [illegible]

के सान्निध्य में चलनेवाली अनेक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तुत कार्य गौण ही रह सकता था। केवल अनुकम्पा चौपई का अनुवादमात्र वहां हो सका। चतुर्मास के पश्चात् कलकत्ता से राजस्थान का प्रलम्बतर विहार-प्रसंग था। शीत ऋतु के छोटे-छोटे दिन और प्रतिदिन दोनों समय के बड़े-बड़े बिहार; साहित्य-सर्जन के लिए बचा-खुचा समय पैरों की मरहम पट्टी में लग जाता था। फिर भी अनुकम्पा चौपई के सांकेतिक घटना प्रसंग इस अवधि में लिख लिये गए।

सरदारशहर से आचार्यप्रवर के आदेश को पाकर वि०संवत् २०१७ के चातुर्मास-प्रवास के लिए दिल्ली आए। यहां लेखन-कार्य के लिए अनुकूल वातावरण रहा। वांछित ग्रन्थ-सामग्री सुलभ हुई। आषाढ़ शुक्ल पक्ष में 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' का लेखन-कार्य प्रारम्भ हो गया। अणुव्रत-कार्यक्रम स्थगित जैसा ही रहा। चिन्तन, मनन और ग्रन्थावलोकन की अतिशय प्रवृत्ति से स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। लेखन-कार्य बीच में रोक देना पड़े, ऐसी स्थितियां आईं, पर जैसे-तैसे उठाए कार्य की मंगल ममता ने मुझे बचाया और कार्य को भी पूरा होने दिया। इस प्रवृत्ति में मुझे जितना श्रम उठाना पड़ा, उससे अधिक मैं लाभान्वित भी हुआ। अनेकानेक ग्रन्थों की स्वाध्याय हुई और ज्ञान बढ़ा।

अनुवाद कार्य

दूसरे के भावों को भाषा-भेद से अपने शब्दों में बान्धना अनुवाद है। यह अनुष्ठान दूर से जितना सरल लगता है, प्रयोग में उतना ही कठिन होता है। पद्यात्मक ग्रन्थों का गद्यानुवाद तो अनुवादक को श्रेयोभाग् होने का बहुत ही थोड़ा अवसर देता है। एक भाषा के लालित्य को दूसरी भाषा में फिर भी लाया जा सकता है, पर पद्य के लालित्य को गद्य में ला देने का प्रयत्न तो नमक का आस्वाद अलोनी वस्तु में लाने जैसा ही है। अनुकम्पा चौपई के अनुवाद की उपयोगिता तो केवल यहीं तक मानकर चलना चाहिए कि राजस्थानी भाषा में गति न रखनेवाले विद्वान् आचार्य भिक्षु के भावों को ज्यों का त्यों नहीं, परन्तु अधिकतम निकटता से समझ सकें। अनुवाद व्याख्या-प्रधान नहीं है, पर वह यथेष्ट रूप में शब्दानुसारी तथा भावानुसारी रह सके, यह मेरा अभिप्रेत रहा है। कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी भाववाची शब्द प्रयोग में लिए गए हैं तो कहीं-कहीं पर्यायवाची शब्दों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसे अनुवादों में किसी एक ही नियम पर रूढ़ होकर चलना संगत नहीं लगा। मूल ध्येय पर स्थिर रहकर जहां जैसा प्रशस्त लगा, वहां वैसा ही किया। तेरापन्थ में राजस्थानी साहित्य को हिन्दी में अनूदित करने का यह प्रथम अध्याय है। विरासत में अनुवादकों को कोई व्यवस्थित

शैली नहीं मिल रही है। उन्हें स्वयं ही अपना मार्ग बनाना है। बहुत शालीनता उसमें न भी आ पाए तो भी भावी विकास की भूमिका रूप तो वह होगा ही।

'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और सानुवाद अनुकम्पा चौपई का युगपत् नाम अहिंसा-विवेक है। इसके प्रणयन में मेरा कार्य केवल विचारों को बोल देने भर का रहा है। पाण्डुलिपि से लेकर समग्र सम्पादन कार्य तक का कार्य मेरे सहयोगी मुनियों का ही है। मुनि महेन्द्रकुमारजी'द्वितीय'ने सम्बन्धित अंग्रेजी ग्रन्थों के जुटाने एवं उनके अवलोकन में हाथ बटाया। मुनि मानमलजी ने सम्बन्धित ग्रन्थों की स्वाध्याय और प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-कार्य में लगभग मेरे जितना ही समय लगाया है। मेरी सुविधा के लिए उन्हें अपनी सुविधाएं न्यौछावर कर देनी पड़ी हैं। मुनि हर्षचन्द्रजी का भी लेखन-कार्य में उल्लेखनीय योग रहा है।

सम्पादन का सारा कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'का है। उन्होंने मेरी अब तक की और भी दशों पुस्तकों का निष्काम और निर्नाम सम्पादन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुकम्पा चौपई का पारिभाषिक शब्दकोष उन्होंने अपनी स्वतन्त्र शैली से तैयार किया है। हरएक शब्द का हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा-गत रूप उससे जाना जा सकता है। शब्दों की सूत्रबद्ध परिभाषा उन्हें बहुत खोज पड़ताल से उपलब्ध हुई है। एक-एक शब्द के लिए अनेकों ग्रन्थ टटोलने पड़े हैं। जो शब्द कहीं भी नहीं मिले उनकी सौत्रिक परिभाषा उन्होंने स्वयं तैयार की है।

दूसरा कोष उन्होंने राजस्थानी शब्दों का बनाया है। उसमें उन्होंने वे ही शब्द लिए हैं, जो अधिकांशतः आज की राजस्थानी में प्रचलित नहीं हैं। राजस्थानी भाषा के भी मेवाड़ी, मारवाड़ी, ढंढाड़ी, बीकानेरी आदि नाना भेद हो जाते हैं। आचार्य भिक्षु की मातृ-भाषा मारवाड़ी थी। मेवाड़ आदि प्रदेशों में उनका अधिक रहना हुआ; अतः वह भी आंशिक रूप से उनकी भाषा बन ही गई। कुछ भी हो दो सौ वर्षों के पश्चात् भाषा-व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। आज राजस्थानी व्यक्ति उनकी भाषा को शब्दशः समझ लें, यह कठिन है। भविष्य में यह और भी कठिन होता जाएगा, यह लगता ही है; अतः आवश्यकता तो यह है समग्र भिक्षु-साहित्य पर एक स्वतन्त्र कोष का निर्माण हो ताकि वह सुदूर भविष्य तक मूल भाषा में पढ़ा जा सके।

अनुकम्पा चौपई में भी ऐसे शब्दों की बहुलता है जो वर्तमान राजस्थानी भाषा से बहुत दूर रह गए हैं। 'जबून', 'आन्तरियो', 'उदके', 'डराणै', 'रीजक रोटी', 'ममाई' आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। प्रस्तुत शब्द-कोष में मुनि महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' ने ऐसे शब्दों का यथार्थ पर्यायवाची शब्द देने का पर्याप्त यत्न

किया है। वयोवृद्ध मुनिजनों की परम्परागत धारणाओं से भी उन्होंने अपने कोष को समृद्ध बनाया है।

सम्पादन कार्य के साथ-साथ उन्होंने 'अहिंसा-पर्यवेक्षण' और अनुवाद को अनेकशः समालोचनात्मक बुद्धि से पढ़ा है, मुझे समुचित सुझाव दिए हैं। संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि के उद्धरणों को यथास्थान योजित किया है और शुद्धाशुद्धि के दुरूह कार्य में अपने आपको खपाया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पन्नता में उनका श्रम मेरे श्रम की अपेक्षा कहीं अधिक ही भारवान् है।

मैं उन विद्वानों का विशेष आभारी हूं, जिनके शोधपूर्ण ग्रन्थ मेरे लेखन-कार्य में योगभूत हुए हैं।

वि० सं० २०१७ कार्तिक पूर्णिमा
दिल्ली,

—मुनि नगराज

अहिंसा पर्यवेक्षण में प्रयुक्त ग्रन्थ

१. अंगुत्तरनिकाय
२. अध्यात्मविचारणा
३. अनुकम्पा चौपई
४. अमितगति श्रावकाचार
५. अशोक के धर्म-लेख
६. अहिंसा
७. अंहिसा के आचार और विचार का विकास
८. आचारांग सूत्र
९. आचार्य चरितावलि
१०. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
११. आवश्यक निर्युक्ति
१२. आवश्यकसूत्र
१३. ईश्वर गीता
१४. उत्तराध्ययनसूत्र
१५. उपासकदसांगसूत्र
१६. ऋग्वेद
१७. ऋषभचरित्र
१८. कर्मयोग शास्त्र
१९. कल्पसूत्र
२०. गांधी और गांधीवाद
२१. गांधी वाणी
२२. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—प्रथम भाग
२३. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—द्वितीय भाग
२४. गांधीजी, खण्ड दश, अहिंसा—चतुर्थ भाग
२५. गीता
२६. गीता-रहस्य
२७. गीता रामानुजभाष्य
२८. गीता शांकरभाष्य
२९. छान्दोग्य उपनिषद्

३०. जम्बूदीवपण्णत्तिसूत्र
३१. जिन आज्ञारी चौपई
३२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
३३. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र
३४. ठाणांगसूत्र
३५. तत्त्वार्थसूत्र
३६. त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्
३७. दसवैकालिकसूत्र
३८. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
३९. धर्म अधिकरण
४०. धर्मरत्न प्रकरण
४१. नवजीवन
४२. निशीथसूत्र
४३. निशीथसूत्रचूर्णिका
४४. निशीथसूत्रभाष्य
४५. पंचाशक
४६. पातंजलयोग सूत्र
४७. पातंजलयोगसूत्र भाष्य
४८. पार्श्वचरित्र
४९. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
५०. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
५१. प्रमाणवार्तिक
५२. प्रश्नव्याकरण सूत्र
५३. प्रश्नोत्तरतत्त्वबोध
५४. बारहव्रत री चौपई
५५. बृहत्कल्पभाष्य
५६. बृहदारण्यक उपनिषद्
५७. बोधिचर्यावतार
५८. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
५९. बौद्धधर्म
६०. बौद्धधर्म-दर्शन
६१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
६२. भगवती सूत्र
६३. भगवती सूत्रवृत्ति

६४. भगवान् बुद्ध
६५. भारतीय वाङ्मय
६६. भारतीय संस्कृति और अहिंसा
६७. भिक्खु दृष्टान्त
६८. भिक्षुजसरसायन
६९. मंगल प्रभात
७०. मनुस्मृति
७१. महाभारत
७२. युद्ध और अहिंसा
७३. लोंकेजी की हुण्डी
७४. विनोबा के विचार
७५. विशुद्धिमग्ग
७६. व्यापक धर्म-भावना
७७. व्रत अव्रत री चौपई
७८. शान्तसुधारसभावना
७९. श्री जैनसिद्धान्तदीपिका
८०. संयुत्तनिकाय
८१. सत्य की खोज में
८२. सद्धर्ममण्डन
८३. सर्वोदय
८४. सर्वोदय दैनिक जीवन में
८५. सूत्तनिपात
८६. सूत्रकृतांगसूत्र
८७. स्वतन्त्रता की ओर
८८. हरिजन
८९. हरिजन बन्धु
९०. हाजरी
९१. हिन्द स्वराज्य
९२. हिन्दुस्तान
93. A Review of Indian Archaeology (1953-54)
94. Ahinsa in Indian Culture
95. Ancient India (An Advanced History of India–Part 1)
96. Bodhisatva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature
97. Cambridge History of India

98. Elements of Jainism
99. History of Indian Literature
100. History of Philosophy, Eastern and Western
101. Indian Culture
102. Indian Thought and its Development
103. Indo-Aryan Races
104. Mohenjo-daro and the Indus Civilization (1931) vol. 1
105. Prehistoric India
106. Religion and Philosophy of the Veda (vol. I)
107. Studies in Philosophy (vol. 1.)
108. Studies in the Origins of Buddhism
109. The Cultural Heritage of India (vol. II)
110. The Indus Civilisation (by Mackay)
111. The Indus Civilisation (by Wheeler)
112. The Psychological Foundations of the State
113. The Religion of Ahinsa
114. The Vedic Age
115. Vedic Mythology
116. Voice of Ahinsa.

अनुकम्पा चौपई

दुहा

अनुकम्पा ने आदरे, कीज्यो घणा जतन।
जिनवर ना धर्म मांहिली, समकित पाप रतन ॥१॥

गाय भेंस आक थोर नों, ए च्यारूंई दूध।
तिम अनुकम्पा जाणज्यो, राखे मन में शुद्ध ॥२॥

आक दूध पीधां थकां, जुदा हुवै जीव-काय।
ज्यूं सावद्य अनुकम्पा कियां, पाप कर्म बंधाय ॥३॥

भोलेई मत भूलज्यो, अनुकम्पा रे नाम।
कीज्यो अंतरंग पारिखा, ज्यूं सीझे आतम काम ॥४॥

अनुकम्पा में आगन्यां, तीर्थंकर नी होय।
सावद्य निर्वद्य ओलखो, सूतर साह्मों जोय ॥५॥

ढाल : १

[राग—समकित वमियो]

मेघकुंवर हाथी रा भव में, श्री जिन-भाषी दया दिल आई।
ऊंचो पग राख्यो सुसलो न मार्यो, या करणी श्री वीर सराई॥
या अनुकम्पा जिन-आज्ञा में ॥१॥

कष्ट सह्यो तिण पाप सूं डरते, मन दिढ़ सेंठी राखी तिण काया।
बलता जीव दावानल जाणी, सूंड सूं गिर-गिर बारे न लाया ॥२॥

परत संसार कियो तिण ठामें, उपनो श्रेणिक नें घर आई।
भगवंत आगे दीक्षा लीधी, पहिला अध्येन ज्ञाता मांहि ॥३॥

मांडलो एक जोजन रो कीधो, घणां जीव बच्या तिहां आई।
तिण बचियां रो धर्म न चाल्यो, समकित आयां बिन समझन काई ॥४॥

दोहा

अनुकम्पा को हृदयंगम कर जैन धर्म में रत्न-स्वरूप माने जाने वाले संप्राप्त सम्यक्त्व का संरक्षण करना चाहिए ॥१॥

जिस प्रकार गाय, भैंस, आक और थोहर के दूध, दूध नाम से ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार अनुकम्पा को भी मन की जागरूकता से जानना चाहिए ॥२॥

जैसे आक का दूध पीने से मनुष्य मर जाता है, उसी प्रकार सावद्य अनुकम्पा करने से अशुभ कर्म का बन्धन होता है ॥३॥

केवल अनुकम्पा शब्द पर ही मत भूलना। उसके अन्तरंग स्वरूप की परीक्षा करना, जिससे आत्म-कार्य सिद्ध हो ॥४॥

निरवद्य अनुकम्पा में तीर्थंकरों की आज्ञा होती है, इस दृष्टि से आगमों का अवलोकन कर सावद्य और निरवद्य अनुकम्पा को पहचानना चाहिए ॥५॥

गीति

जिन-भाषित दया मन में लाकर मेघकुमार ने हाथी के भव में अपना पैर उठाए रखा, शशक को नहीं मारा, इसका वर्णन भगवान् श्री महावीर ने स्वयं किया है। यह अनुकम्पा आज्ञा-सम्मत है ॥१॥

पाप-भय के कारण उसने कष्ट सहा। मन को दृढ़ व शरीर को स्थिर करके रखा, पर दावानल में जलते जीवों को सूंड से पकड़-पकड़कर वह बाहर नहीं लाया ॥२॥

उस समय उसने 'परित्तसंसार' (परिमित संसार) किया। श्रेणिक राजा के घर जन्म लिया और भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्ययन में इसका वर्णन है ॥३॥

उसने एक योजन का परिमण्डल तैयार किया। उसमें आकर बहुत सारे जीव बचे, पर उनके बचने को धर्म नहीं कहा। सम्यक्त्व आए बिना यह समझ में नहीं आ सकता। इस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥४॥

नेमकुंवर परणीजण चाल्या, पशु-पंखी देख दया दिल आणी।
इसड़ो काम सिरे नहीं मुजनें, म्हारे काज हणे बहु प्राणी ॥५॥

परणीजण सूं परिणामज फिरिया, राजमती नें ऊभी छिटकाई।
कर्म तणा बंध सूं नेम डरिया, तोड़ी आठ भवां री सगाई ॥६॥

आप सूं मरता जीव जाणी नें,कड़वा तूंबा रो कीधो आहारो।
कीड़्यां री अनुकम्पा आणी, धिन-धन धर्मरुची अणगारो ॥७॥

फोड़वी लब्धि अनुकम्पा आणी, गोसाला नें वीर बचायो।
छ लेश्या छद्मस्थज हुंता, मोहकर्म वश राग ज आयो।
आ अनुकम्पा सावद्य जाणो ॥८॥

असंजती गोसालो कुपातर, तिणनें सहाज शरीर रो दीधो।
धर्म जाणे तो जगत दुःखी थो, बले वीर ए काम कांय न कीधो ॥९॥

तेजु लेश्या मेली गोसाले, बाल्या दोय साधु भसम करी काया।
लब्धिधारी था साधु घणाई, मोटापुरुषां नें क्यूं न बचाया ॥१०॥

जिनरखिये अनुकम्पा कीधी, रयणादेवी रे साहमों जोयो।
सेलग यक्ष हेठो उतार्‌यो, देवी आय खड़्ग में पोयो ॥११॥

भगता हरणगमेषी नो सुलसा, कीधी अनुकंम्पा विलखी जाणी।
छ वेटा देवकी रा जाया,सुलसा रे घर मेल्या आणी ॥१२॥

यज्ञ वाड़े हरिकेशी आया, असणादिक त्यानें नहीं दीधा।
यक्षदेव अनुकम्पा आणी, रुद्र वमंता ब्राह्मण कीधा ॥१३॥

मेघकुंवर गर्भे हुंतो जव, सुख रे तांई किया अनेक उपायो।
धारणी राणी कीधी अनुकम्पा, मन गमता असणादिक खायो ॥१४॥

नेमिकुमार विवाह के लिए चले। पशु-पक्षियों को देखकर उनके मन में दया आई। सोचा, यह कार्य मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है; क्योंकि मेरे लिए ही बहुत सारे प्राणी मारे जाने वाले हैं ॥५॥

विवाह से मन फिर गया। राजीमती को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया। कर्मों के वन्धन से डर कर नेमिकुमार ने आठ भवों का जो नाता था, तोड़ दिया। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ॥६॥

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर धर्मरुचि अनगार ने कड़ुवे तुम्वे का आहार किया। वे चींटियों की अनुकम्पा करने वाले धर्मरुचि अनगार धन्य हैं। यह अनुकम्पा भी जिनेश्वरदेव की आज्ञा में है ॥७॥

महावीर स्वामी ने अनुकम्पा करते हुए लब्धि फोड़कर गोशालक को वचाया। उस समय भगवान् छ लेश्या वाले और छद्मस्थ थे। मोह कर्म के कारण उनको यह राग आया ॥८॥

गोशालक असंयती और कुपात्र था। उसे शारीरिक सहयोग भगवान् श्री महावीर ने किया। यदि इसमें धर्म समझते तो सारा जगत दुःखी था, भगवान् ने इस उदाहरण को फिर से दुहराया तो नहीं ॥९॥

अपनी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक ने दो साधुओं को जलाकर भस्मसात् कर दिया। वहां लब्धिधारी साधु तो वहुत थे। उन महापुरुषों को उन्होंने क्यों नहीं बचाया? यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१०॥

जिनऋषि ने करुणा करके रयणादेवी के सम्मुख देखा। शैलक यक्ष ने उसे नीचे गिरा दिया और देवी ने आकर उसे अपने खड्ग में पिरो लिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥११॥

सुलसा हिरण्यगवेषी देव की भक्ता थी। उसे दुःखी देखकर देव ने अनुकम्पापूर्वक देवकी से उत्पन्न छ पुत्रों को सुलसा के घर लाकर रख दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१२॥

हरिकेशी मुनि यक्ष-स्थल पर आए। उनको वहां अशनादिक नहीं दिया गया। यक्ष देवता ने उनकी अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को रुधिर-स्रावी वना दिया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१३॥

मेघकुमार जब गर्भ में था, तव धारिणी रानी ने गर्भ की अनुकम्पा करते हुए उसके सुख के लिए अनेक उपाय किये। मन की रुचि के अनुसार भोजन किये। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१४॥

अभयकुमार रो मित्री देवता,तिण अभयकुंवर री अनुकम्पा आणी ।
धारणी राणी रो डोहलो पूर्‌यो,अकाले वर्षा करनें वरसायो पाणी ।।१५।।

कृष्णजी नेम वंदण ने जातां, एक पुरुष नें दुखियो जाणी ।
साहज दियो अनुकम्पा कीधी, ईंट उठाय उणरे घर आणी ।।१६।।

दुखिया दोहरा देख दरिद्री, अनुकम्पा उणरी किण आणी ।
गाजर मूलादिक सचित्त खवावै, वले पावै काचो अणगल पाणी ।।१७।।

दुखिया जीव मारग में देखी, टल जावै साधु संकोची काया ।
आप हणे नहीं पाप सूं डरता, अनुकम्पा आणी न मेले छाया ।।१८।।

उपाड़ी ने छाया मेले तो, असंजती जीव री व्यावच लागी ।
या अनुकम्पा साधु करे तो, जावै पांचूंई महाव्रत भागी ।।१९।।

सो साधु ग्रीषम काल उन्हाले, पाणी बिना हुवै जुदा जीव काया ।
अनुकम्पा आण नें अशुद्ध बहिरावै,छ काया रा पीहर साधु बचाया।।२०।।

गजसुकमाल ले नेम री आज्ञा, काउसग्ग कियो मसाण में जाई ।
सोमल आय खीरा शिर ढाया, शीश न धूण्यो दया दिल आई ।।२१।।

साधु बिना अनेरा सर्व जीवां री, अनुकम्पा आणी साधु बांधे बंधावै ।
तिणरो नशीत रे बारमें उद्देशे, साधु नें चोमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२२।।

रासड़ीयादिक सूं तस जीव बंध्या छै,
ते तो भूख तृषा सूं अत्यंत दुख पावै ।
त्यांने अनुकम्पा आण नें छोड़े छोड़ावै,
तिण साधु ने चौमासी प्रायश्चित्त आवै ।।२३।।

अभयकुमार के मित्र देवता ने उसकी अनुकम्पा करके धारिणी रानी का दोहद पूरा किया। अकाल में वर्षा की। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१५॥

श्री कृष्ण ने नेमिनाथ प्रभु को वन्दनार्थ जाते समय एक पुरुष को दुःखी देख कर उस पर अनुकम्पा की। उसको सहयोग दिया। एक ईंट उठाकर उसके घर रख दी। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥१६॥

दुःखी, कष्ट प्राप्त तथा दरिद्रों को देखकर कोई उनके प्रति अनुकम्पा लाकर उन्हें गाजर, मूला आदि सजीव वस्तु खिलाता है तथा अनछाना पानी पिलाता है, उस अनुकम्पा को सावद्य समझना चाहिए ॥१७॥

अपने द्वारा जीवों को मरते देखकर साधु अपने शरीर को संकुचित कर टल जाते हैं। पाप से डर स्वयं उनकी हिंसा नहीं करते, परन्तु उनकी अनुकम्पा करके उन्हें छाया में लाकर नहीं रखते। इसको आज्ञा-सम्मत अनुकम्पा समझना चाहिए ॥१८॥

यदि जीवों को उठाकर छाया में रखे तो असंयती की वैयावृत्ति (परिचर्या) करने का दोष लगता है। साधु यदि ऐसी अनुकम्पा करते हैं तो उनके पांचों ही महाव्रत भंग होते हैं ॥१९॥

विषम ग्रीष्मकाल का समय है। सौ साधु हैं। पानी के बिना उनके प्राण जा रहे हैं। किसी ने अनुकम्पा करके अशुद्ध पानी उन्हें वहिराया (दान दिया) और उन छ काया के रक्षक साधुओं को बचाया। यह अनुकम्पा सावद्य समझनी चाहिए ॥२०॥

गजसुकुमाल मुनि ने नेमिनाथ भगवान् की आज्ञा लेकर श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग किया। सोमिल ने आकर उनके सिर पर अंगारे रख दिये। उनके मन में दया थी, अतः उन्होंने अपना सिर हिलाया नहीं। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ॥२१॥

साधु के अतिरिक्त अन्य जीवों की अनुकम्पा करके कोई साधु उन्हें बांधे या दूसरों से बंधवाये तो उस साधु को निशीथ सूत्र उद्देशक १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२२॥

रस्सी आदि से जो जीव वन्धे हुए हैं और वे भूख, तृषा आदि से अत्यन्त पीड़ित हैं। अनुकम्पा लाकर यदि कोई (साधु) उन्हें छुड़ाता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ॥२३॥

व्याधि कुष्टादिक रोगीलो सुण नें, तिण ऊपर वेद चलाय ने आवै ।
साजो करे अनुकम्पा आणी, गोली चूरण दे रोग गमावै ॥२४॥

लब्धिधारी रा खेलादिक थी, सोलेई रोग जड़ां सूं जावै ।
बले जाणे साधु यो रोग सूं मरसी, अनुकम्पा आणी रोग नहीं गमावै॥२५॥

जो अनुकम्पा साधु करे तो, उपदेश देई वैराग चढ़ावै ।
चोखे चित पेलो हाथ जोड़े तो, च्यारूंई आहारनां त्याग करावै ।
या अनुकम्पा निरवद्य जाणो ॥२६॥

गृहस्थ भूलो उजाड़ वन में,
अटवी बले उज्जड़ जावै ।
अनुकम्पा आणी साधु मारग बतावै,
तो च्यार महिनां रो चारित्र जावै ॥२७॥

अटवी में भूला नें अत्यंत दुखी देखी, च्यारूंई शरण साध दिरावै ।
मारग पूछै तो मूनज साझै, बोले तो भिन्न-भिन्न धर्म सुणावै ॥२८॥

दुहा

अनुकम्पा इह लोक री, कर्म तणो बंध होय ।
ज्ञान दर्शन चारित्र बिना, धर्म म' जाणे कोय ॥१॥

जे अनुकंपा साधु करे, ते नवा न बांधे कर्म ।
तिण मांहिली श्रावक करे, तिण में पिण छै धर्म॥२॥

साधु श्रावक दोनूं तणी, एक अनुकम्पा जाण ।
अमृत सहु नें सारिषो, कूड़ी मत करो ताण ॥३॥

वरजी अनुकम्पा साधु नें, सूतरनी दे शाख ।
चित्त लगाय नें सांभलो, श्री वीर गया छै भाष ॥४॥

किसी के कुष्ठादि अनेक व्याधियां हैं। कोई वैद्य यह सुनकर अपने आप आता है। चूर्ण, गोली आदि देकर उसका रोग मिटाता है और उसे स्वस्थ कर देता है। यह सावद्य अनुकम्पा है ॥२४॥

लब्धिधर मुनि के श्लेष्म आदि से सोलह ही रोग समूल मिट जाते हैं। मुनि यह जान भी ले, यह व्यक्ति रोग के कारण मरने वाला है तो भी अनुकम्पा करके उसका रोग नहीं मिटाते। यह अनुकम्पा सावद्य होती है ॥२५॥

साधु यदि अनुकम्पा करते हैं तो उपदेश देकर उसका वैराग्य बढ़ाते हैं। शुद्ध हृदय से वह यदि चाहता है तो उसे चारों आहार भोगने का प्रत्याख्यान करा देते हैं। यह अनुकम्पा निरवद्य है ॥२६॥

कोई गृहस्थ जंगल में भटक गया और वह उजड़ ही उजड़ चलता जा रहा है। अनुकम्पा करके यदि कोई साधु उसे मार्ग बताता है तो उसको चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता हैं ॥२७॥

जंगल में उसे अत्यन्त दुःखी देखकर साधु उसे चार शरण देते हैं। यदि वह मार्ग पूछता है तो साधु मौन रहते हैं। यदि वे बोलते हैं तो भिन्न प्रकार से धर्मोपदेश सुनाते हैं। यह अनुकम्पा जिनेश्वर देव की आज्ञा में है ॥२८॥

गीति २

दोहा

लौकिक अनुकम्पा से कर्म बन्ध होता है। ज्ञान,दर्शन व चारित्र के अभाव में धर्म नहीं हो सकता ॥१॥

जो अनुकम्पा साधु करते हैं और जिससे नवीन पाप बंध नहीं होता, वही अनुकम्पा यदि श्रावक करता है तो उसे भी धर्म ही होगा ॥२॥

अमृत जिस प्रकार सबके लिए एक जैसा होता है, उसी प्रकार साधु व श्रावक के द्वारा की जाने वाली अनुकम्पा भी एक रूप ही होगी। इसके लिए खींचातान नहीं करनी चाहिए ॥३॥

आगमों में भगवान् श्री महावीर ने जिन-जिन अनुकम्पाओं का साधु के लिए निषेध किया है, उनका यहां वर्णन किया जाता है। उसे चित्त लगाकर सुनो ॥४॥

ढाल : २

[राग—यतनी]

डाभ मूंजादिक नी डोरी, वंधीया करे हेला नें सोरी।
सी तापादिक कर दुखिया, साता वंछै जाणै हुवा सुखिया ॥१॥
अनुम्कपा उणारी आणे, छोडे छोडावै नें भलो जाणै।
तिणनै चोमासी प्रायश्चित आवै, धर्म जाणे तो समकित जावै ॥२॥

इम बांधे वंधावै हुवै राजी, तिणरो संजम गयो भाजी।
ए तो सावद्य कामा जाणो, तिणरा साधां किया पचक्खाणो ॥३॥

जीवणो मरणो नहीं चावै, साधु क्यांने वंधावै छोड़ावै।
ज्यांरी लागी मुगत सूं ताली, नहीं करे तिके रुखवाली ॥४॥

गृहस्थ रे लागी लायो, घर वारे निकलियो न जायो।
बलता जीव बिल-बिल बोलै, साधु जाय कंवाड़ न खोलैं ॥५॥

द्रव्ये भावे लाय लागी, तिण मांहे केयक वैरागी।
तिणरी अनुकम्पा आवै, उपदेश देइ समभावै ॥६॥
जन्म मरण री लाय थी काढ़े, उणरो काम सिराड़े चाढ़े।
पकड़ावै ज्ञानादिक डोरी, तिण थी आठूंई कर्म दे तोड़ी ॥७॥

अनुकम्पा कियां डंड आवै, परमारथ बिरला पावै।
नशीत नो बारमों उद्देशो, निज भाषी दया नी रेंसो ॥८॥

छोड़े साधु सूतर में कहै चाल्यो, ए तो अर्थ अणहुंतो घाल्यो।
भोलां ने कुगुरां बहकाया, कूड़ा-कूड़ा अर्थ बताया ॥९॥

सिंघ बाघादिक मंजारी, हिंसक जीव देखी आचारी।
त्यांनें मार कह्यां हिंसा लागै, पहिलोई महाव्रत भागै ॥१०॥

गीति

डाभ, मूंज आदि की रस्सी से त्रस जीव बन्धे हैं, शीत, ताप आदि से दुःखी हैं, बिलबिलाहट कर रहे हैं, सुख-शान्ति के लिए अत्यन्त व्यग्र हैं, उनकी अनुकम्पा करके साधु उन्हें बन्धन से छोड़ता है, दूसरे से छुड़वाता है या किसी छोड़ने वाले को अच्छा मानता है तो उस साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। ऐसा करके उस कार्य में यदि वह धर्म मानता है तो उसकी सम्यक्त्व भी चली जाती है ॥१-२॥

इसी प्रकार यदि वह अनुकम्पा करके किसी प्राणी को बान्धता है, बन्धवाता है, बान्धने वाले का अनुमोदन करता है तो उसका संयम चला जाता है। ये सब सावद्य कार्य हैं। इनका साधु ने प्रत्याख्यान किया है ॥३॥

साधु उन प्राणियों का जीना भी नहीं चाहता, मरना भी नहीं चाहता तो वह क्यों बान्धेगा और क्यों छुड़ाएगा ? उसकी प्रीति मुक्ति से लगी है। वह किसकी रखवाली करेगा ॥४॥

गृहस्थ के घर में आग लगी है। घर से बाहर नहीं निकला जाता। आग में जलते जीव बिलबिलाहट करते हैं, पर साधु जाकर कपाट नहीं खोलता ॥५॥

संसार में तो द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की आग लगी ही है। कुछ एक लोग वैराग्यवान् होते हैं, जो भाव आग से बाहर निकलना चाहते हैं। उनकी अनुकम्पा साधु करते हैं और उन्हें उपदेश के द्वारा प्रतिबोध देते हैं। उस जन्म और मृत्यु की आग से बाहर निकालते हैं, उनका काम सिद्ध करते हैं। वे उसे ऐसी ज्ञान की रस्सी पकड़वाते हैं कि वे आठों ही कर्मों के तोड़ने में समर्थ हो जाते हैं ॥६-७॥

अनुकम्पा करने से प्रायश्चित्त आता है, इस परमार्थ को कोई विरला व्यक्ति ही समझ पाता है। निशीथ सूत्र के बारहवें में उद्देशक में जिन भगवान् ने दया का रहस्य प्रकट किया है ॥८॥

कुछ लोग कहते हैं,साधु बन्धे प्राणियों को खोल सकता है, यह आगम में कहा है; यह अर्थ अत्यन्त निराधार है। भोले-भाले लोगों को कुगुरु शास्त्रों का अर्थ बता कर बहका देते हैं ॥९॥

सिंह, बाघ,बिल्ली आदि हिंसक जीवों को देखकर यदि साधु कहे, इन्हें मारो तो उसे हिंसा लगती है, पहला महाव्रत टूटता है। यदि साधु (घटना प्रसंग पर)

मत मार कह्यां उणरो रागी, तीजे करण हिंसादिक लागी।
सूयगड़ाअंग छै साखी, श्री वीर गया छै भाखी ॥११॥

गृहस्थ रो शरीर ममता में, साधु बैठा समता में।
रह्या धर्म शुक्ल ध्यान ध्याई, मूवां गयां री फिकर न कांई ॥१२॥

इहलोग नें परलोग, जीवणो मरणो काम भोग।
ए तो पांचूंई छै अतिचार, वांछ्यां नहीं धर्म लिगार ॥१३॥

आपणोई बांछें तो पाप, पर नो कुण घालै संताप।
घणो जीवणो वांछे अज्ञानी, समभाव राखै ते ज्ञानी ॥१४॥

वायरो वर्षा सी ताप, रह्यो न रह्यो चावै तो पाप।
राज विरोध रहित सुकाल, उपद्रव जावो तत्काल ॥१५॥
सातां बोलां रो ए विस्तार, ओलखियो ते अणगार।
घट में जो समता आवै, हुवा न हुवा एको ही न चावै ॥१६॥

एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नों चालो, दशवैकालिक संभालो ॥१७॥

साधू बैठो नावा में आई, नावड़िये नाव चलाई।
नावा फूटी मांहे आवै पाणी, साधु देखे लोकां नहीं जाणी ॥१८॥
आप डूबे अनेरा प्राणी, किणरी अनुकम्पा नाणी।
बतायां व्रत रो भंग, तिणरो शाखी आचारंग ॥१९॥
सानी कर साधु जतावै, लोक कुसले खेमें घर आवै।
डूबा पिण साधु न चावै, रह्या चावै तो तुरत बतावै ॥२०॥
मौन साध रहे ते संत, तिके करे संसार नो अंत।
परिणामज राखै सेंठा, धर्म ध्यान मांहि रहै बैठा ॥२१॥

यह कहे, इन्हें मत मारो तो उन जीवों के प्रति राग प्रकट होता है और उन हिंसक पशुओं द्वारा वध्य प्राणियों की हिंसा का अनुमोदन लगता है। सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान् श्री महावीर ने ऐसा कहा है ॥१०-११॥

गृहस्थ का शरीर उसकी ममता में है और साधु अपनी समता में है। वे धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान ध्याते हैं। उन्हें किसी के मरने की चिन्ता नहीं होती ॥१२॥

लोक-वांछा, परलोक-वांछा, जीवन-वांछा, मृत्यु-वांछा और कामभोग-वांछा ये पांच अपश्चिममारणान्तिकी संलेखना के अतिचार माने गये हैं। इनमें धर्म जरा भी नहीं हैं ॥१३॥

श्रावक के अपने जीवन की वांछा भी पाप है तो दूसरे की जीवन-वांछा करके कौन संतापित होगा ? अधिक जीना जो चाहते हैं, वे अज्ञानी हैं तथा जीवन व मृत्यु में समभाव रखते हैं, वे ज्ञानी हैं ॥१४॥

पवन, वृष्टि, शीत, ताप, क्षेम, सुकाल, उपद्रव ये सात बातें हों या न हों, यह चाहना मात्र पाप है। घट में यदि समता होती है तो इन सातों बातों का होना या न होना कुछ भी नहीं चाहता। इन सात बोलों का विस्तृत हार्द जिसने पहचान लिया है, वही अनगार है ॥१५-१६॥

एक आदमी के चपेट मारना और दूसरे को पुचकारना ये दोनों कार्य राग-द्वेष जन्य हैं। दशवैकालिक सूत्र में इसका वर्णन है ॥१७॥

साधु नाव में बैठा है। नाविक नाव चला रहा है। नाव में छिद्र हो गया है और पानी भर रहा है। उसे साधु के अतिरिक्त और किसी ने नहीं देखा है। साधु स्वयं डूबने की ओर जा रहा है, दूसरे लोग भी डूबने जा रहे हैं। उसके मन में किसी के प्रति अनुकम्पा नहीं आई। क्योंकि छिद्र बताने से व्रत-भंग होता है। आचारांग सूत्र इस बात का साक्षी है। संकेत करके भी यदि साधु उस छिद्र को बताता है तो सब लोग कुशल-मंगल के साथ अपने घर पहुंचते हैं। सब लोग डूब जाएं, यह भी साधु नहीं चाहता। सब लोग जीएं, यह यदि वह चाहता तो तत्काल उस छिद्र को बता देता। साधु वहां धर्म-ध्यान में स्थिर होकर मौन रहता है और अपनी परिणाम-दृढ़ता से संसार का अन्त करता है ॥ १८-१९-२०-२१ ॥

दुहा

वांछै मरणो जीवणो, तो धर्म तणो नहीं अंस ।
ए अनुकम्पा कियां थकां, बधे कर्म नों वंस ॥१॥
मोह अनुकम्पा जे करे, तिणमें राग नें द्वेष ।
भोग बधे इंद्रयां तणो, अंतर ऊंडो देख ॥२॥
दया अनुकम्पा आदरी, तिण आतम आणी ठाय ।
मरतां देखी जगत नें, सोच फिकर नहीं कांय ॥३॥
कष्ट सह्या घर में थकां, पाल्या व्रत रसाल ।
मोह अनुकम्पा श्रावकां, त्यां पिण दीधी टाल ॥४॥
काचा था ते चल गया, होय गया चकचूर ।
के सेंठा रह्या चलिया नहीं, त्यांनें वीर वखाण्या सूर ॥५॥

ढाल : ३

[राग—तुम जोयज्यो रे स्वारथ ना सगा]

चंपानगरी ना बाणियां, जिहाज भरनें समुद्र में जाय रे ।
तिण अवसर एक देवता, त्यांनें उपसर्ग कीधो आय रे ।
जीव मोह अनुकम्पा न आणिये ॥१॥

मिनका सीयाल खांधे बेसाणनें, गले पहिरी छै रुंड माल रे ।
लोही राध सूं लीप्यो शरीर नें, हाथे खडग दीसे विकराल रे ॥२॥

लोक धड़-धड़ लागा धूजवा, और देव रह्या मन ध्याय रे ।
अरणक श्रावक डरियो नहीं, तिण काउसग्ग दीधो ठाय रे ॥३॥

सागारी अनशन कियो, धर्म ध्यान रह्यो चित्त ध्याय रे ।
सगलां नें जाण्या डूबता, अनुकम्पा न आणी काय रे ॥४॥

अरणक श्रावक नैं डिगायवा, देव वद-वद बोलै वाय रे ।
जो अरणक धर्म न छोड़सी, तो जिहाज डबोऊं जल मांय रे ॥५॥

गीति ३

दोहा

जीने व मरने की वांछा करना, धर्म का अंश नहीं है। वांछा युक्त इस अनुकरण से कर्म का बन्ध होता है ।।१।।

मोह युक्त अनुकम्पा में राग व द्वेष होता है और उससे इन्द्रियों के भोग बढ़ते हैं, यह अन्तर्दृष्टि से समझने की बात है ।।२।।

दया व अनुकम्पा को जो अपना लेता है, वह आत्म-स्थित होकर रहता है। संसार को मरते देखता है, पर वह चिन्तातुर नहीं होता ।।३।।

गृहस्थपन में चलने वाले श्रावकों ने भी कष्ट सहकर अपने व्रतों को निभाया, परन्तु मोह अनुकम्पा को तो टाला ।।४।।

जो दुर्बल थे,वे विचलित होकर चूर-चूर हो गए। जो दृढ़ रहे, विचलित नहीं हुए, उन्हें भगवान् महावीर ने शूरवीर कहा है ।।५।।

गीति

चम्पा नगरी के वणिग् भरे जहाज समुद्र में जा रहे थे। उस समय एक देवता ने उन्हें उपसर्ग दिया।……हे जीव मोह अनुकम्पा मत कर ।।१।।

शृगाल और मार्जार उसके कन्धे पर बैठे थे। गले में कटे सिरों की माला थी। रक्त और रस्सी से लिप्त शरीर था और हाथ में विकट खड्ग था ।।२।।

लोग थर-थर कांपने लगे और अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने लगे। अरणक श्रावक डरा नहीं और उसने कायोत्सर्ग आरम्भ कर दिया ।।३।।

उसने सागारी अनशन कर दिया। धर्म-ध्यान में अपना चित्त लगाया। सबको डूबते देखकर उसे अनुकम्पा नहीं आई ।।४।।

अरणक श्रावक को विचलित करने के लिए देवता बढ़-बढ़कर बोल रहा है, यदि अरणक! आज धर्म नहीं छोड़ेगा तो मैं इस जहाज को जल में डुबा दूंगा ।।५।।

ऊंची उपाड़ नें ऊंधी न्हाख नै, करसूं सगलां री घात रे।
काली बोली अमावस रा जण्या, मान रे तूं अरणक वात रे ॥६॥

ज्ञान दर्शन म्हारा व्रत नै, इणरो कीधो विघन न थाय रे।
हूं सेवग छूं भगवान रो, मौनै कोई न सके चलाय रे ॥७॥

लोक विल-विल करता देखनें, अरणक रो न विगड्यो नूर रे।
मोह करुणा न आणी केहनी, देव उपसर्ग कीधों दूर रे ॥८॥

देव धन्य-धन्य अरणक नें कहै, तूं तो जीवादिक रो जाण रे।
थारा सुधर्मी सभा मझे, इन्द्र किया घणा वखाण रे ॥९॥

अरणक श्रावक रा गुण देखनें, आया देव री दाय रे।
दोय कुंडल जोड़ी आप नैं, देव आयो जिण दिशि जाय रे ॥१०॥

नमिराय ऋषि चारित्त लियो, ते तो ऊभो वाग में आय रे।
इन्द्र आयो नमि नें परखवा, ते किण विध बोलै वाय रे ॥११॥

थारी अगनि करी मिथिला बले, एकर सूं साह्मों जोय रे।
अंतेवर बलतो मेलसी, ए बात सिरे नहीं तोय रे ॥१२॥

सुख वपराय सारा लोक में, बिलखा देख पुत्र-रतन रे।
जो तूं दया पालण नें ऊठियो, तो कर तूं यांरा जतन रे ॥१३॥

नमि कहै वसूं जीवूं सुखे, म्हारी पल-पल सफली जात रे।
या मिथिला नगरी दाझतां, म्हारो बले नहीं तिलमात रे ॥१४॥

मोनै हर्ष नहीं मिथिला रह्यां, वलियां नहीं शोक लिगार रे।
मैं सावद्य जाण त्यागी तिका, रही बली न चावै अणगार रे ॥१५॥

जहाज को ऊपर उठाऊंगा और आंधी करके फिर नीचे गिराऊंगा। काली-पीली अमावस के दिन जन्मने वाले हे अरणक ! मेरी बात मान, नहीं तो मैं सबकी घात करूंगा ॥६॥

मैं भगवान् का सेवक हूं। मुझे कोई विचलित नहीं कर सकता। मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र में इसका किया हुआ विघ्न नहीं हो सकता ॥७॥

लोगों को बिलबिलाहट करते देखकर भी अरणक का स्वरूप बिगड़ा नहीं। उसने किसी की मोह अनुकम्पा नहीं की, तब देवता ने उपसर्ग दूर कर दिया ॥८॥

देवता अरणक को धन्य-धन्य कहने लगा। उसने कहा कि तू जीवादि द्रव्यों का ज्ञाता है। सुधर्मा सभा में इन्द्र ने तेरा बहुत बखान किया था ॥९॥

अरणक श्रावक के गुण देखकर देवता प्रसन्न हुआ और दो कुण्डलों की जोड़ी देकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया ॥१०॥

नमि राजर्षि ने चारित्र ग्रहण किया और बाग में आकर ठहरे। इन्द्र उनकी परीक्षा करने के लिए आया और बोला ॥११॥

तुम्हारी मिथिला नगरी जल रही है। एक बार तुम उसकी ओर देखो। जलते हुए अन्तःपुर को यों ही छोड़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है ॥१२॥

तू ने सारे संसार में सुख का प्रादुर्भाव किया और अपने पुत्र-रत्नों को बिलखते देख रहा है। यदि तू दया पालने के लिए ही खड़ा हुआ है तो इनका यत्न क्यों नहीं करता ॥१३॥

नमि राजर्षि ने कहा—मैं सुख में बसता हूं, सुख में जीता हूं। मेरी पल-पल सफल जा रही है। मिथिला नगरी जल रही है, पर मेरा उसमें कुछ भी नहीं जल रहा है ॥१४॥

मुझे मिथिला के रहने में कोई हर्ष नहीं है और उसके जलने में जरा भी शोक नहीं है। मैंने सावद्य समझ कर जिसे छोड़ दिया, उसका रहना या जलना मैं कुछ नहीं चाहता ॥१५॥

नमिराय ऋषि आणी नहीं, मोह अनुकम्पा नी वात रे।
समभाव राखे मुगते गया, करी अष्ट कर्मां री घात रे ॥१६॥

श्रीकेसव केरो वंधवो, यो तो नामे गजसुकुमाल रे।
तिण दीक्षा ले काउसग्ग कियो, सोमिल आयो तिण काल रे ॥१७॥

माथे पाल बांधी माटी तणी, मांहें घाल्या लाल अंगार रे।
कष्ट ऊपनो वेदना अति घणी, नेम करुणा न आणी लिगार रे ॥१८॥

श्रीनेम जिनेश्वर जाणता, होसी गजसुकुमाल री घात रे।
पिण अनुकम्पा आणी नहीं, और साधु न मेल्या साथ रे ॥१९॥

श्री वीर जिनंद चोवीसमां, कल्पातीत मोटा अणगार रे।
त्यांनें देव मनुष्य तिर्यञ्च नां, उपसर्ग उपना अपार रे ॥२०॥

संगम देवता भगवंत नै, दुःख दीधा अनेक प्रकार रे।
अनारज लोकां पिण वीर नै, स्वानादिक दीधा लार रे ॥२१॥

चउसठ इन्द्र महोत्सव आविया, दीक्षा दिन भेला होय रे।
पिण कष्ट पड्या भगवान नें, नायो उपसर्ग टालण कोय रे ॥२२॥

दुःख देता देखी जगनाथ नें, किण अलगा न कीधा आय रे।
समदिष्टी देव हूंता घणा, त्यां करुणा न आणी कांय रे ॥२३॥

देवता जाण्यो श्री भगवान नें, उदे आया दीसै छै कर्म रे।
अनुकम्पा आण बिचै पड्यां, ए जिन भाख्यो नहीं धर्म रे ॥२४॥

धर्म हुवै तो आघो नहीं काढ़ता, बले वीर नें दुखिया जाण रे।
परिषह देवण आवै तेहनैं, देव अलगो करता ताण रे ॥२५॥

मच्छगलागल मण्ड रही, द्वीप समुद्रां मांय रे।
भगवंत कहै जो इन्द्र ने, तो थोड़ा में देवे मिटाय रे ॥२६॥

नमि राजर्षि ने मोह अनुकम्पा नहीं की। समभाव रखते हुए आठ कर्मों का नाश कर वे मुक्ति में चले गये ॥१६॥

श्रीकृष्ण के बन्धु गजमुकुमाल ने दीक्षा लेकर कायोत्सर्ग किया था। उस समय सोमिल ब्राह्मण वहां पर आया। उसने मुनि के मस्तक पर मिट्टी की कगार बान्धी और उसमें जलते हुए अंगारे भर दिये। मुनि को अत्यन्त कष्ट हुआ। नेमिनाथ भगवान् ने वहां जरा भी अनुकम्पा तो नहीं की ॥१७-१८॥

नेमिनाथ प्रभु जानते थे, गजसुकुमाल मुनि की घात हो जाएगी, किन्तु उन्होंने अनुकम्पा करके उनके साथ साधुओं को नहीं भेजा ॥१६॥

चौबीसवें तार्थकर जो जिनकल्पी और महा अनगार थे, उन्हें देवता, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अपार उपसर्ग हुए ॥२०॥

संगम देवता ने भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट दिया। अनार्य लोगों ने भी भगवान् के पीछे कुत्ते लगाए ॥२१॥

दीक्षा-महोत्सव में चौसठ इन्द्र आये, पर भगवान् को जब कष्ट पड़ा तो उपसर्ग टालने के लिए कोई नहीं आया ॥२२॥

सम्यग् दृष्टि देव भी बहुत थे, पर उन्होंने भी कोई करुणा नहीं दिखाई। किसी ने आकर दुःख देने वालों को भगवान् से अलग नहीं किया ॥२३॥

देवों ने जाना, भगवान् महावीर के अभी कर्मोदय है। अनुकम्पा के नाम पर बीच में पड़ना जिन-भाषित धर्म नहीं है ॥२४॥

यदि धर्म होता तो भगवान् महावीर को दुःखी देखकर वे जरा भी विलम्ब न करते और परिषह देने वालों को अलग कर देते ॥२५॥

सभी द्वीप और समुद्रों में मच्छगलागल लग रही है अर्थात् एक जीव दूसरे जीव को खा रहा है। भगवान् यदि इन्द्र से कहें तो वह यह सब थोड़े में ही मिटा सकता है ॥२६॥

पड़ती जाणे अंतराय नें, तो अचित खवावत पूर रे।
एहवी शक्ति घणी छै इन्द्रनीं, पिण कर्म न हुवै दूर रे ।।२७।।

चुलणीपिया नें पोसा मझे, देव दीधा छै दुःख आय रे।
कुण कुण हवाल तिणमें किया, ते सांभलज्यो चित्त ल्याय रे ।।२८।।

तीन बेटां रा नव सूला किया, तिणरा मूंढा आगे लाय रे।
तेल उकाल नें मांहें तल्या, बल-बलता सूं छांटी काय रे ।।२९।।

समां परिणामां वेदना सही,
जाणी आपरा संच्या कर्म रे।
अनुकम्पा न आणी अंगजात री,
तिण छोड़्यो नहीं जिन धर्म रे ।।३०।।

मत मारण रो कह्यो नहीं, ते तो जाणी सावद्य वाय रे।
करुणा न आणी मरता देखनें, सेंठो रह्यो धर्म ध्यान ध्याय रे ।।३१।।

जो तूं धर्म न छोड़सी, तो थारे देव गुरु जिम छै माय रे।
तिणने मारूं विध आगली, थारा मुहढ़ा आगे ल्याय रे ।।३२।।

जद आरत ध्यान तूं ध्यायनें, पड़सी माठी गति में जाय रे।
सुणनें चुलणीपिया चल गयो, माय राखण करै उपाय रे ।।३३।।

यो तो पुरुष अनारज कहै जिसो, झाल राखूं ज्यूं न करे घात रे।
ते तो भद्रा बचावण ऊठियो, इणरे थांभो आयो हाथ रे ।।३४।।

अनुकम्पा आणी जननी तणी, तो भांग्या व्रत नें नेम रे।
देखो मोह अनुकम्पा एहवी, तिण में धर्म कहीजे केम रे ।।३५।।

चुलणीपिया सुरादेव ना, चुलसतक नें सकडाल रे।
यां च्यारां रा मार्‍या डीकरा, देव तलि़या तेल उकाल़ रे ।।३६।।

बेटां नें मरता देखिया, नाणी मोह अनुकम्पा प्रेम रे।
ऊठ्या मात त्रियादिक राखवा, भांगा व्रत नें नेम रे ।।३७।।

यदि ऐसा करने में जीवों के आहारान्तराय होती लगती तो शक्तिशाली इन्द्र उन्हें अचित्त आहार खिला देता, पर ऐसा करने से कर्मों का नाश नहीं होता ॥२७॥

चूलनीपिता श्रावक को पौषध-व्रत में देवता ने आकर कष्ट दिया। उसने क्या कुछ किया, उसका यहां वर्णन किया जाता है ॥२८॥

चूलनीपिता के सामने आकर उसके तीन पुत्रों के नव टुकड़े किये। उन्हें तेल में तला। उस गर्म तेल से चुलनीपिता के शरीर को छांटा ॥२९॥

कृत कर्मों का भोग समझकर समता पूर्वक वह कष्ट उसने सहा। उसने पुत्रों की अनुकम्पा नहीं की और जिनेश्वर देव का धर्म नहीं छोड़ा ॥३०॥

सावद्य भाषा समझकर उसने मत मार, ऐसा भी नहीं कहा। पुत्रों को मरते देखकर भी उसे करुणा नहीं आई। धर्म-ध्यान में लीन होकर दृढ़ रहा ॥३१॥

जो तू अपना धर्म नहीं छोड़ता तो देवगुरु के तुल्य तुम्हारी माता को तुम्हारे सामने लाकर इसी प्रकार मारूंगा ॥३२॥

तब तू आर्त्तध्यान में होकर दुर्गति को प्राप्त होगा। यह सुनकर चूलनीपिता विचलित हो गया और अपनी माता के संरक्षण का उपाय करने लगा ॥३३॥

यह अनार्य पुरुष है। इसे अभी मैं पकड़ूं ताकि मेरी माता को वह न मार सके। माता भद्रा को बचाने के लिए चला तो उसके हाथ में खंभा आ गया ॥३४॥

माता की अनुकम्पा आई, तो उसके नियम व व्रत भंग हो गए। ऐसी मोह अनुकम्पा में धर्म कैसे कहा जा सकता है ? ॥३५॥

चूलनीपिता, सूरादेव, चूलशतक और शकड़ाल इन चारों के पुत्रों को देवता ने तेल उबालकर उसमें तला। पुत्रों को मरते देखा, पर मोह अनुकम्पा नहीं आई। माता, स्त्री आदि को बचाने के लिए उठे तो नियम व व्रत भंग हो गए ॥३६-३७॥

मातत्रियादिक राखतां, भाग्या व्रत नें बंध्या कर्म रे।
तो साधु बिचे पड़ियां थकां, यांनें किण विध होसी धर्म रे॥३८॥

चेड़ा नें कोणिक री वारता, निरावलिका भगवती शाख रे।
मानव मुंवा दोय संग्राम में, एक कोड़ नें असी लाख रे॥३९॥

भगवंत अनुकम्पा आण नें, पोते न गया न मेल्या साध रे।
यां नै पहिला पिण वर्ज्या नहीं, घणा जीवां री जाण विराध रे॥४०॥

ए दया अनुकम्पा जाणता, तो वीर वडाले जाय रे।
सगलां रे साता वपरावता, थोड़ा में देता चुकाय रे॥४१॥

कोणिक भगता भगवान रो, चेड़ो बारे व्रत धार रे।
इंद्र भीड़ आया ते समकिती, ए किण विध लोपता कार रे॥४२॥

ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, बधतो जाणे किणरे उपाय रे।
तो करे अनुकम्पा भवि जीवरो, वीर विना बोलयां जाय रे॥४३॥

समुद्रपाल सुखां में झिल रह्यो, संसार विषे रस लाग रे।
चोर नै मारतो देखी उपनो, उतकष्टो परम वैराग रे॥४४॥

चारित्र लियो कर्म काटवा, जाण्यो मोक्ष तणो उपाय रे।
पिण करुणा न आणी चोर नी, छोड़ावणरी न काढ़ी वाय रे॥४५॥

साध श्रावक रे एक रीत छै, तुमें जोवो सूतर रो न्याय रे।
देखो अंतर मांहे विचार नें, कूड़ी कांय करो बकवाय रे॥४६॥

दुहा

दुखिया देखी तावड़ै, जो नहीं मेलै छाय।
साधु श्रावक न गिणे तेह नैं, ए अन्यतीर्थी नी वाय॥१॥

मार्‌यां मरायां भलो जाणियां, तींनुई करणा पाप।
देखण वाला नें जे कहै, ते खोटा कुगुरु सराप॥२॥

माता, स्त्री आदि की रक्षा करने में नियम भंग हुए और कर्मबंध हुआ तो साधु यदि बीच में आ पड़े तो धर्म कैसे होगा ॥३८॥

चेटक और कोणिक का वृत्तान्त निरयावलिका व भगवती सूत्र में आया है। दो युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मरे ॥३९॥

भगवान् महावीर अनुकम्पा करके न स्वयं गए, न अपने साधुओं को भेजा। और उन दोनों को बहुत जीवों की हिंसा समझकर पहले भी नहीं रोका ॥४०॥

इस कार्य को यदि भगवान् दयारूप समझते तो स्वयं आगे होकर जाते और थोड़े में ही सबको सुखी कर देते ॥४१॥

कोणिक भगवान् का भक्त था और चेटक बारह व्रतधारी श्रावक। इन्द्र जो सहयोग में आया, वह भी सम्यक्त्वी था। ये सब भगवान् के इंगित का लंघन कैसे करते ॥४२॥

किसी का ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप प्रयत्न बढ़ता हो तो भगवान् बिना बुलाए जाकर भव्य जीवों की अनुकम्पा करते ॥४३॥

समुद्रपाल सुखों में झूल रहा था। सांसारिक विषयों में उसकी लगन लगी थी। चोर को मारे जाते देखकर उसको परम वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥४४॥

कर्म-नाश करने के लिए मोक्षोपाय समझकर चारित्र ग्रहण किया, किन्तु चोर की करुणा करके उसे छोड़ाने की बात मुख से नहीं कही ॥४५॥

साधु श्रावक की एक रीति है। सूत्रोक्त न्याय को समझो। अन्तरंग में विचार कर देखो। मिथ्या प्रलाप मत करो ॥४६॥

गीति ४

दोहा

जीवों को ताप में दुःखी देखकर जो छाया में नहीं रखता वह साधु या श्रावक की गणना में नहीं है, यह अन्यतीर्थी लोकों की भाषा है ॥१॥

मारने, मरवाने या मारते को अच्छा समझने में पाप है, देखने वाले को भी जो पाप कहे तो यह तो कुगुरु के निकृष्ट श्राप जैसा होगा ॥२॥

कर्मां करनें जीवड़ा, उपजै नैं मर जाय।
असंजम जीतब तेहनों, ते साधु न करे उपाय ॥३॥

देखे मांहोमां विणसता, अलगा करद्यां जाय।
एहवो कहै तिण ऊंपरे, साधु बतावै न्याय ॥४॥

ढाल : ४

[राग—दुलहो मानव भव कांई तुमें]

नाडो भरियो छै डेडक माछला, मांहे लीलण फूलण रा पूर हो।
लट फूहांरा आदि जलोक सूं, तस थावर भरिया अरूर हो।
भविकजन करज्यो पारखा जिन धर्म री ॥१॥

सुलिया धान तणो ढिगलो पड़्यो, मांहे लटांने ईल्यां अथाय हो।
सुलसल्या इंडादिक अति घणा, किल-बिल करे तिण मांय हो ॥२॥

एक ग़ाडो भर्‌यो जमीकंद सूं, तिण में जीव घणा छै अनंत हो।
च्यार पर्याय च्यार प्राण छै, मार्‌यां कष्ट कह्यो भगवंत हो ॥३॥

काचा पाणी तणा माटा भर्‌या, घणा जीव छै अणगल नीर हो।
नीलण फूलण आद लटां घणी, त्यांमें अनंत बताया वीर हो ॥४॥

खात भीनों उकरड़ी लटां घणी, गींडोला गधईया जाण हो।
टल-बल टल-बल कर रह्या, यांनें कर्मां न्हांख्या छै आण हो ॥५॥

कोइक जायगां में ऊंदर घणा, फिरै आमां नैं साहमां अथाग हो।
थोड़ो सो खड़को सांभलै, तो जाय दिशोदिश भाग हो ॥६॥

गुड़ खांड आदि मिष्टान्न में, जीव चिहुं दिश दोड़्या जाय हो।
माख्यां नें माका फिर रह्या, ते तो हुचके मांहो मां आय हो ॥७॥

नाडो देखी नें आवै भेंसीयां, धान ढूके बकरा आय हो।
गाडे आवै बलद पाधरा, माटे आय उभी छै गाय हो ॥८॥
पंखी चुगे उकरडी ऊपरै, ऊंदर पासे मिनकी जाय हो।
माख्यां नें माका पकड़ ले, साधु किणनें बचावैं छोडाय हो ॥९॥

कृत कर्मों के अनुसार जीव जन्मते हैं और मर जाते हैं। उनका असंयम जीवन है, उसके लिए साधु उपाय नहीं करते ॥३॥

जीवों को परस्पर नष्ट होते देखकर हम उन्हें पृथक्-पृथक् कर देते हैं, ऐसा जो लोग कहते हैं, उस पर मैं न्यायपूर्ण विवेचन करता हूं ॥४॥

गीति : ४

छोटा तालाब मेंढ़क व मछलियों से भरा है, उसमें भरपूर नीलण-फूलण जमी है और वह लट, पुग्ररा (फूंहरा), जलोक आदि त्रस प्राणियों से ठसाठस भरा है।...हे भव्य जीवों! जिनेश्वर देव के धर्म की परीक्षा करनी चाहिए ॥१॥

सड़े हुए धान का ढेर लगा है। उसमें अथाग इली, लट आदि प्राणी भरे हैं। सुलसुले, अण्डे आदि अति मात्रा में बिलबिलाहट कर रहे हैं ॥२॥

एक गाड़ी जमीकन्द से भरी है, जिसमें कि अनन्त जीव होते ही हैं। उन जीवों के चार पर्याय व चार प्राण होते हैं और भगवद्-वचन के अनुसार उन्हें मारने से उनको कष्ट होता है ॥३॥

सचित्त पानी के मटके भरे हैं। अनछाना पानी है और उसमें बहुत सारे जीव हैं। लट और नीलण-फूलण बहुत है, जिस नीलण-फूलण में भगवान ने अनन्त जीव बतलाएं हैं ॥४॥

कूड़े-करकट का ढेर जमा है। खाद गीली हो रही है। गिण्डोला, गधियां आदि जीव अपने कर्मों का फल भोगते हुए टलवल-टलवल कर रहे हैं ॥५॥

किसी स्थान में चूहे बहुत हैं। इधर-उधर दौड़ लगाते हैं। थोड़ा-सा शब्द सुनते ही चारों ओर दौड़ जाते हैं ॥६॥

गुड़, खाण्ड आदि मिष्टान्न में चारों ओर से जीव दौड़े आ रहे हैं। छोटी-बड़ी मक्खियां व मक्खे फिर रहे हैं और वे परस्पर एक दूसरे पर उछलते हैं ॥७॥

तालाब को देखकर भैंसें आती हैं। धान्य के ऊपर बकरे आते हैं। गाड़ी पर बैल सीधे आते हैं। मटकी पर गाय खड़ी है। पक्षी कूड़े के ढेर पर चुग रहे हैं। चूहों के पीछे बिल्ली जा रही है। मक्खियों को मक्खे पकड़ रहे हैं। साधु किसे बचाये, किसे छुड़ाए ॥८-९॥

भेंसां हाकल्यां नाडा मांहिला, सगला जीवां रै साता थाय हो।
बकरां नै अलगा कियां, इंडादिक जीव बच जाय हो ॥१०॥

थोड़ा-सा बलदां नै हाकल्यां, तो न मरे अनंतीकाय हो।
पाणी फूंहारादिक किणविध मरै, नेड़ी आवण न दे गाय हो ॥११॥

लट गींडोलादिक कुशले रहे, जो पंखी नें देवै उडाय हो।
मिनकी छिछकार न्हसाड़दे, तो ऊंदर घर सोग न थाय हो ॥१२॥

माका नें आघा-पाछा करै, तो माखी उड़ न्हाठी जाय हो।
साधां रे सगला सारिखा, ते तो विचै न पड़ै जाय हो ॥१३॥

मिनकी धाकल ऊंदर बचाय ले, माखी राखे माका नै धिकाय हो।
और मरता देख राखे नहीं, यां मैं चूक पड़ी ते बताय हो ॥१४॥

साधु पीहर बाजै छकाय नां, एक छोड़ावै तसकाय हो।
पांच काय मरती राखै नहीं, तो पीहर किणविध थाय हो ॥१५॥

रजोहरण लेइनें ऊठिया, जोरीदावै दिया छोड़ाय हो।
ज्ञान दर्शन चारित्र मांहिलो, यांरे बधियो ते मोय बताय हो ॥१६॥

ज्ञान दर्शन चारित्र बिना, और मुक्ति रो नहिं उपाय हो।
छोड़ा-मेला उपगार संसार नां, तिणथी शुद्धगति किणविध जाय हो ॥१७

जितरा उपगार संसार नां, ते तो सगलाई सावद्य जाण हो।
श्रीजिनधर्म में आवै नहीं, कूड़ी म' करो ताण हो ॥१८॥

अज्ञानी रो ज्ञानी कियां थकां, हुवै निश्चै पेलारो उधार हो।
कीयो मिथ्यातीरो समगती, तिण उतार्यो भव पार हो ॥१९॥

असंजती नों कियो संजती, ते तो मोक्ष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पहुंचावियो, तिण मेट्या सर्व हवाल हो ॥२०॥

भैंसों को हांक देने से तालाब में रहे सब जीवों के साता हो जाती है। बकरों को अलग कर देने से अण्डादि जीव बच जाते हैं ॥१०॥

बैलों को थोड़ा सा ललकार देने से अनन्त काय बच जाती है और गाय को नजदीक न आने दिया जाए तो पानी-पूहरादिक की हिंसा कैसे हो सकती है ॥११॥

यदि पक्षियों को उड़ा दिया जाए तो लट-गिंडोला आदि प्राणी कुशल रह जाते हैं। यदि बिल्ली को छिछकार करके भगा दिया जाए तो चूहों के घर में शोक न हो ॥१२॥

यदि मक्खों को इधर-उधर कर दिया जाए तो अन्य मक्खियां उड़कर भाग सकती हैं। साधु के लिए तो सभी प्राणी समान हैं। वे किसी के बीच में नहीं पड़ते ॥१३॥

बिल्ली को ललकार कर चूहे बचा लेते हैं, मक्खों को ढकेल कर मक्खी को बचा लेते हैं, पर उक्त प्रकार के अन्य जीवों को बचाने का प्रयत्न नहीं करते। उन जीवों का क्या अपराध है, यह तो बताना चाहिए ॥१४॥

साधु छव काय के रक्षक कहलाते हैं और केवल त्रसकाय को छोड़ाते हैं। शेष पांच कायों को नहीं बचाते तो वे छव काय के रक्षक कैसे रहे? ॥१५॥

रजोहरण (ओघा) हाथ में लेकर साधु खड़ा हुआ और बलात्कार पूर्वक किसी प्राणी को छोड़ा दिया। ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों में से उसके कौनसे गुण की वृद्धि हुई, यह कोई मुझसे बताए ॥१६॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र के बिना कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। छोड़ना, रखना आदि सांसारिक उपकार हैं। उससे शुभ गति कैसे मिल सकती है? ॥१७॥

जितने सांसारिक उपकार हैं, वे सभी सावद्य हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म में नहीं आते। व्यर्थ आग्रह क्यों किया जा रहा है ॥१८॥

अज्ञानी से किसी को ज्ञानी किया जाता है तो निश्चित ही उसका उद्धार होता है। मिथ्यात्वी से किसी को सम्यक्त्वी किया जाता है तो वह उसे संसार-सिन्धु से पार करता है ॥१९॥

असंयति को संयति कर दिया तो करने वाला मोक्ष का दलाल हो जाता है। किसी को तपस्वी बनाकर संसार-सिन्धु से पार लगा दिया, उसने तो उसका सारा जंजाल ही मेट दिया ॥२०॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नें तप, यांरो करै कोइ उपगार हो।
आप तिरै पेलो उद्धरै, दोयां रो खेवो पार हो ॥२१॥

ए च्यार उपगार छै मोटका, तिण में निश्चैई जाणो धर्म हो।
शेष रह्या काम संसार नां, तिण कीधां बंधसी कर्म हो ॥२२॥

दुहा

जीव दया रै ऊपरे, मूलगा तीन दिष्टंत।
आगै विस्तार करै जितो, ते सुणजो कर खंत ॥१॥

ढाल : ५

[राग—सहेल्यां ए वांदो सदा साध नें]

एक चोर चोरे धन पार को, बले दूजो हो चोरावै आगैवाण।
तीजो कोई करै अनुमोदनां, ए तीनां रा हो खोटा किरतब जाण।
भविजीवां तुमें जिन धर्म ओलखो ॥१॥

एक जीव हणै तसकाय ना, हणावै हो दूजो पर ना प्राण।
तीजो पिण हर्षे मारियां, ए तीनूंई हो जीव हिंसक जाण ॥२॥

एक कुशील सेवै हरष्यो थको, सेवावै हो ते तो दूजै करण जोय।
तीजो पिण भलो जाणै सेवियां, ए तीनां रे हो कर्म तणो बंध होय ॥३॥

ए सगलां नैं सतगुरु मिल्या,
प्रतिबोध्या हो आण्या मार्ग ठाय।
किण-किण जीवां नैं साधां उद्धर्‌या,
तिणरो सुणज्यो हो विवरा सुध न्याय ॥४॥

चोर हिंसक नें कुशीलिया, यांरै तांई हो साधां दियो उपदेश।
त्यांनैं सावद्य रा निरवद्य किया, एहवो छै हो जिन धर्म दया रेंस ॥५॥

ज्ञान दर्शन चारित्र तीनूं तणो, साधां कीधो हो जिण थी उपगार।
ते तो तिरण-तारण हुवा तेहनां, उतार्‌या हो संसार थी पार ॥६॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों के सम्बन्ध से जो उपकार करता है, वह स्वयं तर जाता है और अगले का भी उद्धार हो जाता है ॥२१॥

ये चार प्रकार के उपकार प्रमुख हैं। इनमें निश्चित प्रकार से ही धर्म है। शेष सांसारिक कार्य हैं, जिनके करने से कर्म-बन्ध होता है ॥२२॥

दोहा

जीव-दया के ऊपर तीन दृष्टान्त मौलिक हैं। उस पर चाहे जितना विस्तार हो सकता है। शान्तिपूर्वक उन्हें सुनो ॥१॥

गीति : ५

एक चोर दूसरे के धन को चुराता है। दूसरा आगे होकर चुरवाता है। तीसरा व्यक्ति उसका अनुमोदन करता है। इन तीनों के ही कर्तव्य बुरे हैं। ...हे भव्य जीवों जैनधर्म की पहचान करो ॥१॥

एक त्रसकाय जीवों की हिंसा करता है। दूसरा त्रसकाय जीवों की हिंसा करवाता है। तीसरा मारते जानकर हर्षित होता है। इस प्रकार ये तीनों ही व्यक्ति हिंसक हैं ॥२॥

एक व्यक्ति सहर्ष कुशील सेवन करता है। दूसरा सेवन करवाता है। तीसरा उसका अनुमोदन करता है। इन तीनों के ही कर्मों का बन्धन होता है ॥३॥

इन सब व्यक्तियों को सुगुरु मिले और प्रतिबोध देकर मार्ग लगाया। किन-किन व्यक्तियों का साधुओं ने उद्धार किया, विवरण सहित उनका न्याय सुनो ॥४॥

चोर, हिंसक और व्यभिचारी इन तीनों को साधुओं ने उपदेश दिया, उन्हें पाप से धर्म में प्रवृत्त किया, यही जिनेश्वर के अनुकम्पा धर्म का रहस्य है ॥५॥

ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तत्त्वों के रूप में साधुओं ने उनके प्रति उपकार किया, ये स्वयं तरने वाले और दूसरों को तारने वाले हुए। उनको संसार सिन्धु से पार उतारा ॥६॥

ए तो चोर तीनूंई समझ्यां थकां, धन रह्यो हो धणी रै कुशले खेम।
हिंसक तीनूं प्रतिबोधियां, जीव वचिया हो कीधो मारण रो नेम ॥७॥

शील आदरियो तेहथी, अस्त्री पड़ी हो कूवा मैं जाय।
यांरो पाप धर्म नहीं साधु नै, रह्या मूंवा हो तीनूं अव्रत मांय ॥८॥

धन रो धणी राजी हुवो धन रह्यां,
जीव वचिया हो ते पिण हरषित थाय।
साधु-तिरण तारण नहीं तहेनां,
नारी नें पिण हो नहिं डबोई आय ॥९॥

केइ मूढ़ मिथ्याती इम कहै, जीव वचिया हो धन रह्यो ते धर्म।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखै, अस्त्री मुई हो तिणरा लागे कर्म ॥१०॥

जीव जीवै ते दया नहीं, मरै ते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला नैं हिंसा कही, नहीं मारै हो ते तो दया गुण खाण ॥११॥

नींब आंवादिक वृक्ष नो, किण ही कीधो हो वाढण रो नेम।
अव्रत घटी तिण जीव रै, वृक्ष ऊभो हो तिणरो धर्म केम ॥१२॥

सर द्रह तलाब शोषण तणा, सूंस लेई हो मेट्या आवता कर्म।
सर द्रह तलाब भर्या रहै, तिण मांहि हो नहीं जिनजी रो धर्म ॥१३॥

लाडू, घेवर आदि पकवान नैं, खाणा छोड़्या हो आतम आणी ठाय।
वैराग बध्यो तिण जीव रै, लाडू रह्या हो तिणरो धर्म न थाय ॥१४॥

दव देवो नैं गाम जलायवो, इत्यादिक हो सावद्य कारज अनेक।
ए सर्व छोड़ावै समझाय नै, सगलां री हो विधि जाणो तुम्हें एक ॥१५॥

हिवै केइक अज्ञानी इम कहै, छ काय काजे हो द्यां छां धर्म उपदेश।
एकण जीव नें समझावियां, मिट जावै हो घणा जीवां रो क्लेश ॥१६॥

तीनों प्रकार के चोर समझ जाने से मालिक का धन सकुशल रहा। तीनों प्रकार के हिंसकों को प्रतिबोध देने से उन्होंने हिंसा का त्याग कर लिया, जिससे जीव बच गये ॥७॥

शील-व्रत स्वीकार किया, उससे स्त्री कुएँ में जा पड़ी। इन सबका पाप या धर्म साधु को नहीं है। जीवित रहे या मरे, तीनों अव्रत में है ॥८॥

धनवान् धन रहने से खुश हुआ। जो जीव बचे वे भी हर्षित हुए। साधु न तो उन दोनों के तारक है और न उस स्त्री को भी डुबोने वाले हैं ॥९॥

कुछ मूर्ख मिथ्यात्वी ऐसा कहते हैं—जीव बचे और धन रहा, यह धर्म है। यदि ऐसा है तो उनके कथनानुसार जो स्त्री मर गई, उसका पाप भी साधु को लगना चाहिए ॥१०॥

जीव अपने सहज स्वभाव से जीते हैं, यह दया नहीं है। सहज स्वभाव से मरते हैं, वह हिंसा नहीं है। मारने वाले को हिंसा लगती है, जो नहीं मारता है, वह दयावान् है ॥११॥

किसी ने नियम लिया—मैं आम, नीम आदि वृक्षों को नहीं काटूंगा। उस व्यक्ति के अव्रत घटी, पर वृक्ष जो खड़ा है, उसका धर्म कैसे हुआ ॥१२॥

सरोवर, द्रह और तालाब आदि सुखाने का त्याग किसी व्यक्ति ने लिया। सर, द्रह, तालाब भरे रहे, इसमें जिनेश्वर देव का धर्म नहीं है ॥१३॥

लड्डू, घेवर आदि मिठाई खाने का त्याग किया। अपनी आत्मा को वश करके रखा। उस व्यक्ति का वैराग्य बढ़ा, पर जो लड्डू बच गए, वह धर्म नहीं ॥१४॥

दावाग्नि लगाना, गांव जलाना आदि अनेकों सावद्य कार्य हैं। इन सबको समझाकर छुड़ा दे, यही उक्त सभी कार्यों की एकमात्र विधि है ॥१५॥

कुछेक अज्ञानी यह कहते हैं—छह काय जीवों की साता के लिए हम उपदेश करते हैं। एक जीव को समझा देने से बहुत सारे जीवों का क्लेश मिट जाता है ॥१६॥

छ काय घरै साता हुई, एहवो भापै हो अन्यतीर्थी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म नों,ते तो भूला हो उदे आयो मोह कर्म ॥१७॥

हिवै साधु कहै तुम्हें सांभलो,छ काया रे हो साता किणविध थाय।
शुभ अशुभ वांध्या ते भोगवै, नहीं पाम्यो हो त्यां मुगत उपाय ॥१८॥

हणवा सूंस किया छ काय नां,तिणरै टलिया हो मेला अशुभ कर्म पाप।
ज्ञानी जाणै साता हुई तेहनैं, मिट गया हो जनम-मरण संताप ॥१९॥

साधु तिरण तारण हुवा तेहनां,सिद्ध गति में हो मेल्या अविचल ठाम।
छ काय लारै भिलती रही, नहीं सीभै हो तिणरो आतम काम ॥२०॥

आगै अरिहंत अनंता हुवा,कहितां कहितां हो कदे नावै त्यांरो पार।
आप तिर्या ओरां नै तारिया, छ काया रे हो साता न हुई लिगार ॥२१॥

एक पोते बच्यो मरवा थकी,
दूजै कीधो हो तिणरै जीवण रो उपाय।
तीजो पिण हरख्यो उण जीवियां,
यां तीनां में हो शुद्ध गति कुण जाय ॥२२॥

कुशले रह्यो तिणरे अव्रत घटी नहीं,
तो दूजा ने हो तुम्हे जाणज्यो एम।
भलो जाणै तिणरे व्रत न नीपनों,
ए तीनूंई हो शुद्ध गति जासी केम ॥२३॥

जीवियां जीवायां भलो जाणियां,ए तीनूंइ हो करण सरीषा जाण।
कोई चतुर होसी ते परखसी, अण समभू हो करै ताणा-ताण ॥२४॥

छ काया रो वांछै मरणो जीवणो, ते तो रहसी हो संसार मभार।
ज्ञान दर्शन चारित्र तप भला, आदरियां हो अदरायां खेवो पार ॥२५॥

अन्यतीर्थी ऐसा कहते हैं—ऐसा करने से छव काय के जीवों के साता होती है। ऐसा कहने वालों ने जैनधर्म का भेद नहीं पाया। वे तो मोह कर्म के उदय से भूलभुलैया में हैं ॥१७॥

अब जो साधु कहते हैं; वह सुनो। छवकाय जीवों के साता कैसे होती है? वे अपने बंधे हुए शुभाशुभ भोगते हैं। उनको मुक्ति का उपाय नहीं मिला है ॥१८॥

किसी ने छव काय जीवों की हिंसा का त्याग किया। उसके अशुभ कर्म टले। ज्ञानियों की दृष्टि में यही साता है कि उसके जन्म-मरण के सन्ताप मिट गए ॥१९॥

साधु उसके तारक हुए; क्योंकि उन्होंने उसे अविचल मोक्ष गति में पहुंचा दिया। छव काया के जीव तो संसार में ही रहे, उनके आत्म-कार्य सिद्ध नहीं हुए ॥२०॥

पूर्व काल में अनन्त तीर्थंकर हुए, जिनका पार वाणी से नहीं पाया जाता। वे स्वयं तरे और उन्होंने दूसरों को तारा, पर इससे षट्काय का क्या सुख सधा ॥२१॥

एक आदमी मरने से अपने आप बचा। दूसरे ने उसे जीवित रहने में सहयोग किया। तीसरा उसके जीने से प्रसन्न हुआ। इन तीनों में कौन शुभ गति प्राप्त होगा ॥२२॥

जो स्वयं सकुशल रहा, उसके कोई अव्रत घटी नहीं। दूसरे की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। जिसने भला जाना उसके भी कोई व्रत निष्पन्न नहीं हुआ। ये तीनों शुद्ध गति को कैसे प्राप्त होंगे ॥२३॥

जो जीता है, जो जिलाता है और जो भला जानता है, ये तीनों कारण एक समान हैं। जो चतुर होंगे, वे इस बात को समझ लेंगे, जो अज्ञानी होंगे वे खींचा-तान करेंगे ॥२४॥

जो षट्कायिक जीवों का जीना मरना चाहता है, वह संसार में परिभ्रमण करेगा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि स्वयं ग्रहण करने से व दूसरों को करवाने से ही बेड़ा पार होगा ॥२५॥

दुहा

पोते हणे हणावै नहीं, पर जीवां रा प्राण।
हणे जिणनें भलो जाणे नहीं, ए नव कोटी पच्चक्खाण ।।१।।

ए अभय दान दया कही, श्रीजिन आगम मांय।
तो पिण वंद्ध उठावियो, जैनी नाम धराय ।।२।।

अभय दान न ओलख्यो, दया री खबर न काय।
भोला लोगां आगले, कूड़ा चोज लगाय ।।३।।

कहै साधु बचावै जीव नैं, ओरां नैं कहै तूं बचाय।
भलो जाणै बचिया थकां, पिण पूछ्यां पलटे जाय ।।४।।

ढाल : ६

[राग—जगत गुरु तिसला नन्दन वीर]

इण साधां रा भेब में जी, बोलै एहवी वाय।
म्हैं पीहर छां छकाय नां जी, जीव बचावां जाय।
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ।।१।।

एहवी करै परूपणा जी, बोलै बंध न होय।
पलट जाय पूछ्यां थकां जी, भोलां नैं खबर न कोय ।।२।।

पेट दुखै सो श्रावकां जी, जुदा हुवै जीव काय।
साधु आया तिण अवसरै जी, हाथ फेर्यां सुख थाय ।।३।।

साधु पधार्या देखनैं जी, गृहस्थ बोल्या बाय।
थें हाथ फेरो पेट ऊपरै जी, ए श्रावक जीवां जाय ।।४।।

जब कहै हाथ न फेरणो जी, ए साधु नें कल्पे नांय।
थें कहिता जीव बचावणा, तो बोल नें बदलो कांय ।।५।।

दोहा

पर प्राणी को स्वयं मारे नहीं, दूसरे से मरवावे नहीं, मारने वाले को अच्छा समझे नहीं, (मन से, वचन से, काया से) ये नवकोटि प्रत्याख्यान कहे जाते हैं ॥१॥

यह अभयदान रूप दया जिनेश्वर देव की आज्ञा में है तो भी जैनी नाम धराते हुये लोगों ने एक धांधली मचा रखी है ॥२॥

अभयदान को पहचाना नहीं। दया का कुछ पता नहीं। भले लोगों के सामने झूठा प्रपंच करते हैं ॥३॥

कहते हैं–साधु जीव को बचाते हैं, दूसरों को कहते हैं कि तुम भी बचाओ और किसी जीव के बच जाने को अच्छा समझते हैं, लेकिन प्रश्न करने पर बदल जाते हैं ॥४॥

गीति : ६

इस साधु के वेष में कुछ लोग यह कहते हैं—हम षट्कायिक जीवों के रक्षक हैं। क्योंकि किसी भी जीव को जाकर बचाते हैं।...हे चतुर मनुष्यों! ज्ञानपूर्वक विचार करके समझो ॥१॥

ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि जीव बचाने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, किन्तु पूछने पर पलट जाते हैं। भोले लोगों को जरा भी खबर नहीं लगती ॥२॥

सौ श्रावकों का पेट दुख रहा है। मानो शरीर और प्राण अलग हो रहे हैं। पेट पर हाथ फेरने से उनको सुख होता है, उस समय साधु वहां आये ॥३॥

साधुओं को आते देखकर गृहस्थ लोग बोले, आप पेट पर हाथ फेरें, नहीं तो ये श्रावक मर जायेंगे ॥४॥

जब कहते हैं—हाथ फेरना साधुओं को नहीं कल्पता। जो जीव बचाने की बात कहते थे तो वे अब बोलकर बदल क्यों जाते हैं ॥५॥

दुहा

पोते हणे हणावै नहीं, पर जीवां रा प्राण।
हणे जिणनें भलो जाणे नहीं, ए नव कोटी पच्चक्खाण ॥१॥

ए अभय दान दया कही, श्रीजिन आगम मांय।
तो पिण बंद्ध उठावियो, जैनी नाम धराय ॥२॥

अभय दान न ओलख्यो, दया री खबर न काय।
भोला लोगां आगले, कूड़ा चोज लगाय ॥३॥

कहै साधु बचावै जीव नैं, ओरां नैं कहै तूं बचाय।
भलो जाणै बचिया थकां, पिण पूछ्यां पलटे जाय ॥४॥

ढाल : ६

[राग—जगत गुरु तिसला नन्दन वीर]

इण साधां रा भेष में जी, बोलै एहवी वाय।
म्हैं पीहर छां छकाय नां जी, जीव बचावां जाय।
चतुर नर समझो ज्ञान विचार ॥१॥

एहवी करै परूपणा जी, बोलै बंध न होय।
पलट जाय पूछ्यां थकां जी, भोलां नैं खबर न कोय ॥२॥

पेट दुखै सो श्रावकां जो, जुदा हुवै जीव काय।
साधु आया तिण अवसरै जी, हाथ फेर्यां सुख थाय ॥३॥

साधु पधार्‍या देखनैं जी, गृहस्थ बोल्या बाय।
थें हाथ फेरो पेट ऊपरै जी, ए श्रावक जीवां जाय ॥४॥

जब कहै हाथ न फेरणो जी, ए साधु नें कल्पे नांय।
थें कहिता जीव बचावणा, तो बोल नें बदलो कांय ॥५॥

दोहा

पर प्राणी को स्वयं मारे नहीं, दूसरे से मरवावे नहीं, मारने वाले को अच्छा समझे नहीं, (मन से, वचन से, काया से) ये नवकोटि प्रत्याख्यान कहे जाते हैं ॥१॥

यह अभयदान रूप दया जिनेश्वर देव की आज्ञा में है तो भी जैनी नाम धराते हुये लोगों ने एक धांधली मचा रखी है ॥२॥

अभयदान को पहचाना नहीं। दया का कुछ पता नहीं। भले लोगों के सामने झूठा प्रपंच करते हैं ॥३॥

कहते हैं–साधु जीव को बचाते हैं, दूसरों को कहते हैं कि तुम भी बचाओ और किसी जीव के बच जाने को अच्छा समझते हैं, लेकिन प्रश्न करने पर बदल जाते हैं ॥४॥

गीति : ६

इस साधु के वेष में कुछ लोग यह कहते हैं—हम षट्कायिक जीवों के रक्षक हैं। क्योंकि किसी भी जीव को जाकर बचाते हैं।···हे चतुर मनुष्यों! ज्ञानपूर्वक विचार करके समझो ॥१॥

ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि जीव बचाने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, किन्तु पूछने पर पलट जाते हैं। भोले लोगों को जरा भी खबर नहीं लगती ॥२॥

सौ श्रावकों का पेट दुख रहा है। मानो शरीर और प्राण अलग हो रहे हैं। पेट पर हाथ फेरने से उनको सुख होता है, उस समय साधु वहाँ आये ॥३॥

साधुओं को आते देखकर गृहस्थ लोग बोले, आप पेट पर हाथ फेरें, नहीं तो ये श्रावक मर जायेंगे ॥४॥

जब कहते हैं—हाथ फेरना साधुओं को नहीं कलपता। जो जीव बचाने की बात कहते थे तो वे अब बोलकर बदल क्यों जाते हैं ॥५॥

गोसाले नैं वीर वचावियो जी, तिण में कहो छो धर्म ।
सो श्रावक नहीं वचाविया, त्यांरी श्रद्धा रो निकल्यो मर्म ॥६॥

गोसाला रे कारणै जी, लब्धी फोड़ी जगनाथ ।
सो श्रावक मरता देख नैं, थें कांय न फेरो हाथ ॥७॥

धर्म कहै भगवंत नैं, पोतै कांय छोड़ी रीत ।
सो श्रावक नहीं वचावियां, त्यांरी कुण माने परतीत ॥८॥

गोसाला नै वचावियां में, धर्म कहै साक्षात ।
सो श्रावक नहीं वचाविया, त्यांरी विगड़ी श्रद्धा वात ॥९॥

इम कह्यां जाव न ऊपजै, जव कूड़ी करै वकवाय ।
हिवै साधु कहै तुम्हें सांभलो जी, गोसाला रो न्याय ॥१०॥

साधां नैं लब्धि न फोड़णी, कह्यो सूत्र भगोती रे मांय ।
मोह कर्म वस राग सूं जी, लियो गोसालो वचाय ॥११॥

छ लेश्या हूंती जद वीर में जी, हूंता आठूंई कर्म ।
छद्मस्थ चूका तिण समै जी, मूरख थापे धर्म ॥१२॥

छद्मस्थ चूक पड़्या तिको जी, मुंढै आणै बोल ।
निरवद कोई म' जाण्ज्यो जी, अकल हीया री खोल ॥१३॥

ज्यूं आणंद श्रावक नै घरै जी, गोतम बोल्या कूड़ ।
पड़िया छद्मस्थ चूक में जी, शुद्ध हुआ वीर हजूर ॥१४॥

इम अवश्य उदे मोह आवियो, नहीं टाल सक्या जगनाथ ।
ते तो न्याय न जाणियो, त्यांरे मांहे मूल मिथ्यात ॥१५॥

गोसाला नैं नहीं बचावता तो, घट तो अछेरो एक ।
निश्चै होणहार टलैं नहीं जी, समझो आण विवेक ॥१६॥

गोसाला नै वचावियो तो वधियो घणो मिथ्यात ।
लोहींठाण कियो भगवंत नै, बले दोय साधां री घात ॥१७॥

गौशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, उस में धर्म कहते हैं। परन्तु सौ श्रावकों को नहीं बचाने से उनकी मान्यताओं का भ्रम निकल जाता है ॥६॥

गौशालक के लिए जगत प्रभु महावीर ने लब्धि फोड़ी तो श्रावकों को मरते देखकर वे हाथ क्यों नहीं फेरते ॥७॥

भगवान् को धर्म कहते हैं तो स्वयं उस रीति को क्यों छोड़ देते हैं। इस प्रकार श्रावक नहीं बचाने से उनका विश्वास कौन करेगा ॥८॥

गौशालक के बचाने में साक्षात धर्म कहते हैं। वे सौ श्रावकों को यदि नहीं बचाते तो उनकी मान्यता बदल जाती है ॥९॥

ऐसा कहने पर जब उत्तर नहीं आता है, तब झूठा विवाद करते हैं। अब मैं गौशालक का न्याय कहता हूं। तुम सुनो ॥१०॥

भगवती सूत्र में कहा है—साधु को लब्धि नहीं फोड़नी चाहिए, पर मोहकर्म जन्य राग से भगवान् महावीर ने गौशालक को बचाया ॥११॥

उस समय वीर विभु में छ लेश्या व आठों ही कर्म थे। छद्मस्थ प्रभु उस समय चूक गए। मूर्ख लोग उसमें धर्म मानते हैं ॥१२॥

छद्मस्थ प्रभु का चूक पूर्ण कार्य था। मूर्ख लोग उसे ही मुंह पर लाते हैं। हृदय के बुद्धि द्वार को खोलकर उसे निरवद्य कोई मत मानना ॥१३॥

जैसे आनन्द श्रावक के घर में गौतम स्वामी ने असत्य संभाषण किया। छद्मस्थ थे चूक में पड़ गए, पर वीर प्रभु के सामने आकर शुद्ध हो गए ॥१४॥

इसी प्रकार भगवान् महावीर के अवश्य मोहकर्म उदय में आया था। वे उसे नहीं टाल सके। जिनके हृदय में मिथ्यात्व बद्धमूल है, वे इस न्याय को नहीं समझ सकते ॥१५॥

यदि भगवान् गौशालक को नहीं बचाते तो एक अछेरा [आश्चर्य] घट जाता, पर होनहार टलती नहीं। विवेक से समझो ॥१६॥

गौशालक को बचाने से बहुत मिथ्यात्व बढ़ा। उसने भगवान् के रक्त-स्राव कर दिया। और दो साधुओं की घात हुई ॥१७॥

गोसाला नै बचविया में, धर्म जाणे ए स्वाम।
तो दोय साधु बचावत आपणा, वले करता ओहिज काम ॥१८॥

गोसाला नें बचाय नें जी, धर्म जाणै जिनराय।
दोय साधु न राख्या आपणा, यो किणविध मिलसी न्याय ॥१९

जगत नें मरता देखनैं जी, आडा न दीधा हाथ।
धर्म जाणै तो आघो न काढ़ता, ए तिरण तारण जगनाथ ॥२०॥

ए विवरा शुद्ध बताविया जी, सूतर भगोती रे न्याय।
कुवदी करै कदाग्रहो जी, सुबुधी रै आवै दाय ॥२१॥

साधां रा मुख आगलै, पंखी पड़ै मालाथी आय।
कहै मेलां ठिकाणै हाथ सूं तो, दया रहै घट मांय ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपासरेजी, काउसग दीधो ठाय।
तांगी मिरगी आय ढह पड़्यो जी, गावड़ भांगै जीव जाय ॥२३॥

कोइ गृहस्थ आय नैं कहै जी, थें मोटा मुनिराज।
बैठो न कर्यो एहनै जी, यो मरै छै गावड़ भांज ॥२४॥

जब तो कहै म्हैं साधु छांजी, श्रावक बैठो करां केम।
म्हारे काम कांइ गृहस्थ सूं जी, बोलै पाधरा एम ॥२५॥

श्रावक बैठो करै नहीं जी, पंखी मेलै माला रे मांय।
देखो पूरो अंधारो एहनैं जी, ए चोड़ै भूल्या जाय ॥२६॥

पंखी माला में मेलतां जी, शंके नहीं मन मांय।
तो श्रावक नैं बैठो कियां मैं, धर्म न श्रद्धे कांय ॥२७॥

इतरी समझ पड़ै नहीं, त्यांने समकित आवै केम।
छकिया मोह मिथ्यात मैं जी, बोलै मतवाला जेम ॥२८॥

कहै साधां नैं ऊंदर छोड़ावणो जी, मिनकी पासे जाय।
श्रावक बैठो करे नहीं जी, यो किणविध मिलसी न्याय ॥२९॥

गौशालक को बचाने में यदि भगवान् धर्म समझते तो अपने दो साधुओं को भी बचाते और फिर यही काम करते रहते ।।१८।।

गौशालक का बचाने में भगवान् धर्म समझे और अपने दो साधुओं को बचाया नहीं, यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ।।१९।।

जगत को मरते देखकर जिनेश्वर देव ने हाथ बढ़ाकर किसी को बचाया नहीं। यदि उसमें धर्म समझते तो जरा भी विलम्ब नहीं करते; क्योंकि वे तो तरण-तारण जगत् प्रभु थे ।।२०।।

भगवती सूत्र के न्यायानुसार यह सब विवरण सहित बताया। कुबुद्धि लोग कदाग्रह करते हैं और सुबुद्धि लोगों को यह अच्छा लगता है ।।२१।।

साधुओं के सामने कोई पक्षी अपने घोंसले से नीचे आ गिरा। कहते हैं—उसे उठाकर पुनः वहीं रखे, तब ही घट में दया रह सकती है ।।२२।।

तपस्वी श्रावक उपाश्रय में कायोत्सर्ग कर रहा है। चक्कर आया, मृगी (मूर्छा) आई, ढ़ह पड़ा, गर्दन दब गई, प्राण जाने वाले हैं ।।२३।।

कोई गृहस्थ आकर कहता है—आप बड़े मुनि हैं। आपने इसको उठाया नहीं ? यह गर्दन दब जाने से मर रहा है ।।२४।।

जब कहते हैं—हम साधु हैं, श्रावक को कैसे बिठा सकते हैं! और वे झटाक से कह देते हैं—गृहस्थ से हमारा क्या काम है ।।२५।।

श्रावक को नहीं उठाते और पक्षी को उठाकर घोंसले में रख देते हैं। देखो इनके घट में कैसा अन्धेरा छा रहा है। स्पष्ट ही भूले जा रहे हैं ।।२६।।

पक्षी को घोंसले में रखते समय मन में संकोच नहीं होता तो श्रावक को उठा लेने में धर्म क्यों नहीं मानते ?।।२७।।

इतनी भी समझ नहीं होती, उनमें सम्यक्त्व कैसे आयेगा ? मोह और मिथ्यात्व में छके हुए मतवाले लोगों की तरह बोलते हैं ।।२८।।

कहते हैं साधु को बिल्ली के पीछे जाकर चूहा छुड़ा देना चाहिए, किन्तु वे ही श्रावक को नहीं उठाते, यह न्याय कैसे मिलेगा ? ।।२९।।

गोसाला नै वचविया में, धर्म जाणे ए स्वाम।
तो दोय साधु बचावत आपणा,वले करता ओहिज काम ॥१८॥

गोसाला नें वचाय नें जी, धर्म जाणै जिनराय।
दोय साधु न राख्या आपणा, यो किणविध मिलसी न्याय ॥१६

जगत नें मरता देखनैं जी, आडा न दीधा हाथ।
धर्म जाणै तो आघो न काढ़ता,ए तिरण तारण जगनाथ ॥२०॥

ए विवरा शुद्ध बताविया जी, सूतर भगोती रे न्याय।
कुबदी करै कदाग्रहो जी, सुबुधी रैं आवै दाय ॥२१॥

साधां रा मुख आगलै, पंखी पड़ै मालाथी आय।
कहै मेलां ठिकाणै हाथ सूं तो, दया रहै घट मांय ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपासरेजी, काउसग दीधो ठाय।
तांगी मिरगी आय ढह पड़यो जी,गावड़ भांगै जीव जाय ॥२३॥

कोइ गृहस्थ आय नैं कहै जी, थें मोटा मुनिराज।
बैठो न कर्यो एहनै जी, यो मरै छै गावड़ भांज ॥२४॥

जव तो कहै म्हैं साधु छांजी, श्रावक बैठो करां केम।
म्हारे काम कांइ गृहस्थ सूं जी, बोलै पाधरा एम ॥२५॥

श्रावक बैठो करै नहीं जी, पंखी मेलै माला रे मांय।
देखो पूरो अंधारो एहनैं जी, ए चोड़ै भूल्या जाय ॥२६॥

पंखी माला में मेलतां जी, शंके नहीं मन मांय।
तो श्रावक नैं वैठो कियां मैं, धर्म न श्रद्धे कांय ॥२७॥

इतरी समझ पड़ै नहीं, त्यांने समकित आवै केम।
छकिया मोह मिथ्यात मैं जी, बोलै मतवाला जेम ॥२८॥

कहै साधां नैं ऊंदर छोड़ावणो जी, मिनकी पासे जाय।
श्रावक वैठो करे नहीं जी, यो किणविध मिलसी न्याय ॥२६॥

गौशालक को वचाने में यदि भगवान् धर्म समझते तो अपने दो साधुओं को भी वचाते और फिर यही काम करते रहते ॥१८॥

गौशालक का वचाने में भगवान् धर्म समझे और अपने दो साधुओं को वचाया नहीं, यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥१९॥

जगत को मरते देखकर जिनेश्वर देव ने हाथ बढ़ाकर किसी को वचाया नहीं। यदि उसमें धर्म समझते तो जरा भी विलम्ब नहीं करते; क्योंकि वे तो तरण-तारण जगत प्रभु थे ॥२०॥

भगवती सूत्र के न्यायानुसार यह सब विवरण सहित वताया। कुवुद्धि लोग कदाग्रह करते हैं और सुवुद्धि लोगों को यह अच्छा लगता है ॥२१॥

साधुओं के सामने कोई पक्षी अपने घोंसले से नीचे आ गिरा। कहते हैं—उसे उठाकर पुनः वहीं रखे, तव ही घट में दया रह सकती है ॥२२॥

तपस्वी श्रावक उपाश्रय में कायोत्सर्ग कर रहा है। चक्कर आया, मृगी (मूर्छा) आई, ढ़ह पड़ा, गर्दन दव गई, प्राण जाने वाले हैं ॥२३॥

कोई गृहस्थ आकर कहता है—आप वड़े मुनि हैं। आपने इसको उठाया नहीं ? यह गर्दन दव जाने से मर रहा है ॥२४॥

जव कहते हैं—हम साधु हैं, श्रावक को कैसे विठा सकते हैं! और वे झटाक से कह देते हैं—गृहस्थ से हमारा क्या काम है ॥२५॥

श्रावक को नहीं उठाते और पक्षी को उठाकर घोंसले में रख देते हैं। देखो इनके घट में कैसा अन्धेरा छा रहा है। स्पष्ट ही भूले जा रहे हैं ॥२६॥

पक्षी को घोंसले में रखते समय मन में संकोच नहीं होता तो श्रावक को उठा लेने में धर्म क्यों नहीं मानते ?॥२७॥

इतनी भी समझ नहीं होती, उनमें सम्यक्त्व कैसे आयेगा ? मोह और मिथ्यात्व में छके हुए मतवाले लोगों की तरह बोलते हैं ॥२८॥

कहते हैं साधु को विल्ली के पीछे जाकर चूहा छुड़ा देना चाहिए, किन्तु वे ही श्रावक को नहीं उठाते, यह न्याय कैसे मिलेगा ? ॥२९॥

मूसादिक नैं बचावतां जी, मिनकी नैं दुःख थाय।
श्रावक नें वैठो कियां जी, नहीं किण रे अंतराय ॥३०॥

मूसादिक नै कारणै जी, मिनकी न्हसाड़ै डराय।
श्रावक मरे मुख आगलै, वेठो न करे हाथ संभाय ॥३१॥

ए प्रत्यक्ष बात मिलै नहीं जी, तावड़ो छाया जेम।
श्री जिन मारग ओलख्यो, त्यांरे हिरदे वैसे केम ॥३२॥

लाय लागे तो ढांढ़ा खोल नै, साधु काढ़ै उघाड़ी दुवार।
श्रावक नें बैठो करै नहीं, या श्रद्धा करसी खुवार ॥३३॥

ढांढ़ा नैं तो खोलतां जी, खप घणी छै ताय।
सो श्रावक हाथ फेर्‌यां बचे, त्यांरी नाणै कांइ मन मांय ॥३४॥

कहै ढांढ़ा खोल बचावस्यां, पिण श्रावक रे न फेरां हाथ।
एहवा अज्ञानी जीवरी जी, कोई मूरख मानैं बात ॥३५॥

गाड़ा नीचै आवै डावड़ो, कहै साधां नै लेणो उठाय।
श्रावक नें बेठो करै नहीं, यो ऊंधो पंथ इण न्याय ॥३६॥

रितु वर्षाला नैं समैजी, जीव घणा छै ताय।
लटां गजायां नें कातरा जी, पड़िया मारग मांय ॥३७॥

साधु बारै नीकल्या जी, जोय जोय मूके पाय।
लारै ढांढ़ा देख्या आवता, पिण साधु न लेवै उठाय ॥३८॥

जे वालक लेवै उठाय नैं, या जीवां नैं न ले उठाय।
तो उणरी श्रद्धा रे लेखे, उणरे दया नहीं घट मांय ॥३९॥

जो बालक नैं लेवै उठाय नैं, और जीव देखी ले नांय।
इण श्रद्धारी करज्यो पारखा, कोई रखे पड़ो फंद मांय ॥४०॥

चूहे आदि को बचाने से बिल्ली को दुःख होता है। श्रावक को उठा लेने में किसी को अन्तराय नहीं होती ॥३०॥

चूहे आदि के लिए बिल्ली को डराकर भगा देते हैं। श्रावक मुंह के सामने मर रहा है, हाथ लगाकर उसे नहीं उठाते ॥३१॥

धूप और छाया की तरह यह बात प्रत्यक्ष मिलती नहीं। जिनेश्वर के धर्म को जिसने समझ लिया है, उसके हृदय में यह बात कैसे समा सकती है ? ॥३२॥

आग लग जाती है तो साधु द्वार खोलकर गाय, भैंस आदि जानवरों को निकाल देते हैं। श्रावक को नहीं उठाते। यह मान्यता आत्म-गुणों का नाश करने वाली है ॥३३॥

गाय, भैंस आदि को खोलने में तो बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है। श्रावक यदि हाथ फेरने मात्र से बच जाता है, उसकी कुछ मन में नहीं लाते ॥३४॥

कहते हैं—गाय, भैंस आदि को तो बचाएंगे, किन्तु श्रावक के पेट पर हाथ नहीं फिराएंगे। ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों की बात मूर्ख ही मानता है ॥३५॥

गाड़ी के नीचे कोई बालक आ रहा है तो कहते हैं—साधु को उठा लेना चाहिए। श्रावक को नहीं उठाते, इस न्याय से यह उल्टा पंथ है ॥३६॥

वर्षा ऋतु के समय जीवों की प्रचुरता है। लट, गजाइयां और कातरे आदि जीव मार्ग में पड़े हैं ॥३७॥

साधु बाहर निकले हैं और देख-देख कर पैर रख रहे हैं। पीछे से गाय, भैंस आदि पशु आ रहे हैं, परन्तु साधु लट आदि उन जीवों को नहीं उठाते ॥३८॥

बालक को उठा लेते हैं और जीवों को नहीं उठाते तो उनकी मान्यता के अनुसार उनके ही घट में दया नहीं ॥३९॥

जो बालक को उठा लेते हैं और जीवों को नहीं उठाते; इस मान्यता की परीक्षा करनी चाहिए। यह नहीं कि कोई इस फंदे में फंस जाए ॥४०॥

दुहा

मच्छ गलागल लोक में, सबल निबल नें खाय।
तिण माहें धर्म परूपियो, कुगुरु कुबुद्धि चलाय ॥१॥

मूला जमीकंद खवावियां, कहै छै मिश्र धर्म।
या श्रद्धा पाखण्ड्यारी आदर्यां, जाड़ा बंधसी कर्म ॥२॥

मूला खवायां पाणी पावियां, और सचित्तादिक अनेक।
खायां खवायां भलो जाणियां, यां तीनांरी विधि एक ॥३॥

ए तो न्याय न जाणियो, उजड़ पड़िया अजाण।
करण जोग विगटाविया, ए मिथ्यादिष्टी एलाण ॥४॥

कुहेतु लगाय लोक नै, हिंसा धर्म भापंत।
हिवै सात दिष्टांत साधु कहै, ते सुणजो धर खंत ॥५॥

मूला पाणी अगन नो, चोथो होको जाण।
तस जीव कलेवर तस तणो सातमो मनुष्य बखाण ॥६॥

या में तीन दिष्टांत करड़ा कह्या, जाणै अज्ञानी विरुद्ध।
समदिष्टी जिन धर्म ओलख्यो, ते न्याय सूं जाणै शुद्ध ॥७॥

केशी कुमार दिष्टांत करड़ा कह्या, तो छोडी प्रदेशी रूढ़।
न्याय मेले हुवो समकिती, झगड़ो झालै ते मूढ़ ॥८॥

जिणरी बुद्धि छै निरमली, लेसी न्याय विचार।
सुणे भारी कर्मा जीवड़ा, ते लड़वानै छै त्यार ॥९॥

ए सात दिष्टांत धुर सूं चले, आगै घणो विस्तार।
भिन-भिन भवियण सांभलो, अंतर आंख उघाड़ ॥१०॥

दोहा

लोक में मच्छगलागल लगी है। सबल जीव निर्बल जीव को खा रहे हैं। कुगुरु ने अपनी कुबुद्धि के बल पर उसमें भी धर्म निरूपित किया है ॥१॥

मूले, जमीकन्द आदि खिलाने में मिश्र धर्म कहते हैं। पाखण्डी लोगों की ऐसी मान्यता स्वीकार करने से सघन कर्म बन्धेंगे ॥२॥

मूले खिलाना, पानी पिलाना और नाना प्रकार के सचित्त खाना, खिलाना व इसका अनुमोदन करना; इन तीनों की एक ही विधि है ॥३॥

इन्होंने न्याय को नहीं जाना। अज्ञानी उजड़ पड़ गए हैं। करण व जोगों का विघटन किया है। ये ही तो मिथ्यादृष्टि होने के लक्षण हैं ॥४॥

कुहेतु लगाकर लोगों को हिंसा-धर्म सिखलाते हैं। उस विषय पर सात दृष्टान्त कहे जाते हैं। उन्हें शान्ति से सुनो ॥५॥

मूला, पानी, अग्नि, हुका, त्रस जीव, त्रस कलेवर और मनुष्य ये सात दृष्टान्त हैं ॥६॥

इन सात दृष्टान्तों में तीन दृष्टान्त बहुत कठोर हैं। अज्ञानी उनका विरुद्ध अर्थ लगाते हैं। जैनधर्म को समझने वाले सम्यग्दृष्टि न्यायपूर्वक उन्हें शुद्ध मानते हैं ॥७॥

केशी स्वामी ने कठोर दृष्टान्त कहे तो प्रदेशी राजा ने अपनी रूढ़ि छोड़ दी। न्याय को समझकर वह सम्यग्दृष्टि बना। मूर्ख लोग होते हैं, जो झगड़ा करते हैं ॥८॥

जिनकी बुद्धि निर्मल है, वह न्यायपूर्वक सोचेंगे। जो बहुकर्मी हैं, इन्हें सुनेंगे तो वे लड़ने के लिए तैयार ही रहेंगे ॥९॥

ये सात दृष्टान्त प्रारम्भ में हैं। आगे उनका विस्तार है। भव्य जीवों! भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने अन्तर्लोचन खोलकर सुनो ॥१०॥

ढाल : ७

[राग—वीर सुणो मोरी वीनती]

मूला खवायां मिसर कहै, लगावै हो खोटा दिष्टांत एह।
कहै पाप लागो मूलां तणो, धर्म हूवो हो खाधां बचिया तेह।
भवियण जिन धर्म ओलखो ॥१॥

कहै कूवा बाव खणावियां, हिंसा हुई हो तिणरा लागा कर्म।
लोक पीयां कुशले रह्या, साता हुई हो तिणरो हुवो धर्म ॥२॥

इम कही मिश्र परूपता, नहीं शंकै हो करता बकवाय।
इण श्रद्धा रो प्रश्न पूछियां, जाब न आवै हो जब लोक लगाय ॥३॥

हिवै सात दिष्टांत री थापना, त्यांरी सुणज्यो हो विवरा सुध बात।
निरणो कीज्यो घट भींतरै, बुद्धिवंता हो छोडी नें पखपात ॥४॥

सो मनुष्यां नें मरता राखिया, मूला गाजर हो जमीकंद खवाय।
वले कुशले राख्या सो मानवी, काचो पाणी हो त्यांनें अणगल पाय ॥५॥

पोह माह महिनें ठारी पड़ै, तिणकाले हो बाजे सीतल वाय।
अचेत पड्या सो मानवी, मरता राख्या हो त्यांनैं अगन लगाय ॥६॥

पेट दुखे तल-फल करै, जीव दोरो हो करै हाय तराय।
साता वपराई सो जणा, मरता राख्या हो त्यांनैं होको पाय ॥७॥

सो जणा दुर्भिक्ष काल में, अन्न विना हो मरै उजाड मांय।
कोइ एक मारै तसकाय नें, सो जणा नें हो मरता राख्या जीमाय ॥८॥

किण ही काले अन्न विना, सो जणा रा हो जुदा हुवै जीव काय।
नहीं कलेवर मूंवो पड्यो, कुशले राख्या हो त्यांनैं एह खवाय ॥९॥

गीति : ७

मूले खिलाने में मिश्र धर्म कहते हैं। उसका हेतु यह वतलाते हैं कि मूले खिलाने का पाप हुआ, परन्तु मूला खाने में जो जीव बचे, वह धर्म हुआ ॥१॥

और कहते हैं—कुआं, वावड़ी खुदाने में जो हिंसा होती है, वह पाप है। लोग पानी पीकर जो सकुशल रहते हैं, सुख पाते हैं, वह धर्म है ॥२॥

इस प्रकार मिश्र धर्म की प्ररूपणा करते हुए सशंक नहीं होते वल्कि व्यर्थ विवाद करते हैं। इस मान्यता के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर नहीं आता तो लोगों को उभारते हैं ॥३॥

अब इस विषय पर सात दृष्टान्तों की स्थापना की जाती है, उन्हें सविस्तार सुनें। वुद्धिमान् लोग पक्षपात छोड़कर अपने हृदय की अनूभूति से निर्णय करें ॥४॥

किसी ने सौ मनुष्यों को मूला, गाजर आदि जमीकन्द खिलाकर मरने से वचाया और किसी ने सौ मनुष्यों को सचित्त और अनछाना पानी पिलाकर सकुशल रक्खा ॥५॥

पोष, माघ का महीना है। ठण्ड पड़ रही है और उस समय शीतल हवाएं चल रही हैं। सौ आदमी मूर्छित पड़े हैं। उनको अग्नि जगाकर मरने से वचाया ॥६॥

सौ आदमियों का पेट दुःख रहा है, तड़फड़ाहट कर रहें हैं, जीव मिचला रहा है, सवने हाय-तोवा मचा रखी है। उन सौ आदमियों को हुक्का पिलाकर सुखी किया, मरने से वचाया ॥७॥

किसी जंगल में दुर्भिक्ष के कारण सौ व्यक्ति अन्न विना मर रहे हैं। किसी एक व्यक्ति ने जानवर को मारकर उन्हें खिलाया और मरने से बचाया॥८॥

किसी समय अन्न के विना सौ आदमी मर रहे हैं। किसी ने मृत कलेवर खिलाकर उन्हें सकुशल रखा॥९॥

मरता देखी सो रोगला, ममाई बिना हो ते तो साजा न थाय।
कोई ममाई करै एक मनुष्य री,सो जणा रै हो साता कीधी बचाय ॥१०॥

जमीकंद खवायां पाणी पावियां, त्यांमैं थापै हो पाप नैं धर्म दोय।
तो अगन लगायां होको पावियां, इत्यादिक हो सगले मिश्र होय ॥११

जो धर्म श्रद्धे बचियां तिको, हिंसा तिण रा हो लागा जाणै कर्म।
तो सातूंई सरिखा लेखवै, कहि देणो हो सगले पाप नै धर्म ॥१२॥

जो सातां मैं मिश्र कहै नहीं,तो किम आवै हो इण बोल्यांरी परतीत।
आप थापै आप उत्थपै, कुण मानैं हो या श्रद्धा विपरीत ॥१३॥

जो सतांइ मैं मिसर कहै, तो नहीं लागै हो गमती लोकां मैं बात।
मिलती कह्यां बिन तेहनी, कुण करै हो कूडांरी पखपात ॥१४॥

एक दोय बोलां मैं मिसर कहै, सगलां मैं हो कहितां लाजै मूढ़।
एहवो उलटो पंथ झालियो, यांरै केड़ै हो ताणै मूरख रूढ़ ॥१५॥

सौ-सौ मनुष्य सगलै बच्या, थोड़ी घणी हो सगलै हुई घात।
जो धर्म बरोबर न लेखवै, तो उत्थप गइ हो मूला-पाणी री बात ॥१६॥

बात उथपती जाण नैं, कदा कहिदे हो सगले पाप नै धर्म।
पिण समदिष्टी श्रद्धै नहीं,एतो काढ्यो हो खोटी श्रद्धा रो मर्म ॥१७॥

असंजती रो मरणो जीवणो, वांछा कीधां हो निश्चै राग नै द्वेष।
यो धर्म नहीं जिन भाषियो, सांसो हुवै तो हो अंग-उपंग देख ॥१८॥

। रोगी मर रहे थे । ममाई के विना वे स्वस्थ नहीं हो सकते । किसी ने एक की ममाई कर सौ मनुष्यों को वचाया, उन्हें साता दी ॥१०॥

।मीकन्द खिलाने व पानी पिलाने में यदि धर्म और पाप दोनों माने जाते हैं ग्नि जलाने, हुक्का पिलाने आदि सभी कार्यों में मिश्र धर्म होना चाहिये ॥११॥

यदि ऐसा कहा जाए, जो मनुष्य वचे वह धर्म है और जो हिंसा हुई उससे कर्म वन्ध हुआ तो सातों ही दृष्टान्तों में समान रूप से पाप व धर्म कह देना चाहिए ॥१२॥

यदि सातों उदाहरणों में मिश्र धर्म नहीं कहा जाता तो उनके कथन का विश्वास कैसे हो सकता है ? आप ही सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और अपने आप ही उसे उठा देते हैं। इस विपरीत सिद्धान्त को कौन मानेगा ॥१३॥

यदि सातों ही उदाहरणों में मिश्र कहा जाता है तो लोगों को अच्छा नहीं लगता और लोकमत के अनुसार न कहने से उन झूठों की पक्षपात कौन करे ॥१४॥

एक या दो उदाहरणों में मिश्र कहते हैं। सव में मिश्र कहते हुए लज्जित होते हैं। ऐसा विपरीत मार्ग उन्होंने लिया है। उनके पीछे मूर्ख रूढ़िपरक आग्रह करते हैं ॥१५॥

सौ-सौ व्यक्ति सभी उदाहरणों में वचे हैं। थोड़ी बहुत हिंसा भी सभी उदाहरणों में हुई है। उनमें यदि समान रूप से धर्म निरूपण नहीं होता तो मूले और पानी की वात कट जाती है ॥१६॥

वात जाती देखकर कभी कह देते हैं कि सभी स्थानों में पाप और धर्म दोनों है। किन्तु सम्यग्दृष्टि लोक इस पर विश्वास नहीं करते। इस प्रकार विपरीत श्रद्धा का भ्रम निकल गया है ॥१७॥

असंयति जीव का जीना और मरना चाहा जाता है तो निश्चित ही राग और द्वेष है। जिनेश्वर देव ने इसे धर्म नहीं कहा। यदि संशय हो तो अंग व उपांग सूत्रों को देखना चाहिये ॥१८॥

पहिलां कहिता जीव बचावणा, तिण लेखे हो बोल्यां शुद्ध न काय ।
जीव बचिया रो धर्म गिणै नहीं,खिणमें थापै हो खिणमैं फिर जाय ।।२८।।

देवल ध्वजा तेहनी परै, फिरता बोलै हो न रहै एकण ठाम ।
त्यांनें पाषंडी जिन कह्या, झगड़ो झाल्यो हो नहीं चरचा रो काम ।।२९।।

जो एकण नें अधर्म कहै, तो दूजा नें हो कहणो धर्म नें पाप ।
ए लेखो कियां तो लड़ पड़ै,त्यांरा घट मैं हो खोटी श्रद्धारो थाप ।।३०।।

बले सरणो लेइ श्रेणिक तणो,सावद्य बोलै हो तिणरी खबर न काय ।
जोरीदावै पेलानैं बरजियां, तिण मांहे हो जिन धर्म बताय ।।३१।।

कहै श्रेणिक पड़ह फेरावियो, हणो मती हो फेरी नगरी में आण ।
तिण मोक्ष हेते धर्म जाणियो,एहवो भाषै हो मिथ्यादिष्टि अजाण ।।३२।।

कहै राय श्रेणिक तो समकिती,धर्म बिना हो किम करसी ए काम ।
इम कहि-कहि भोला लोक नै,फंद मैं न्हांखै हो श्रेणिक रो ले नाम ।।३३।।

श्रेणिक नैं करी मुख आगलै,आमी-साहमी हो मांडी खांचा-ताण ।
आप छांदे उटंका मेलता, किण पालै हो श्री जिनवर आण ।।३४।

समदिष्टी तणो कोई नाम लै, भरमावै हो अणसमझू अजाण ।
तो शकेंद्र समदृष्टि देवता, जिन भक्ता हो एका अवतारी जाण ।।३५।।
ते तो भीड़ आयो कोणक तणी, युद्ध कियो हो तिण सावद्य जाण ।
एक कोड़ असी लाख ऊपरै, मनुष्यां रो हो कर दियो घमसाण ।।३६।।

श्रेणिकराय पड़हो फेरवियो,एतो जाणो हो मोटा राजांरी रीत ।
भगवंत न सरायो तेहनैं, तो किम आवै हो तिणरी परतीत ।।३७।।

पहले कहा जाता था, जीवों को बचाना चाहिए तो अब उस न्याय पर स्थिर क्यों नहीं रहते ? जीव बचने का धर्म नहीं मानते। एक क्षण में धर्म की स्थापना करते हैं और दूसरे क्षण में बदल जाते हैं ॥२८॥

मन्दिर की ध्वजा की तरह अस्थिर रहकर ये बदलते हुए बोलते जाते हैं। ऐसे लोगों को जिनेश्वर देव ने पाखण्डी कहा है। उनका काम चर्चा करना नहीं, झगड़ा करना होता है ॥२९॥

एक कार्य में तो वे अधर्म कहते हैं और दूसरे में धर्म और पाप मिश्र रूप से कहते हैं। इस बात का न्याय मिलाने से वे झगड़ पड़ते हैं, क्योंकि उनके हृदय में विपरीत श्रद्धा घर किये हुए है ॥३०॥

श्रेणिक राजा का नाम लेकर सावद्य बात कहते हैं। बलपूर्वक किसी को पाप से रोक देने में जिन धर्म की प्ररूपणा करते हैं ॥३१॥

कहते हैं, श्रेणिक राजा ने 'पड़ह' बजवाया। नगर में यह उद्घोषणा कर दी कि प्राणी-वध मत करो। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहते हैं, यह सब उसने मोक्ष के हेतु से धर्म समझ कर किया था ॥३२॥

राजा श्रेणिक तो सम्यक्त्वी था। धर्म न होता तो वह ऐसा काम क्यों करता; यह कह-कहकर के भोले लोगों को फन्दे में डाला जाता है ॥३३॥

श्रेणिक का नाम आगे रखकर खींचतान खड़ी करते हैं। जिनेश्वर देव की आज्ञा कौन पालता है ? मनचाही गप्पें हांकते हैं ॥३४॥

कुछ लोग श्रेणिक सम्यग्दृष्टि था, यह कहकर अजान लोगों को भरमाते हैं। ऐसी बात है तो सम्यग्दृष्टि शक्रेन्द्र जो परम जिन-भक्त और एक भव के अन्तर से मोक्ष जाने वाला था, वह कोणिक के सहयोग में आया; सावद्य समझते हुए भी उसने युद्ध किया और एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों का उसने संहार किया ॥३५-३६॥

इसी प्रकार श्रेणिक राजा ने जो ढिंढोरा पिटवाया, वह तो बड़े राजाओं की रीति थी। भगवान् महावीर ने इस कार्य की कहीं प्रशंसा नहीं की तो ऐसा कहने वालों की प्रतीति कैसे हो ? ॥३७॥

पड़हो फेर्‌यो हणो मती, इतरी छै हो सूत्तर में वात ।
कोइ धर्म कहै श्रेणिक भणी, ते तो बोलै हो चोड़ै झूठ विख्यात ॥३८॥

लोकां सूं मिलती बात जाण नै, कर रह्या हो कूड़ी बकवाय ।
मिश्र कहै ते पिण अटकता, साचा हुवै तो हो सूत्र में दे बताय ॥३९॥

एतो पुत्रादिक जायां परणियां,ओछवादिक हो ओरी सीतला जाण ।
एहवो कारण कोई ऊपजै, श्रेणिक राजा हो फेरी नगरी में आण ॥४०॥

ते रुकिया नहीं कर्म आवता,नहीं कटिया हो तिणरा आगला कर्म ।
नरक जातो रह्यो नहीं, न सीखायो हो तिणनै भगवंत धर्म ॥४१॥

भगवंते मोटा-मोटा राजवी, प्रतिबोध्या हो आण्या मारग ठाय ।
साधु श्रावक धर्म बतादियो, न सीखायो हो पड़हो फेरणो ताय ॥४२॥

तो श्रेणिक सीख्यो किण आगलै, भगवंत हो पूछ्यां साझै मून ।
बले न जणावै आमना, आज्ञा बिना हो करणी जाणो जबून ॥४३॥

वासुदेव चक्रवर्ती मोटका,
त्यांरी बरते हो तीन-छ खंड में आण ।
जो पडहो फेरयां सुगति मिले,
तो कुण काढ़ै हो आघो जिन धर्म जाण ॥४४॥

कोउ रांगण दिवादिक स्नान नै,
विस्न सातूं हो बिना मन दे छोडाय ।
जो इणविध जिन धर्म नीपजै,
तो छ खंड में हो वरजे आण फेराय ॥४५॥

आगम में केवल इतना कथन है—जीव-हिंसा मत करो, ऐसा ढिंढोरा पिटवाया। श्रेणिक राजा को धर्म हुआ,ऐसा कहने वाले तो प्रत्यक्ष ही असत्य बोलते हैं ॥३८॥

लोकमत के अनुकूल समझकर इस बात पर व्यर्थ विवाद कर रहे हैं। मिश्र-धर्म भी अटकल बाजी से कहते हैं। यदि उनका कथन यथार्थ है तो वे शास्त्र का प्रमाण क्यों नहीं देते ? ॥३९॥

पुत्रादि के जन्मोत्सव, विवाहोत्सव या ओरी-चेचक आदि के उत्सव पर व अन्य किसी ऐसे कारण के पैदा होने पर श्रेणिक राजा ने नगरी में अपना ढिंढोरा फिरवाया होगा ॥४०॥

उससे श्रेणिक राजा के आने वाले कर्मों का अवरोध नहीं हुआ और न पूर्व संचित कर्मों का नाश ही हुआ। वह नरक जाते भी नहीं रुका और भगवान् श्री महावीर ने उसको ऐसा धर्म सिखाया हो, ऐसी भी बात नहीं है ॥४१॥

भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को प्रतिबोध देकर जिन-मार्ग पर लगाया। उनको भगवान् ने साधु-धर्म व श्रावक-धर्म बतलाया, पर 'पड़ह' फिरवाना कभी नहीं सिखलाया ॥४२॥

भगवान् तो इस विषय में पूछने पर भी मौन रहते हैं, अपना अभिप्राय भी व्यक्त नहीं करते। फिर श्रेणिक को 'पड़ह' फिरवाना किसने सिखलाया ? जिनेश्वर देव की आज्ञा के बिना कोई भी क्रिया निकृष्ट है ॥४३॥

वासुदेव जिसकी तीन खण्डों में आज्ञा प्रवर्तमान थी; चक्रवर्ती जिसकी भारत-वर्ष के छहों खण्डों में आज्ञा प्रवर्तमान थी; यदि ढिंढोरा पिटवाने से मुक्ति मिलती तो जैनधर्म में समझने वाला कौन व्यक्ति यह करने में विलम्ब करता ? ॥४४॥

चमड़ा रंगना, दीप जलाना, स्नान करना और सातों व्यसन कोई किसी से बलपूर्वक छुड़ा देता है। यदि इस प्रकार जिनेश्वर देव का धर्म होता तो चक्रवर्ती छहों खण्डों में ऐसा न करने की दुहाई फिरा देते ॥४५॥

फल फूल अनंत काय नों, हिंसादिक हो अठारै पाप जाण।
जोरीदावै पेलानैं मना कियां,धर्म हुवै तो हो फेरै छ खंड में आण ॥४६॥

तीर्थंकर घर मे थकां, त्यांनें होता हो तीन ज्ञान विशेष।
हाल हुकम थो लोक मैं, त्यां नहीं फेरचो हो पड़हो सूत्तर देख ॥४७॥

बलदेवादिक मोटा राजवी, घर छोड़ी हो किया पाप-पचखाण।
श्रेणिक जिम पड़हो न फेरियो, जोरीदावै हो न बरताइ आण ॥४८॥

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तेहनें, चित्त मुनि हो प्रतिबोधण आय।
साधु श्रावक नों धर्म कह्यो, पड़हा री हो न कही आमना कांय ॥४९॥

बीसां भेदां रुके कर्म आवता, बारै भेदे हो कटै आगला कर्म।
ए मोक्ष रो मारग पाधरो, छोड़ा-मेला हो सगला पाषंड धर्म ॥५०॥

दोय वेश्या कसाई बाड़ै गई, करता देख्या हो जीवांरा संघार।
दोनूं जण्या मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार ॥५१॥

एक जणी गहणो देई आपरो, तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोड़ाया इण विधे, एकां दोयां हो चोथो आश्रव सेवाड़ ॥५२॥

एकण नें पाषंडी मिसर कहै, तो दूजी नैं हो पाप किणविध होय।
जीव बराबर बचाविया, फेर पड़ियो हो ते तो पाप में जोय ॥५३॥

एकण सेवायो आश्रव पांचमों,तो उण दूजी हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पड़्यो उण पाप में, धर्म होसी हो ते तो सरीषो थाय ॥५४॥

एकण नै धर्म कहितां लाजै नहीं, दूजोड़ी नैं हो कहितां आवै शंक।
जव लोकां सूं करै लगावणी,एहवो जाणो हो चोड़ै कुगरां रा डंक ॥५५॥

यदि वल-प्रयोग से किसी को निषेध करने में धर्म होता हो तो फल-फूल व अन्तकाय वनस्पति की हिंसा करने का और शेष पापों के सेवन का निषेध छहों खण्डों में किया जा सकता था ।।४६।।

तीर्थंकर जव गृहस्थावास में थे, उनके पास तीन ज्ञान थे । संसार में उनका आदेश-निर्देश भी चलता था । उन्होंने कभी 'पड़ह' नहीं फिरवाया । सूत्र ग्रंथ इस वात के साक्षी हैं ।।४७।।

वलदेव आदि वड़े राजाओं ने गृह-त्यागकर पाप-प्रत्याख्यान किया,पर श्रेणिक की तरह 'पड़ह' फिरवाकर वलपूर्वक आज्ञा नहीं प्रवरताई ।।४८।।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्त मुनि प्रतिबोध देने के लिए आये । उसे साधु व श्रावक का धर्म वतलाया पर 'पड़ह' फिरवाने के लिए कोई इंगित नहीं किया ।।४९।।

वीस प्रकार के संवर-भेदों से आते हुए कर्म रुकते हैं । वारह प्रकार के निर्जरा-भेदों से संचित कर्म टूटते हैं । ये दो सीधे मोक्ष के मार्ग हैं । दूसरी सारी खटपट पाखण्ड-धर्म है ।।५०।।

दो वेश्याएं कसाई खाने में गईं । जीवों का संहार होते देखा । दोनों वेश्याओं ने परस्पर विचार-विमर्श करके एक-एक हजार जीवों को मरते वचाया ।।५१।।

एक ने अपना गहना देकर एक हजार जीवों को वचाया, दूसरी ने एक या दो पुरुषों को अपने साथ अब्रह्मचर्य-सेवन का अवसर देकर एक हजार जीवों को छुड़ाया ।।५२।।

पाखण्डी एक को मिश्र-धर्म कहते हैं तो फिर दूसरी को केवल पाप कैसे हुआ ? जीव तो दोनों ने वरावर वचाये । अन्तर पड़ा तो पाप-प्रकार में पड़ा ।।५३।।

एक स्त्री ने पांचवे आश्रव परिग्रह का सेवन कराया और दूसरी ने चौथे आश्रव अब्रह्मचर्य का सेवन कराया। अन्तर तो इस पाप में चौथे व पांचवे की संख्या का पड़ा । धर्म यदि होगा तो दोनों को समान ही होगा ।।५४।।

एक को धर्म कहने में हिचकते नहीं, दूसरी को धर्म कहने में सशंक होते हैं । लोगों को वहकाते हैं । यह कुगुरुजनों का सांप की तरह दंश लेना है ।।५५।।

एक वेश्या सावद्य कामो करी, सहस्र नाणो हो लेगइ घर मांय ।
दूजी कर्तव्य करी आपणो, मरता राख्या हो सहस्र जीव छोड़ाय ।।५६।।

धन आण्यो खोटा कर्तव्य करी, तिणरै लागा हो दोनूं विध कर्म ।
दूजी जीव छोड़ाया तेहनैं, उणरै लेखै हो हुवो पाप नैं धर्म ।।५७।।

पाप गिणै मैथुन में, जीव बचिया हो तिणरो न गिणै धर्म ।
पोतै श्रद्धारी खबर पोतै नहीं, ताणी-ताणी हो बांधे भारी कर्म ।।५८।।

ए प्रश्न रो जाब न ऊपजै, चरचा मैं हो अटके ठाम-ठाम ।
तो पिण निरणो करै नहीं, बक ऊठे हो जीवांरो ले नाम ।।५९।।

जीव जीवे काल अनाद रो, मरै तेहनी हो पर्याय पलटी जाण ।
संवर निर्जरा तो न्यारा कह्या, ते तो ले जावै हो जीवनैं निर्वाण ।।६०।।

पृथवी पाणी अगन नें वायरो, वनस्पती हो छठी तसकाय ।
मोल ले छोड़ावै तेहनैं, धर्म होसी हो ते तो सगलां में थाय ।।६१।।

तसकाय छोड़ायां धर्म कहै, पांच काय में हो नहीं बोलै निशंक ।
भर्म में पाड्या लोक नै, त्यां लगाया हो मिथ्यात रा डंक ।।६२।।

त्रिविधे-त्रिविधे छकाय हणवी नहीं,
एहवी छै हो भगवंत री वाय ।
मोल लियां धर्म कहै मोक्ष रो,
ए फंद मांड्यो हो कुगुरां कुबुद्धि चलाय ।।६३।।

देव गुरु धर्म रतन त्रिहुं, सूत्तर में हो जिन भाष्या अमोल ।
मोल लियां नहीं नीपजे, साची श्रद्धो हो आंख हियारी खोल ।।६४।।

एक वेश्या पापकारी कार्य करके बहुत रुपए लेकर बन्दि-गृह में आई, दूसरे न्यायोपार्जित बहुत रुपए लेकर। दोनों ने बहुत-बहुत जीव बचाए ॥५६॥

जिसने पापकारी कार्य करके धन कमाया, उसके दोनों ओर से कर्म-बंध हुआ। दूसरी ने जो जीव बचाए तो उसके अभिमतानुसार उसमें पाप और धर्म दोनों हुए ॥५७॥

अब्रह्मचर्य के सेवन में पाप माना जाता है और उससे जो जीव बचे, उसे धर्म नहीं मानते। उनकी मान्यता का पता उन्हें स्वयं नहीं चलता। व्यर्थ ही अपनी बात को तानकर सघन कर्म बांधते हैं ॥५८॥

इन प्रश्नों का उत्तर नहीं आता। चर्चा-प्रसंग में बात-बात पर अटकते हैं तो भी निर्णय नहीं करते और जीवों का नाम लेकर बहक उठते हैं ॥५९॥

जीव अनादि काल से जी रहा है। जो मरता है, वह तो उसकी पर्याय बद-लती है। संवर व निर्जरा की तो बात ही अलग है। वे तो आत्मा को मोक्ष ले जाने वाले हैं ॥६०॥

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; इन छ प्रकार के जीवों को मूल्य पर खरीदकर बचाने में यदि धर्म है तो इन सभी प्रकार के जीवों को तथाप्रकार से बचाने में धर्म है ॥६१॥

केवल त्रसकाय को छुड़ाने में धर्म कहते हैं। पांच कायों को बचाने में निःशंक बात नहीं कहते। उन्होंने लोगों को भ्रम में डाला है और उनके मिथ्यात्व का डंक मारा है ॥६२॥

तीन करण व तीन योग से छ काया के जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, ये भगवद्-वाक्य हैं। जीवों को मोल लेकर बचाने में जो मोक्ष-धर्म कहा जाता है, वह कुगुरुओं की कुबुद्धि का प्रपंच है ॥६३॥

शास्त्र में देव, गुरु व धर्म इन तीन रत्नों को जिन भगवान् ने अमूल्य कहा है। ये तीनों रत्न मोल लेने से प्राप्य नहीं हैं। हृदय की आंखें खोलकर सम्यक् प्रकार से इस कथन में भरोसा करना चाहिए ॥६४॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नैं तप, मोक्ष जावा हो मारग छै च्यार।
त्यांनैं भिन-भिन ओलख आदरैं, शुद्ध पालै हो ते पामैं भव-पार ॥६५॥

दुहा

दया-दया सबको कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नैं पालसी, त्यांनै मुगत नजीक ॥१॥

आ दया तो पहिलो व्रत छै, साधु श्रावक नों धर्म।
पाप रुके तिण सूं आवता, नवा न लागै कर्म ॥२॥

छ काय हणै हणावै नहीं, हणियां भलो न जाणै ताय।
मन वचन काया करी, या दया कही जिनराय ॥३॥

आ दया चोखै चित्त पालसी, तिरै घोर रुद्र संसार।
वले याहिज दया परूपनैं, भवि जीवांनैं उतारै पार ॥४॥

एक नाम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिणमें भेषधारी भूला घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ॥५॥

ढाल : ८

[राग—पाखंड मत रो निरणो कीजे]

द्रव्ये लाय लागी भावे लाय लागी, द्रव्येई कूवो नै भावेई कूवो।
भेद न जाणै मूढ़ मिथ्याती, संसार नैं मुगत रो मारग जूवो।
भेषधर नैं भूलां रो निरणो कीज्यो ॥१॥

कोइ द्रव्ये लाय सूं वलतो राखै,
द्रव्ये कूवा सूं पड़ता नैं झाल बचायो।
यो तो उपगार कह्यो इण भवरो,
जे विवेक विकल त्यांनै खबर न कायो ॥२॥

मोक्ष-गमन के चार मार्ग हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से पहचान कर, स्वीकार कर, शुद्ध प्रकार से पालन करने वाला इस भव-सिन्धु से पार उतर जाता है॥६५॥

दोहा

दया-दया सभी कहते हैं और दया धर्म सही भी है। जो दया की छ न-वीन कर उसका पालन करेंगे, उनके मुक्ति निकट होगी॥१॥

यह दया तो साधु और श्रावक का पहला व्रत व धर्म है। इससे आने वाले कर्म रुकते हैं व नये कर्मों का वन्ध नहीं होता॥२॥

मन, वचन, काया से षट्कायिक जीवों की हिंसा करे नहीं; करावे नहीं और करने वाले को अच्छा समझे नहीं, यह दया है; ऐसा जिन भगवान् ने कहा है॥३॥

इसी दया का शुद्ध हृदय से पालन कर मनुष्य घोर रौद्र संसार को तर जाता है और इसी दया की प्ररूपणा करके जीव संसार-सिन्धु के पार उतर जाता है॥४॥

एक लौकिक दया है। उसके अनेक भेद हैं, जिनमें वेशधर साधु भूल रहे हैं। यह अब विवेकपूर्वक सुनो॥५॥

गीति : ८

आग लगी है और पापरूप आग लगी है। कुआं है और संसार रूप कुआं है। इन भेदों को मूर्ख मिथ्यादृष्टि नहीं जानते। संसार और मोक्ष का तो मार्ग ही पृथक्-पृथक् है।···साधु का वेश लेकर भी कैसे भूले हैं, इसका निर्णय करो॥१॥

कोई इस अग्नि में जलने से बचाता है या इस कुएं में पड़ने से बचाता है; ये सब तो लौकिक उपकार हैं। विवेक-शून्य लोगों को इसका ज्ञान नहीं है॥२॥

घट में ज्ञान घाल नैं पाप पचखावै,
तिण पड़तो राख्यो भव कूवा मांह्यो।
भाव लाय सूं बलता नै काढे ऋषेश्वर,
ते पिण गेहलां भेद न पायो ॥३॥

सूनै चित सूत्तर वांचै अज्ञानी,
त्यांरै द्रव्य नैं भाव रा नहीं निवेड़ा।
परवार सहित कुपंथ मैं पड़िया,
त्यां नरक सुं सन्मुख दीधा डेरा ॥४॥

गृहस्थ नैं ओषध-भेषद देई नैं,
अनेक उपाय करै जीवां बचावै।
ए संसार तणा उपगार कियां मैं,
मुगति रो मारग मूढ़ बतावै ॥५॥

करै मंत्र-जंत्र झाड़ा नैं झपटा,
सर्पादिक नों जहर देवे उतारी।
काढ़े डाकण-साकण भूत यक्षादिक,
तिणमें इ धर्म कहै सांगधारी ॥६॥

एहवा किरतब सावद्य जाणी,
त्रिविधे-त्रिविधे साधां त्यागज कीधो।
भेषधारी लोकां सूं मिलनैं अज्ञानी,
त्यां जीव बचावण रो सरणो लीधो ॥७॥

उवे जीव बचावण रो मुख सूं कहै पिण,
काम पड्यां बोलै फिरती बाणो।
भोला लोकां नैं भ्रम में पाड बिगोया,
ते पिण डूबै छै कर-कर ताणो ॥८॥

कीड़्यां मकोड़ा नैं लटां गजायां,
ढ़ांढ़ां रा पग हेठै चींथ्या जावै।

किसी के घट में ज्ञान पैदा कर पाप का प्रत्याख्यान करा दिया तो उसने उस व्यक्ति को संसार कूप में पड़ने से बचाया। इसी प्रकार साधु जन्म-मरण की अग्नि से जीवों को बचा लेते हैं। विक्षिप्त लोगों ने इसका भी रहस्य नहीं समझा है॥३॥

मिथ्यादृष्टि लोग सूने मन से शास्त्र का अध्ययन करते हैं। उन्हें ऐहिक, पारलौकिक आदि भेदों का पता नहीं है। वे तो सपरिवार कुपथ में पड़कर नरक के नजदीक डेरा डाल रहे हैं॥४॥

गृहस्थ को औषध-भैषज्य देकर अथवा अनेक अन्य उपाय करके बचाया। यह जो संसार का उपकार किया गया, उसे मूढ़ लोग मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं॥५॥

यन्त्र, मन्त्र, झाड़ा-झपटा करके सर्पादिक का जहर उतार देते हैं, डाकिन, शाकिन, भूत, यक्ष आदि को निकाल देते हैं। वेशधारी साधु इन कार्यों में भी धर्म कहते हैं॥६॥

इस प्रकार के कार्यों को सावद्य समझकर साधुओं ने तीन करण, तीन योग से छोड़ा है। वेशधारी साधुओं ने लोगों से मिलकर जीवों को जिलाने का शरण लिया है॥७॥

वे जीवों को जिलाने की बात मुख से कहते हैं, किन्तु काम पड़ने पर बदल जाते हैं। भोले लोगों को भ्रम में डुबोया है और आग्रह कर-करके स्वयं भी डूबते हैं॥८॥

कीड़े-मकोड़े, लट और गजाई आदि जीव भैंस आदि पशुओं के पैरों तले कुचले जाते हैं। वेशधारी साधु कहते हैं, हम जीव बचाते हैं तो उन जीवों को एक-

भेषधारी कहै म्हैं जीव वचावां,
तो चुण-चुण जीवांनैं क्यूं न वचावै ।।६।।

कोइ आखै चोमासै उपदेश देवै तो,
दश पांच जीवांनें दोरा समझावै ।
जो उद्यम करै च्यार महिनां मांहे,
तो लाखां गमै जीव तेह वचावै ।।१०।।

सो घरां रैं अं.ार कोइ लेवै संथारो,
तो तुरत आलस छोड़ देवण जावै ।
सो पगला गयां लाखां जीव वचै छै,
त्यां जीवांनै जाये क्यूं न बचावै ।।११।।

घर छोड़तो जाणै सो कोशां उपरै,
तो सांग पहिरावण सताव सूं जावै ।
एक कोश गयां जीव कोड़ां व.ै छै,
त्यां जीवांनैं जाय क्यूं न वचावै ।।१२।।

जब तो कहै म्हांरो कल्प नहीं छै,
म्हें तो संसार थी हूवा न्यारा ।
कब ही कहै म्हैं जीव बचावां,
उवे बाणी न बोलै एकण धारा ।।१३।।

साधु तो आपरा व्रत राखण नैं,
त्रिविधे-त्रिविधे जीव नहीं सतावै ।
संसार मांहें जीव पच रह्या छै, त्यां सूं तो साधु हुवा निरदावै ।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ।।१४।।

जीवणो मरणो त्यांरो नहीं चावै,
समझ तो देखे तो साधु समझावै ।
ज्ञानादिक गुण घट में घाली,
मुगत नगर में साधु पहुंचावै ।।१५।।

एक करके क्यों नहीं चुग लिया करते ? ॥६॥

सारे चौमासे में उपदेश करके दस-बीस आदमियों को भी बड़ी कठिनता से समझाते हैं। यदि चार महीनों तक उक्त प्रकार से जीव बचाने का काम करें तो वे लाखों जीवों को सहज ही बचा सकते हैं ॥१०॥

सौ घरों की दूरी पर कोई व्यक्ति आमरण अनशन करता है तो आलस्य छोड़कर एकदम उसे अनशन दिलाने के लिए जाते हैं। सौ कदम जाने से ही लाखों जीव बच जाते हैं तो उन जीवों को जाकर क्यों नहीं बचाते ? ॥११॥

सौ कोस दूर भी कोई आदमी दीक्षा लेना चाहता है, वे वेशधारी उसे वेश देने के लिए बड़े अभिमान से जाते हैं। एक कोस दूर जाने में करोड़ों जीव बचते हैं, तो उन जीवों को जाकर क्यों नहीं बचाते ? ॥१२॥

तब कहते हैं, हम संसार से अलग हो गये हैं, ऐसा करना हमारा आचार नहीं है। कभी कहते हैं, हम जीव बचा सकते हैं। इस प्रकार एक जैसी बात नहीं कहते ॥१३॥

साधु तो अपने व्रत रखने के लिए तीन करण, तीन योग से किसी भी जीव को सताते नहीं। संसार में जीव लीन हो रहे हैं, उनसे साधुओं का लगाव नहीं है।...यही श्रद्धा जिन-भासित है ॥१४॥

उनका जीना, मरना साधु नहीं चाहते। समझने के योग्य वे होते हैं तो साधु उनको समझाते हैं। उनके घट में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि डालकर उन्हें मोक्ष-नगर पहुंचा देते हैं ॥१५॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
भेषधारी कहै म्हें तुरत बतावां।
ते पिण जीव बचावण काजै,
म्हें सर्व जीवांरो जीवणो चावां ॥१६॥

अव्रती जीवांरो जीवणो वांछै,
तिण धर्म रो परमारथ नहीं पायो।
या श्रद्धा अज्ञान्यांरी पग-पग अटके,
ते सांभलज्यो भवियण चित ल्यायो ॥१७॥

गृहस्थ रै तेल जाये मूंण फूटां,
ते कीड़्यां रा दर मांहें रेलो आवै।
बिच मैं जीव आवै ते तेल सूं वहिता,
बले तेल बुहो-वुहो अगनि मैं जावै ॥१८॥

जो अगनि ऊठै तो लाय लागै छै,
तो तस स्थावर जीव मारया जावै।
गृहस्थ रा पग हेठै जीव बतावै,
तो तेल ढुलै ते वासण क्यूं न बतावै ॥१९॥

पग सूं मरता जीव बतावै,
तेल सूं मरता जीवांनैं नहीं बतावै।
या खोटी श्रद्धा उघाड़ी दीसे,
पिण अभिन्तर आंधारै नजर न आवै ॥२०॥

बले भेषधारी विहार करतां मारग मैं,
त्यांनें श्रावक साहमां मिलिया आयो।
ते मारग छोड नें उज्जड पड़िया,
तस थावर जीवांनैं चींथता जायो ॥२१॥

श्रावकां नैं उज्जड़ पडिया जाणै,
तस थावर जीवांनैं मरता देखै।

गृहस्थ के पैर के नीचे कोई जीव आ रहा है तो वेशधारी साधु कहते हैं, हम उसे तुरन्त बचाते हैं और यह भी कहते हैं कि जीव-रक्षा के उस समय हम सभी जीवों का जीना चाहते हैं ॥१६॥

जो अव्रती जीवों का जीना चाहते हैं, उन्होंने धर्म का परमार्थ नहीं पाया। उन अज्ञानियों की मान्यता कदम-कदम पर अटकती है। भव्य जनों को चित्त लगाकर उसका न्याय सुनना है ॥१७॥

गृहस्थ का तेल-भाजन फूट जाने से तेल वह रहा है। चींटियों के बिल में उसकी धाराएं बहकर आती हैं। तेल के साथ बहते हुए जीव भी आ रहे हैं और वह तेल बहता हुआ अग्नि में जा रहा है ॥१८॥

जो अग्नि उठती है तो लाय लग सकती है। त्रस और स्थावर जीव मर सकते हैं। गृहस्थ के पैरों के नीचे आने वाले जीवों को बताते हैं तो जिस भाजन से तेल बह रहा है, उसे क्यों नहीं बताते ? ॥१९॥

पैर से मरते जीवों को तो बतलाते हैं और तेल से मरते जीवों को नहीं बतलाते, यह तो प्रत्यक्ष ही विपरीत मान्यता है; किन्तु जिनके ज्ञानरूप नेत्र नहीं हैं, उनके समझ में नहीं आती ॥२०॥

वेशधारी साधु विहार कर रहे हैं, रास्ते में कुछ श्रावक उन्हें सामने आकर मिले। वे सब मार्ग-भ्रष्ट होकर त्रस-स्थावर जीवों को रौंदते हुए उजड़ जा रहे हैं ॥२१॥

उज्जड़ पड़े हुए श्रावकों को और मरते हुए त्रस-स्थावर जीवों को वे देख रहे हैं। गृहस्थ के पैरों में आने वाले जीव को यदि वे बताते हैं तो उनके कथनानुसार

गृहस्थ रा पग हेठे जीव बतावै,
तो मारग बताय देणो इण लेखै ।।२२।।

एक पग हेठै जीव मरै ते बतावै,
तो थोड़ा सा जीवांनें बचता जाणो ।
श्रावकां नैं उज्जड़ सूं मारग घाल्यां,
घणा जीव बचै तस स्थावर प्राणो ।।२३।।

एक पग हेठै जीव बचावै अज्ञानी,
ठालै बादल अंबर ज्यूं गाजै ।
त्यांनें श्रावक उजाड़ में मार्ग पूछै तो,
मोन साझै बोलता कांय लाजै ।।२४।।

थोड़ी दूर बतायां थोड़ो धर्म हुवै तो,
घणी दूर बतायां घणो धर्म जाणो ।
घणी दूर रो नाम लियां बक उठै,
त्यांरी खोटी श्रद्धारा ए अहलाणो ।।२५।।

कोई आंधो पुरुष गामांतरे जातां,
ऊ आंख बिना जीव किणविध जोवै ।
कीड़्यां मकोड़ादिक चींथतो जावै,
तस स्थावर जीवांरो घमसाण होवै ।।२६।।

भेपधारी सहजांई साथे जातां,
आंधा रा पग सूं जीव मरता देखै ।
जो पग-पग जीवांनैं नहीं बतावै,
तो खोटी श्रद्धा जाणज्यो इण लेखै ।।२७।।

त्यांनें बताय-बताय नें जीव बचावणा,
के पूंजी-पूंजी नें करणो दूरो ।
इण धर्म करण सूं तो पोतैई लाजै,
तो दूजो कुण मानसी यो मत कूड़ो ।।२८।।

उन श्रावकों को मार्ग भी बता देना चाहिए ।।२२।।

किसी एक के पैरों के नीचे आने वाले जीवों को बतलाने से तो थोड़े से जीव ही बचते हैं। श्रावकों को उज्जड़ से मार्ग डालने में त्रस-स्थावर बहुत सारे जीव बच जाते हैं ।।२३।।

किसी एक के पैर नीचे आने वाले जीवों को तो अज्ञानी बतलाते हैं, खाली बादल की तरह आकाश में गूंजते हैं; पर जंगल में श्रावक मार्ग पूछते हैं तो बोलते लज्जित होकर मौन क्यों रखते हैं ।।२४।।

थोड़ी दूर बताने में थोड़ा धर्म होता है तो अधिक दूर बताने में अधिक धर्म होना चाहिए। अधिक दूर का नाम लेते ही बकने लगते हैं। यह असत्य मान्यता की निशानी है ।।२५।।

कोई अन्धा पुरुष दूसरे गांव जा रहा है। वह आंख के बिना जीवों को कैसे देख सकता है ? वह वनस्पति प्रभृति स्थावर और चींटी-मकोड़े प्रभृति त्रस जीवों को कुचलता चलता है। इस प्रकार जीवों का संहार होता ।।२६।।

वेशधारी साधु सहज ही उसके साथ चल रहे हैं और अन्धे पुरुष के पैरों से मरने वाले जीवों को भी उन्होंने देख लिया है, ऐसी स्थिति में यदि वे कदम-कदम पर जीवों को नहीं बचाते तो उनकी मान्यता को अशुद्ध मान लेना ही चाहिए ।।२७।।

या तो उस अन्धे को बता-बताकर जीवों को बचाना चाहिए या प्रमार्जन कर-करके उन्हें दूर करना चाहिए। ऐसा धर्म करने से यदि स्वयं ही लज्जित होते हैं तो कौन इस असत्य मत को मानेगा?।।२८।।

वले ईल्यां सुलसुलियां सहित आटो छै,
ते गृहस्थ रै ढुलै मारग मांयो।
तपती रेत उनालारी तिण मैं,
पड़त पाण जुदा हुवै जीव कायो ॥२९॥

गृहस्थ नहीं देखै आटो ढुलतो,
ते भेषधारचां री निजरचां आवै।
उवे पग सूं मरता जीव बतावै,
आटे ढुलते मरता जीव क्यूं न बतावै ॥३०॥

इत्यादिक गृहस्थ रा अनेक उपधि सूं,
तस स्थावर जीव मूंवानैं मरसी।
ते पग हेठै जीव बतावै त्यांनैं,
सगली ठोड़ वतावणा पड़सी ॥३१॥

किणहिक ठोड़ै जीव वतावै,
किणहिक ठोड़ शंका मन आणै।
समझ पड़चां बिन श्रद्धा परूपै,
पीपल बांधी मूर्ख ज्यूं ताणै ॥३२॥

ए पग-पग जाव अटकता देखै,
कदा सर्व आरै हुवै अज्ञानी थूलो।
कूड़-कपट करै मत कुशले राखण नै,
पिण बुद्धिवंत बात न मानै मूलो ॥३३॥

गृहस्थ रो न वांछणो जीवणो मरणो,
ते वांछ वतायां लागै पाप कर्मो।
राग द्वेप रहित रहणो निरदावै,
एहवो निकेवल श्रीजिन धर्मो ॥३४॥

समोसरण ते एक जोजन मांडला में,
तठे नर-नारचां रा वृन्द आवै नैं जावै।

इल्ली और सुलसल्यों सहित आटा है, किसी गृहस्थ से मार्ग में गिर रहा है। ग्रीष्म-काल की तप्त धूलि में उन जीवों के पड़ते ही प्राण व शरीर जुदा हो रहे हैं।।२६।।

उस गृहस्थ को आटा गिरने का ध्यान नहीं है और वह वेशधारी साधुओं की नजरों में आ गया है। वे पैर से दबकर मरने वाले जीवों को बताते हैं तो आटा गिरने से मरने वाले जीवों को क्यों नहीं बताते हैं ? ।।३०।।

इस प्रकार गृहस्थ के अनेक उपकरणों से त्रस-स्थावर जीव मरते रहे हैं और मरते रहेंगे। यदि पैर के नीचे आने वाले जीवों को बतलाते हैं तो उन्हें सभी जीवों को बतलाना पड़ेगा ।।३१।।

किसी स्थान पर वे जीवों को बतलाते हैं और किसी स्थान पर वे ऐसा करने में सशंक होते हैं। बिना समझे बूझे जो अपनी मान्यता स्थिर करते हैं, वे मूर्ख बहू की तरह पीपल के तने को बांधकर खींचते हैं ।।३२।।

जब वे अपने उत्तर को स्थान-स्थान पर रुकते हुए देखते हैं तो कभी-कभी वे स्थूल अज्ञानी सभी प्रसंगों पर जीव बतलाने की हाँ करते हैं। यह सब झूठ और कपट की मान्यता को सकुशल रखने के लिए किया जाता है, परन्तु बुद्धिमान् जरा भी उनकी बात को नहीं मानते ।।३३।।

गृहस्थ के जीने और मरने की वांछा न करनी चाहिए। वांछा करके बताने में पाप-कर्म का बन्ध होता है। जिनेश्वर देव के धर्म के अनुसार तो राग-द्वेष रहित होकर तटस्थ रहना चाहिए। निर्केवल यही श्रद्धा जिन-भाषित है।।३४।।

चार कोश गोलाकार स्थान में समवसरण लगता है। वहां स्त्री-पुरुषों के समूह आते हैं, जाते हैं। अरिहन्त देव की वाणी सुनने के लिए वे आते हैं और

अरिहंत आगै वाणी सुणवा त्यांने,
भगवंत भिन्न-भिन्न भाव सुणावै ॥३५॥

च्यार कोश मां हे त्रस-स्थावर हूंता,
मर गया जीव उराणे आया।
नर-नारयां रा पग सूं बिन उपयोगे,
पिण भगवंत कठेयन दीसे बताया ॥३६॥

नन्द मणियारो डेडको हुई नै,
वीर वांदण जातो मारग मांयो।
तिण नैं चींथ मारयो श्रेणिक रे बछेरे,
वीर साधु साह्मा मेह्ली क्यूं न बचायो ॥३७॥

गृहस्थ रा पग हेठै जीव आवै तो,
साधां नै बतावणो कठेय न चाल्यो।
भारी कर्मा लोकां नैं भिष्ट करण नै,
यो पिण घोचो कुगुरां रो घाल्यो ॥३८॥

जब साधां रो नाम तो अलगो मेलै,
श्रावकां री चरचा मुख ल्यावै।
साधां सूं मरता जीव साधु बतावैं,
ज्यूं श्रावक श्रावकां नै जीव बतावै ॥३९॥

सिद्धांतरा बल बिन बोलै अज्ञानी,
श्रावकां रो संभोग साधां ज्यूं बतायो।
ए गालां ए गोला मुख सूं चलाया,
ते न्याय सुणो भवियण चित ल्यायो ॥४०॥

साधां रा पग हेठै जीव मरे ते,
संभोगी साधु देखी जो नहीं बतावै।
तो अरिहंतनी आज्ञा लोपावै,
पाप लागो नैं विराधक थावै ॥४१॥

अरिहन्त देव उन्हें विविध विषय समझाते हैं ।।३५।।

चार कोश के उस क्षेत्र में त्रस-स्थावर अनेक जीव थे। स्त्री-पुरुषों के विना उपयोग से उन के पैरों में आकर अनेकों जीव यों ही मर गये होंगे ? किन्तु भगवान् ने उन जीवों को वताया हो; ऐसा कहीं नहीं आता ।।३६।।

नन्दन मणिहारा अपने मेंढ़क के भव में भगवद्-वंदन के लिए जा रहा था। श्रेणिक के घोड़े के पैर के नीचे आकर वह मर गया। महावीर स्वामी ने साधुओं को सामने भेजकर उसे क्यों नहीं वचाया ? ।।३७।।

गृहस्थ के पैर के नीचे जीव आते हों, साधु उसे बताये, यह कहीं नहीं आया है। वहुकर्मी लोगों को भ्रष्ट करने के लिए कुगुरु लोगों का ही मारा । यह तीर है।।३८।।

तव वे साधुओं का नाम तो अलग कर देते हैं और श्रावकों की चर्चा मुंह पर लाते हैं। कहते हैं—साधु से मरते हुए जीवों को जैसे साधु वतलाते हैं, वैसे ही श्रावक से मरते हुए जीवों को श्रावक वतलाते हैं ।।३९।।

अज्ञानी लोग शास्त्र के वल विना वोलते हैं और साधुओं की तरह श्रावकों का भी पारस्परिक संभोग वतलाते हैं। ये कपोल-कल्पित वातें मुंह से यों ही कह दी। भव्यजन चित्त लगाकर इसका न्याय सुनें ।।४०।।

किसी साधु के पैर के नीचे आकर कोई जीव मर रहा है। यदि कोई संघ का साधु उसे जानते हुए भी नहीं वताता तो वह अरिहन्त की आज्ञा का लंघन करता है, पाप-उपार्जन करता है और वह विराधक अर्थात् आराधना रहित हो जाता है।।४१।।

साधु तो साधां नैं जीव बतावै,
ते पोता रो पाप टलावण रै काजै।
श्रावक श्रावकां नैं जीव नहीं बतावै,
तो किसो पाप लागो किसो व्रत भाजै ॥४२॥

श्रावक श्रावक नैं न बतायां पाप लागो कहै,
यो भेषधारयां मत काढ़यो कूड़ो।
श्रावकां रै संभोग साधां ज्यूं हुवै तो,
पग-पग बंध जाये पाप रा पूरो ॥४३॥

पाट बाजोटादिक साधु बारै मेले नैं,
ठरड़ै मात्रादिक कारज जावै।
लारै और साधु त्यांनैं भीजतो देखै,
जो ऊ न लेवै तो प्रायश्चित आवै ॥४४॥

रोगी गरड़ा गिलाण साधु री व्यावच,
न करे तो श्रीजिन-आज्ञा बारै।
महामोहणी कर्म तणो बंध पाड़ै,
इहलोक नें परलोक दोनूं बिगाड़ै ॥४५॥

आहार पाणी साधु बहिरी आणै,
संभोगी साधां नैं वांट देवा री रीत।
आप आण्यो जाणी नै अधिको लेवै तो,
अदत्त लागै नै जावै परतीत ॥४६॥

इत्यादिक साधु-साधु रै अनेक बोलां रो,
संभोगी साधां सूं न कियां अटके मोखो।
यां हिज बोलां रो श्रावक श्रावकां रे,
न करे तो मूल न लागै दोषो ॥४७॥

श्रावकां रे संभोग साधां ज्यूं हुवै तो,
श्रावक-श्रावक नें पिण इणविध करणो।

एक साधु दूसरे साधु को जीवादि बताता है, वह तो अपना पाप टालने के लिए। श्रावक श्रावक को यदि जीवादि नहीं बतलाते तो उनका कौनसा व्रत टूटता है व कौनसा पाप लगता है ? ॥४२॥

श्रावक श्रावक को यदि जीव नहीं बताता तो पाप है, यह वेशधारियों ने झूठा मत निकाला है। यदि श्रावकों का पारस्परिक संभोग अर्थात् आचार-कल्प साधुओं जैसा ही हो तो पग-पग पर पाप की गठरी बंधती रहेगी ॥४३॥

चौकी, तख्त आदि बाहर पड़े रहते हैं। साधु शरीर-चिंता की निवृत्ति के लिए गये हैं। पीछे जो साधु हैं, वे वर्षादि में पाट-बाजोट आदि भीगते हुए देखते रहें, उन्हें उठाकर अन्दर न लाएं तो उन्हें प्रायश्चित्त आता है ॥४४॥

रोगी, वृद्ध और ग्लान साधु की वैयावृत्ति (सेवा) साधु न करे, यह जिन-आज्ञा के विरुद्ध है। वैयावृत्ति न करने वाला साधु महामोहनीय कर्म का बन्धन करता है और अपने लोक व परलोक दोनों बिगाड़ता है ॥४५॥

आहार व पानी साधु गोचरी (भिक्षा) से लाता है। उसके लिए अपने संभोगी साधु को संविभाग देने का विधान है। वह लाया है, इसलिए वह अधिक ले, तो उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है ॥४६॥

इस प्रकार अनेकों बोल हैं, जो संभोगी साधु के साथ यदि नहीं किये जाते हैं तो मोक्ष-गमन रुकता है, पर ये सभी बोल यदि श्रावक श्रावक के लिए नहीं करता तो उसे जरा भी दोष नहीं लगता ॥४७॥

श्रावक के भी साधुओं की तरह यदि संभोग हो तो उन्हें भी साधुओं की तरह करना चाहिए। अज्ञानी इस मान्यता का निर्णय नहीं निकालते। उन्होंने तो नीति

ए श्रद्धा रो निरणो न काढ़ै अज्ञानी,
त्यां विकल थई लीधो लोकां रो सरणो ।।४८।।

जो ए श्रावक श्रावकां रा नहीं करे तो,
भेषधारयां रे लेखै भागल जाणो ।
त्यां श्रावकां रे संभोग साधां ज्यूं परुप्यो,
ते पड़ गया मूरख उलटी ताणो ।।४६।।

श्रावक रे संभोग तो श्रावक सूं छै,
बले मिथ्याती सूं राखै भेलापो ।
त्यांरो संभोग तो अव्रत मैं छै,
ते त्याग किया सूं टलसी पापो ।।५०।।

त्यां सूं सरीरादिक नो संभोग टालै नै,
ज्ञानादिक गुण रो राखै भेलापो ।
उपदेश देइ निरदावै रहिणो,
पेलो समभ नै टालै तो टलसी पापो ।।५१।।

लाय लागी जो गृहस्थ देखै तो,
तुरत बुझावै छ काया मारी ।
ए सावद्य किरतब लोक करै छै,
तिण मांहे धर्म कहै सांगधारी ।।५२।।

अगनि पाणी छ काय मरी त्यांरो,
थोड़ोसो पाप कहां हुवै कानी ।
और जीव बच्या त्यांरो धर्म बतावै,
लाय बुझावण री करै छै सानी ।।५३।।

ए पाप नें धर्म रो मिश्र परूपै,
तोटा विचै लाभ घणो बतावै ।
त्यां भेषधारयां री प्रतीत आवै तो,
लाय बुझावण दोड़्या जावै ।।५४।।

एहवी दया बतावै अज्ञानी,
छ काय रा पीहर नाम धरावै ।

भ्रष्ट होकर गृहस्थों का शरण लिया है ।।४८।।

यदि श्रावक श्रावक के प्रति ये कार्य नहीं करते हैं तो वेशधारियों के मतानुसार वे व्रत-भ्रष्ट हैं। श्रावकों के संभोग को साधु-संभोग की तरह बताने वाले उल्टी खींचातान में पड़ गये ।।४९।।

श्रावक के श्रावक से संभोग है और मिथ्यात्वी से भी है। वे संभोग तो अव्रत में हैं। उनका तो परित्याग करने से ही पाप टलेगा ।।५०।।

उनसे शरीर आदि का संभोग टालना चाहिए और ज्ञानादि गुणों की एकता रखनी चाहिए। उपदेश देकर तटस्थ रहना चाहिए। अगला व्यक्ति समझ कर पाप टालना चाहेगा, तभी पाप टलेगा ।।५१।।

लाय लगते ही यदि गृहस्थ देख लेता है तो तत्काल छः काया की हिंसा करके भी उसे बुझाता है। यह सावद्य आचार लोगों का है, उसमें भी वेशधारी धर्म कहते हैं ।।५२।।

अग्नि, पानी आदि छः काय के जीवों की हिंसा हुई, उसमें थोड़ा-सा पाप कहकर अलग हो जाते हैं और जो जीव बचे उनका धर्म बतला कर अग्नि बुझाने का संकेत करते हैं ।।५३।।

यह पाप और धर्म की मिश्र-प्ररूपणा करते हैं। हानि से अधिक लाभ बतलाते हैं। इन वेशधारियों का विश्वास करते हैं, वे अग्नि बुझाने के लिए दौड़ते हुए जाते हैं ।।५४।।

इस प्रकार की दया कमाली बतलाते हैं और छः काय के रक्षक होने का दावा

मिश्र धर्म कहै लाय बुझायां,
पिण प्रश्न पूछ्यां रो जाब न आवै ।।५५।।

छ काय जीवांरी हिंसा कीधां,
और जीव बच्या त्यांरो कहै छै धर्मो ।
ए श्रद्धा सुण-सुण नें बुद्धिवंता,
खोटा नाणा ज्यूं काढ़्यो भर्मो ।।५६।।

नित्य रा नित्य पांच सो जीवांनै मारै,
कोई करै कसाई अनारज कर्मो ।
जो मिश्र धर्म छै लाय बुझायां,
तो इण नैई मार्‌यां हुवै मिश्र धर्मो ।।५७।।

लाय सूं बलता जीव जाणी नै,
छ काय हणै नै लाय बुझाई ।
ज्यूं कसाई सूं मरता जीवांनें देखै,
कोइ जीव बचावण हणै कसाई ।।५८।।

जो लाय बुझायां जीव बचै तो,
कसाई नै मार्‌यां बचै घणा प्राणो ।
लाय बुझायां, कसाई नै मार्‌यां,
ए दोयां रो लेखो बरोबर जाणो ।।५९।।

बले नाहर सिंघादिक चिता बघेरा,
ए दुष्ट जीव करै पर घाता ।
जो लाय बुझायां जीव बचै तो,
यांनेई मार्‌यां घणा रै हुवै साता ।।६०।।

दुहा

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिण मैं अवगुण अनेक ।
दया धर्म मैं गुण घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ।।१।।

करते हैं। अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म कहते हैं, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसका जवाब नहीं आता ॥५५॥

षट्कायिक जीवों की हिंसा करने में जो दूसरे जीव बचे, उनका धम कहते ह, इस मान्यता को सुनकर जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने तो खोटे रुपये की तरह पहचान कर भ्रम निकाल दिया है ॥५६॥

कोई अनार्य कर्मी कसाई प्रतिदिन पांच सौ जीवों को मारता है। यदि अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म है तो कसाई को मार देने में भी मिश्र-धर्म होना चाहिए ॥५७॥

अग्नि में जलते जीवों के लिए षट्कायिक जीवों की हिंसा करके आग बुझाई जाती है, वैसे ही कसाई से मरते हुए जीवों को देखकर कोई जीवों को बचाने के लिए कसाई की हत्या कर डालता है ॥५८॥

जो अग्नि को बुझाने से जीव बचते हैं तो कसाई को मार देने से बहुत सारे जीव बच जाते हैं। अग्नि को बुझाने और कसाई को मार देने, इन दोनों का लेखा बराबर समझना चहिए ॥५९॥

सिंह, चीता, बाघ, नाहर ये दुष्ट जीव दूसरे जीवों की हत्या करते हैं। यदि अग्नि बुझाने में जीव बचते हैं तो उन दुष्टों को मार देने में भी बहुत लोगों के साता हो जाती है ॥६०॥

दोहा

जीव-हिंसा अति बुरी है। उसमें अनेक अवगुण भरे हैं। जो दया धर्मी होते हैं, उनमें अनेक गुण होते हैं। उन्हें विवेक पूर्वक सुनो ॥१॥

मिश्र धर्म कहै लाय बुझायां,
पिण प्रश्न पूछ्यां रो जाब न आवै ॥५५॥

छ काय जीवांरी हिंसा कीधां,
और जीव बच्या त्यांरो कहै छै धर्मो।
ए श्रद्धा सुण-सुण नें बुद्धिवंता,
खोटा नाणा ज्यूं काढ़्यो भर्मो ॥५६॥

नित्य रा नित्य पांच सो जीवांनै मारै,
कोई करै कसाई अनारज कर्मो।
जो मिश्र धर्म छै लाय बुझायां,
तो इण नैंई मार्‌यां हुवै मिश्र धर्मो ॥५७॥

लाय सूं बलता जीव जाणी नै,
छ काय हणै नै लाय बुझाई।
ज्यूं कसाई सूं मरता जीवांनें देखै,
कोइ जीव बचावण हणै कसाई ॥५८॥

जो लाय बुझायां जीव बचै तो,
कसाई नै मार्‌यां बचै घणा प्राणो।
लाय बुझायां, कसाई नै मार्‌यां,
ए दोयां रो लेखो बरोबर जाणो ॥५९॥

वले नाहर सिंघादिक चिता बघेरा,
ए दुष्ट जीव करै पर घाता।
जो लाय बुझायां जीव बचै तो,
यांनेंई मार्‌यां घणा रै हुवै साता ॥६०॥

दुहा

जीव हिंसा छै अति बुरी, तिण में अवगुण अनेक।
दया धर्म में गुण घणा, ते सुणज्यो आण विवेक ॥१॥

करते हैं। अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म कहते हैं, किन्तु प्रश्न पूछने पर उसका जवाब नहीं आता ।।५५।।

षट्कायिक जीवों की हिंसा करने में जो दूसरे जीव बचे, उनका धर्म कहते हैं, इस मान्यता को सुनकर जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने तो खोटे रुपये की तरह पहचान कर भ्रम निकाल दिया है ।।५६।।

कोई अनार्य कर्मी कसाई प्रतिदिन पांच सौ जीवों को मारता है। यदि अग्नि बुझाने में मिश्र-धर्म है तो कसाई को मार देने में भी मिश्र-धर्म होना चाहिए ।।५७।।

अग्नि में जलते जीवों के लिए षट्कायिक जीवों की हिंसा करके आग बुझाई जाती है, वैसे ही कसाई से मरते हुए जीवों को देखकर कोई जीवों को बचाने के लिए कसाई की हत्या कर डालता है ।।५८।।

जो अग्नि को बुझाने से जीव बचते हैं तो कसाई को मार देने से बहुत सारे जीव बच जाते हैं। अग्नि को बुझाने और कसाई को मार देने, इन दोनों का लेखा बराबर समझना चहिए ।।५९।।

सिंह, चीता, बाघ, नाहर ये दुष्ट जीव दूसरे जीवों की हत्या करते हैं। यदि अग्नि बुझाने में जीव बचते हैं तो उन दुष्टों को मार देने में भी बहुत लोगों के साता हो जाती है ।।६०।।

दोहा

जीव-हिंसा अति बुरी है। उसमें अनेक अवगुण भरे हैं। जो दया धर्मी होते हैं, उनमें अनेक गुण होते हैं। उन्हें विवेक पूर्वक सुनो ।।१।।

ढाल : ९

[राग—थो भल रे सीता पति आयो]

दया भगोती छै सुखदाई, ते मुगति पुरी नी साई जी।
साठ नाम दया रा कह्या जिन, दशमां अंग रै मांहि जी।
दया धर्म श्रीजिनजी री वाणी ॥१॥

पूज्यनीक नाम दया रो भगोती, मंगलीक नाम छै नीको जी।
जे भवि जीव आया इण सरणे, त्यांनै छै मुगति नजीको जी ॥२॥

त्रिविधे-त्रिवधे छ काय न हणवी, या दया कही जिनरायो जी।
तिण दया भगोती रा गुण छै अनंता, ते पूरा केम कहिवायो जी ॥३॥

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय जीवां नै, भय नहीं उपजावै तामो जी।
ए अभय दान कह्यो भगवंते, ए पिण दया रो नामो जी ॥४॥

त्रिविधे-त्रिविधे छ काय मारण रा, त्याग करै मन सुद्धे जी।
या पूरी दया भगवंते भाषी, तिण सूं पाप रा वारणा रूंधे जी ॥५॥

त्याग किया बिन हिंसा टालै, तो कर्म निर्जरा थायो जी।
हिंसा टाल्यां शुभ जोग वर्ते छै, तिहां पुन्न रा थाट बंधायो जी ॥६॥

इण दया सूं पाप कर्म रुक जावै, बले कर्म करै चकचूरो जी।
यां दोय गुणां मैं अनंत गुण आया, ते पालै छै बिरला सूरो जी ॥७॥

याहिज दया छै महाव्रत पहिलो, तिणमें दया दया सर्व आई जी।
ते पूरी दया तो साधु जी पालै, बाकी दया रही नहीं कांई जी ॥८॥

गीति : ९

दया भगवती अत्यन्त सुखदायी है। वह मोक्षपुरी की स्वीकृति है। दशवें अंग प्रश्नव्याकरण सूत्र में दया के साठ नाम कहे हैं। ...दया धर्म जिनेश्वर देव की वाणी है ॥१॥

दया का पूज्यनीय और मांगलिक नाम भगवती है। जो भव्य प्राणी इसकी शरण आये हैं, उनके मुक्ति निकट है ॥२॥

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों की हिंसा न करना, जिनेश्वर देव ने इसे दया कहा है। उस दया भगवती के अनन्त गुण हैं, उन्हें पूरा कैसे कहा जा सकता है? ॥३॥

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों को भय न उपजाना, इसे भगवान् ने अभयदान कहा है। यह भी दया का एक नाम है ॥४॥

तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों को मारने का शुद्ध मन से त्याग करना, यही पूर्ण दया भगवान् ने कही है; इससे पाप-आगमन के द्वार रुकते हैं ॥५॥

त्याग किये विना भी यदि दया पाली जाती है, तो भी कर्म टूटते हैं। हिंसा से बचाने में शुभ योगों की प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य समूह का बन्धन होता है ॥६॥

इस दया से आने वाले पाप कर्म रुक जाते हैं और संचित कर्म चूर-चूर हो जाते हैं। इन दो गुणों में अनन्त गुण आ जाते हैं। विरले शूर ही इस दया का पालन करते हैं ॥७॥

यही दया तो प्रथम महाव्रत है, जिसमें समग्र दया का समावेश है। उस पूर्ण दया का पालन साधु करते हैं। उससे अवशेष कोई दया नहीं रह जाती ॥८॥

छ काय नें हणे हणावै नांही, वले हणतां नें नहीं सरावै जी।
इसड़ी दया निरन्तर पालै, त्यांरे तुले बीजो कुण आवै जी ॥९॥

याहिज दया चोखै चित पालै, ते केवलियां री छै गादी जी।
याहिज दया सभा मैं परूपै, तिणनै वीर कह्यो न्यायवादी जी ॥१०॥

याहिज दया केवलियां पाली, मनपर्यव अवधिज्ञानी जी।
वले मतिज्ञानी नै श्रुतिज्ञानी, याहिज दया मन मानी जी ॥११॥

याहिज दया लब्धीधारयां पाली, या ही पूर्वधर ज्ञानी जी।
शंका हुवै तो निशंक सूं जोवो, सुतर मैं नहीं छै वात छानी जी ॥१२॥

देश थकी दया श्रावक पालै, तिणनै पिण साधु वखाणै जी।
ते श्रावक हिंसा करै घर बैठो, पिण तिण मांहे धर्म न जाणै जी ॥१३॥

प्राण भूत जीव नें सत्व,
त्यांरी घात न करणी लिगारो जी।
या तीन काल रा तीर्थंकरां नी वाणी,
आचारंग चोथा अध्येन मभारो जी ॥१४॥

मत हणो मत हणो कह्यो अरिहंतां,
तो ए जीव हणै किण लेखै जी।
ज्यांरी अभितर आंख हिया री फूटी,
ते सूतर साहमो न देखै जी ॥१५॥

जीव री हिंसा छैं महा दुखदाई,
ते नरक तणी छै साई जी।
खोटा-खोटा नाम तीस हिंसा रा,
कह्या दशमा अंग रै मांहि जी।
हिंसा धर्म कुगुरां री वाणी ॥१६॥

छः काय के जीवों को मारे नहीं, मरवाये नहीं और मारने वाले की प्रशंसा करे नहीं; ऐसी दया का जो निरन्तर पालन करते हैं, उनकी तुलना में दूसरा कौन आ सकता है ? ॥९॥

इसी दया का भले मन से पालन किया जाता है तो वह केवलियों का परम्परा है। इसी दया का जो सभा में निरूपण करता है, उसे भगवान् महावीर ने न्यायवादी कहा है ॥१०॥

केवलज्ञानियों ने भी इसी दया का पालन किया है और मनःपर्यव ज्ञानियों अवधिज्ञानियों, मति ज्ञानियों व श्रुत ज्ञानियों ने भी इसी दया का पालन किया है ॥११॥

इसी दया का पालन लब्धिधर साधुओं ने भी किया है। इसी दया का पालन पूर्वधरों ने किया है। शंका हो तो निःशंक रूप से शास्त्रों को देख लेना चाहिए ॥१२॥

उसी दया का आंशिक पालन श्रावक करता है, उसकी भी साधु प्रशंसा करते हैं, परन्तु जो श्रावक घर बैठा हिंसा करता रहता है, उसे साधु धर्म नहीं मानते ॥१३॥

आचारांग सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है, प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए। यह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों ही काल के तीर्थंकरों की वाणी है ॥१४॥

अरिहन्त प्रभु ने साधु को माहण अर्थात् 'मत हणो' इस शब्द से सम्बोधित किया है तो फिर यह जीवों की हिंसा किस आधार से करते हैं। जिनके अन्तरंग नेत्र लुप्त हो गये हैं, वे आगम की ओर नहीं देखते ॥१५॥

जीव-हिंसा दुःख देने वाली है। वह नरक-गमन की स्वीकृति है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के तीस नाम बहुत ही बुरे-बुरे बतलाये हैं। ...हिंसा धर्म कुगुरु की वाणी है ॥१६॥

प्राण घात हिंसा छै खोटी,
ते सर्व जीवां नैं दुखदायो जी।
तिण जीव हिंसा मैं अवगुण अनेक,
ते पूरा केम कहिवायो जी ॥१७॥

केई कहै म्हें हिंसा कियां में,
जाणा छां पाप एकंतो जी।
पिण हिंसा कियां बिना धर्म न हुवै,
म्हें किणविध पूरा मन खंतो जी ॥१८॥

केई कहै म्हें हणा एकेन्द्री, पंचेंन्द्री जीवां रे तांई जी।
एकेन्द्री मार पंचेन्द्री पोष्यां, धर्म घणो तिण मांहि जी ॥१९॥

एकेन्द्रिय थी पचेन्द्रिय ना, मोटा घणा पुन्य भारी जी।
एकेन्द्री मार पंचेन्द्री पोष्या, म्हांनें पाप न लागै लिगारी जी ॥२०॥

केई इसड़ो धर्म धारी नें बैठा, ते तो कुगुरां तणो सीखायो जी।
निशंक थका छ काय नें मारै, बले मन मांहैं हर्षित थायो जी ॥२१॥

कोई पांच स्थावर नैं सहल गिणी नैं, मारयां न जाणै पापो जी।
तिण सूं त्यांनें हणतां शंक न आणै, ए तो कुगुंरा तणो परतापोजी ॥२२॥

पांच थावर नां आरंभ सेती, दुर्गति दोष बधारैं जी।
कह्यो दशवैकालिक छठे अध्येने, तो बुद्धिवंत किणविध मारैजी ॥२३॥

छ काय जीवां नैं जीवां मारी नैं, सगासेण न्यात जीमावै जी।
ए प्रत्यक्ष सावद्य संसार नों कामो, तिण मांहें धर्म बतावै जी ॥२४॥

जीवां नैं मारी नैं जीवांनैं पोषै, ते तो मारग संसार नों जाणो जी।
तिण मांहैं साधु धर्म बतावै, ते पूरा छै मूढ़ अयाणो जी ॥२५॥

हिंसा को प्राण-घात भी कहते हैं। वह सब जीवों के लिए दुःखदायी है। उस जीव-हिंसा में अनेकों अवगुण हैं, उन्हें पूरा कैसे कहा जा सकता है ? ॥१७॥

कुछ कहते हैं, हम जानते हैं कि हिंसा करने में एकान्त पाप होता है, पर हिंसा किये बिना धर्म भी नहीं होता। हम अपनी धर्म-भावना को किस प्रकार पूरी करें ? ॥१८॥

कुछ लोग कहते हैं, पंचेन्द्रिय जीवों के लिए हम एकेन्द्रिय जीवों का विनाश करते हैं, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों को मारकर पंचेन्द्रिय जीवों को पोषित करने में बहुत बड़ा धर्म होता है ॥१६॥

एकेन्द्रिय जीवों से पंचेन्द्रिय जीवों के पुण्य अधिक होते हैं, इसलिए एकेन्द्रिय जीवों को मार कर पंचेन्द्रिय जीवों को पोषित करने में हमें जरा भी पाप नहीं लगता ॥२०॥

जो ऐसा धर्म मन में धारण किये बैठे हैं, वह तो कुगुरु लोगों का सिखाया हुआ है। वे निःशंक होकर छः काय के जीवों को मारते हैं और मन में हर्षित होते हैं ॥२१॥

कुछ लोग पांच प्रकार के स्थावर जीवों को सहज समझ कर उन्हें मारने में पाप नहीं समझते, इसलिए उन्हें निःशंक रूप से मारते हैं। यह कुगुरु का प्रताप है ॥२२॥

पांच स्थावर की हिंसा से दुर्गति रूप दोष बढ़ते हैं। दशवैकालिक के छठे अध्ययन में जब यह कहा गया है तो बुद्धिमान् हिंसा कैसे करेंगे ? ॥२३॥

छः काय के जीवों को मारकर अपने सगे-सम्बन्धी व बिरादरी को खिलाते हैं, यह प्रत्यक्ष ही पापकारी और सांसारिक कार्य है। इसमें भी धर्म बतलाते हैं ॥२४॥

जीवों की हिंसा कर जीवों का पोषण करते हैं, यह संसार का मार्ग है। इसमें जो साधु धर्म बतलाते हैं, वे पूरे मूर्ख और अज्ञानी हैं ॥२५॥

मूला गाजर सकरकंद कांदा, इत्यादिक निलोती अनेको जी।
ते पिण दान दियां में पुन्न परूपै, तै बूडे छै बिना विवेको जी ॥२६॥

केई जीव खवायां में पुन्य परूपै, केई मिश्र कहै छै मूढ़ोजी।
ए दोनुंई हिंसाधर्मी अनारज, ते बूडे छै कर कर रूढ़ोजी ॥२७॥

जीव खवायां मैं पुन्य परूपै, त्यांरी जीभ वहै तलवारो जी।
वले पहरण सांग साधुरो राखै, धिग त्यांरो जमवारो जी ॥२८॥

केइ साधुरो विड़द धरावै लोकां मैं, वले बाजे भगवंत रा भगताजी।
पिण हिंसा मांहे धर्म परूपै, त्यांरा तीन व्रत भागै लगता जी ॥२९॥

छ काय मारयां में धर्म परूपै, त्यांनें हिंसा छ काय री लागै जी।
तीन काल री हिंसा अनुमोदी, तिण सूं पहलो महाव्रत भागै जी ॥३०॥

हिंसा में धर्म तो जिन कह्यो नांहीं, हिंसा में धर्म कह्यां झूठ लागैजी।
इसड़ो झूठ निरन्तर वोलै, त्यांरो बीजोई महाव्रत भागै जी ॥३१॥

ज्यां जीवां नें मारयां धर्म परूपै,
त्यां जीवां रो अदत्त लागोजी।
वले आज्ञा लोपी श्री अरिहंत नी,
तिण सुं तीजोई महाव्रत भागो जी ॥३२॥

छ काय मारयां में धर्म वतावै, त्यांरी श्रद्धा वणी छै ऊंधी जी।
ते मोह मिथ्यात में जड़िया अज्ञानी, त्यांनै श्रद्धा न सूझै सूंधीजी ॥३३॥

त्यांनें पूछयां कहै म्हें दयाधर्मी छां, पिण निश्चै छ काय रा घातीजी।
त्यां हिंस्या धर्म्यां नें साधु श्रद्धे केई, ते पिण निश्चै मिथ्याती जी ॥३४॥

मूला, गाजर, सकरकन्द, प्याज इत्यादि अनेक प्रकार की वनस्पति का दान करने में पुण्य का निरूपण करते हैं, वे बिना विवेक से डूब रहे हैं ।।२६।।

कुछ एक जीव-खिलाने में पुण्य की प्ररूपणा करते हैं और कुछ मूर्ख मिश्र-धर्म की। ये दोनों ही प्रकार के लोग हिंसाधर्मी हैं, अनार्य हैं और रूढ़िवश डूब रहे हैं ।।२७।।

जीवों की हिंसा में पुण्य का निरूपण करने वालों की जीभ तलवार की तरह चलती है। वे साधु का स्वांग रखते हैं। उनके जीवन को धिक्कार है ।।२८।।

कुछ लोग साधु होने का गौरव रखते हैं। लोगों में भगवान् के उपासक कहलाते हैं, पर हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते हैं। उनके तीन महाव्रत टूट जाते हैं ।।२६।।

छः काया की हिंसा में धर्म की प्ररूपणा करते हैं, उन्हें छः काया की हिंसा का दोष लगता है। तीन काल की हिंसा का अनुमोदन हुआ, इससे प्रथम महाव्रत भंग हुआ ।।३०।।

जिनेश्वर देव ने हिंसा में धर्म कहा नहीं है और वे ऐसा कहते हैं, इसलिए उन्हें झूठ का दोष लगता है। फिर ऐसा झूठ वे निरन्तर बोलते रहते हैं, इसलिए उनका दूसरा महाव्रत टूट जाता है ।।३१।।

जिन जीवों को मारने में धर्म प्ररूपते हैं, उन जीवों का अदत्त लगता है। दूसरी बात हिंसा में धर्म की प्ररूपणा कर वे अरिहन्त प्रभु की आज्ञा का लंघन करते हैं, इससे तीसरा महाव्रत भी भंग हो जाता है ।।३२।।

छः काया को मारने में धर्म बतलाते हैं, उनकी मान्यता बहुत ही विपरीत है। वे अज्ञानी मोह और मिथ्यात्व में जकड़े हैं। उन्हें सम्यक् मान्यता नहीं सूझ सकती ।।३३।।

वे भी पूछे जाने पर कहते हैं, हम दयाधर्मी हैं, पर वास्तव में वे छः काया के हिंसक हैं। उन हिंसाधर्मियों को यदि कोई साधु मानता है, वह भी निश्चित रूप से मिथ्यात्वी है ।।३४।।

केइ कहै साधु जीव बचावै, राखै रखावै भलो जाणैजी।
ते जिनमारग रा अजाण अज्ञानी, इसड़ी चरचा आणै जी ॥३५॥

साधु तो जीवां नें क्यां नैं बचावै, ते पचे रह्या निज कर्मो जी।
कोई साधुरी संगत आय करै तो, सीखाय देवै जिन धर्मो जी ॥३६॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो जीवणो मरणो चावैजी।
त्यांरो जीवणो मरणो साधु वंछैतो, राग द्वेष वेहू आवै जी ॥३७॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो जीवणो मरणो खोटो जी।
त्यांनैं हणवारो त्याग कियो तिण मांहें, दया तणो गुण मोटोजी ॥३८॥

असंजमजीतब नै बाल मरण, यां दोयांरी वांछा न करणी जी।
पंडित मरण नै संजमजीतब, यांरी आशा वंछा धरणी जी ॥३९॥

छ कायरा शस्त्र जीव अव्रती, त्यांरो असंजमजीतब जाणोजी।
सर्व सावद्य त्याग किया त्यांरो, संजमजीतब एह पिछाणोजी ॥४०॥

त्रिविधे त्राइ छ काय रा साधु, त्यांरी दया निरंतर राखैजी।
ते छ कायरा पीहर छ काय नैं मारयां, धर्म किसै लेखै भाखैजी ॥४१॥

छ कायरा जीवां नै हणै संसारी, त्यांरै बिचै पड़ै नहीं जायोजी।
बिचै पडयां व्रत भागै साधुरो, ते विकलां नैं खबर न कायोजी ॥४२॥

केइ तो कहै साधु नैं बिचै न पड़णो, केइ कहै बिचै पड़णोजी।
साधु नैं समभावे रहिणो, ते विकलां रै नहीं छै निरणोजी ॥४३॥

कोई कहते हैं, साधु जीव बचाते हैं, जीव की रक्षा करते हैं, दूसरों से रक्षा करवाते हैं और रक्षा करने वाले को अच्छा समझते हैं। वे जैनधर्म के अजाण व अज्ञानी हैं जो ऐसी चर्चाएं करते हैं ॥३५॥

साधु जीवों को क्यों बचाने लगेंगे? जीव तो अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख पा रहे हैं। कोई निकट आकर साधु की संगति करेगा तो वे उसे जैन धर्म सिखलाएंगे ॥३६॥

अव्रती जीव तो छः काया के शस्त्र हैं। साधु उनका जीना या मरना नहीं चाहेगा। यदि चाहेगा तो उसके मन में राग व द्वेप की प्रवृत्ति होगी ॥३७॥

छः काया के शस्त्र अव्रती जीवों का जीना व मरना दोनों ही बुरे हैं। उन जीवों को मारने का जो त्याग करता है, उस व्यक्ति में दया का विशेप गुण है ॥३८॥

असंयमजीवितव्य और वाल-मरण इन दोनों की वांछा नहीं करनी चाहिए। पंडितमरण और संयमजीवितव्य की वांछा करनी चाहिए ॥३९॥

अव्रती जीव पट्कायिक जीवों के शस्त्र हैं। उनके जीवन को असंयमी जीवन समझना चाहिए। जिन्होंने सव प्रकार के सावद्य का त्याग किया है, उनका जीवन संयमी जीवन कहा जाता है ॥४०॥

साधु तीन करण, तीन योग से षट्कायिक जीवों के त्राता (रक्षक) हैं। वे उनके प्रति निरन्तर दया-भाव रखते हैं। वे पट्काय के रक्षक साधु पट्काय को मारने में धर्म किस आधार से कहते हैं? ॥४१॥

संसारी प्राणी छः ही काया के जीवों की हिंसा करते हैं। साधु उनके वीच में नहीं पड़ते। वीच में पड़ने से साधु का व्रत भंग होता है। विवेकशून्य लोगों को इसकी खवर नहीं पड़ती ॥४२॥

कुछ तो कहते हैं, साधु को वीच में नहीं पड़ना चाहिए और कुछ कहते हैं, उन्हें वीच में पड़ना चाहिए। विवेकशून्य लोग यह नहीं समझ पाते कि साधु को तो समभाव से ही रहना चाहिए ॥४३॥

साधु नैं विचै पड़णो त्रिविधे निषेध्यो,
ते हणतां विचै न पड़ै जायो जी।
पिण गृहस्थ में धर्म कहै विचै पड़ियां,
तो घररो धर्म कांय गमायो जी ॥४४॥

हणे जीतब नें प्रसंसा रे हेत, हणे मान नें पूजा रै कामोजी।
वले जनम-मरण मूकावा हणै छै, हणै दुःख गमावण तामो जी ॥४५॥

यां छ कारणा छ काय नैं मारै तो, अहेत रो कारण थावै जी।
जनम-मरण मूकावण हणे तो, समकित रतन गमावै जी ॥४६॥

ए छ कारणे छ काय नैं मारयां, आठ कर्मारी गांठ वंधायो जी।
मोहनैं मार बधे घणी निश्चै वलै पड़ै नरक में जायोजी ॥४७॥

अर्थे अनर्थे हिंसा कीधां, अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रै कारण हिंसा कीधां, बोध बीजरो नाशो जी ॥४८॥

ए छ कारणे छ काय नैं मारै, ते तो दुःख पामैं इण संसारोजी।
ए तो आचारंग रै पहले अध्ययने,छ उद्देशां मैं कह्यो विस्तारोजी ॥४९॥

केई समण माहण अनारज पापी, करैं हिंसा धर्मरी थापो जी।
कहै प्राण भूत जीव नै सत्व, धर्म हेते हण्यां नहीं पापो जी ॥५०॥

एहवी ऊंधी परूपणा करै अनारज,
त्यांनैं आरज बोल्या धर प्रेमोजी।
थें भूंडो दीठो नै भूंडो साभंलियो,
भूंडो मान्यो भूंडो जाण्यो एमोजी ॥५१॥

जीव मार्‍यां मैं धर्म परूपै,
ए तो अनारज री बाणोजी।
ते तो मूढ़ मिथ्याती भारी कर्मा,
त्यांरी सुध-बुध नहीं ठीकाणोजी ॥५२॥

साधु को बीच में पड़ने का तीन करण, तीन योग से निषेध है, इसलिए वे जीव-वध के समय बीच में नहीं पड़ते। फिर भी गृहस्थ के बीच में पड़ने में धर्म कहते हैं। तब उन्होंने घर के धर्म को ऐसे ही क्यों गमा दिया ? ॥४४॥

प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म व मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए और दुःख गमाने के लिए हिंसा की जाती है ॥४५॥

इन छः कारणों से छः कायों की हिंसा की जाती है तो वह अहित का कारण बनती है और यदि जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए हिंसा की जाती है तो सम्यक्त्वरूप रत्न ही गुम हो जाता है ॥४६॥

इन छः करणों से छः काय की हिंसा करने से आठ कर्मों की गांठ बंध जाती है। मोह और दुःख की निश्चित ही अभिवृद्धि होती है और जीव नरक में जाता है ॥४७॥

अर्थ या अनर्थ किसी भी रूप में हिंसा की जाती हो, वह अहित का कारण है। धर्म के लिए हिंसा करने में बोधि-बीज का नाश होता है ॥४८॥

छः कारण से छः काय की जो हिंसा करता है, वह इस संसार में दुःख पाता है। आचारांगसूत्र के पहले अध्ययन में छः उद्देशों के अन्तर्गत यह विस्तार से कहा गया है ॥४९॥

कुछ एक पापी श्रमण, ब्राह्मण, अनार्य हिंसा धर्म की स्थापना करते हैं। कहते हैं—धर्म के लिए प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा करने में पाप नहीं है ॥५०॥

इस प्रकार की विपरीत प्ररूपणा अनार्य करते हैं। उन्हें आर्य लोग कहते हैं—"यह तुमने बुरा देखा, बुरा सुना, बुरा जाना और बुरा माना" ॥५१॥

जीव मारने में धर्म कहना, यह अनार्य की वाणी है। ऐसी प्ररूपणा करने वाले भारी कर्म वाले मूढ़ मिथ्यात्वी हैं, उनकी सुध-बुध ठिकाने नहीं है ॥५२॥

त्यां हिंसा धर्म्यां नै आरज पूछ्यो,
थांनैं मारयां धर्म के पापोजी।
जब तो कहै म्हांनैं मारयां छै पाप एकंत,
साच वोलै कीधी शुद्ध थापोजी ।।५३।।

जब आरज कहै थांनैं मारयां पाप छै,
तो सर्व जीवां नैं इम जाणो जी।
ओरां नैं मारयां धर्म परूपै,
थें कांय वूडो कर-कर ताणो जी ।।५४।।

इम हिंसा धर्मी अनारज त्यांनैं,
कीधा जिन मार्ग सुं न्यारोजी।
जोवो आचारंग चोथा अध्ययन मांहें,
बीजै उद्देशै विस्तारोजी ।।५५।।

ओरां नैं मारयां धर्म परूपै,
आप नैं मारयां कहै पापोजी।
या श्रद्धा विकलांरी ऊंधी,
तिण में कर रह्या मूढ़ विलापो जी ।।५६।।

अर्थ अनर्थ धर्म रै काजै,
जीव हणै छ कायो जी।
तिण नै मंद बुद्धि कह्यो दशमें अंगे,
पहिला अध्येन रे मांयो जी ।।५७।।

छ काय जीवां रो घमसाण करनैं,
श्रावकां नें जीमावैजी।
उणनै मंद बुद्धि तो कह दियो भगवंत,
तिण नें धर्म किसी विध थावै जी ।।५८।।

कोई तो जीवां नै मार खवावै,
कोई जीव खवावै आखा जी।
तिण मांहैं एकंत धर्म परूपे,
ते अनारज री भाखा जी ।।५९।।

उन हिंसाधर्मियों को आर्य ने पूछा—तुम्हारा कोई वध करे तो वह धर्म है या पाप ? तब तो कहते हैं—हमें मारने में एकान्त पाप है। ऐसे अवसर पर तो सच बोलते हैं, शुद्ध मान्यता की स्थापना करते हैं ॥५३॥

जब आर्य कहते हैं—तुम्हें मारने में यदि पाप है तो सब जीवों के विषय में यही समझना चाहिए। दूसरों को मारने में धर्म कहकर और उसकी खींचातान कर क्यों डूब रहे हो ?॥५४॥

इस प्रकार आचारांग सूत्र के चौथे अध्ययन के दूसरे उद्देशक में हिंसाधर्मी अनार्यों को जिन मार्ग से सविस्तार पृथक् किया गया है ॥५५॥

अन्य जीवों को मारने में धर्म कहते हैं और उन स्वयं को कोई मारे तो पाप कहते हैं। मूर्ख व ग्रथिल जनों की यह श्रद्धा विपरीत तथा प्रलाप मात्र है ॥५६॥

प्रयोजन से या विना प्रयोजन से जो छः काया के जीवों की हिंसा करता है, उसे दशवें अंग सूत्र प्रश्नव्याकरण में मंद बुद्धि वाला कहा गया है ॥५७॥

छः काया के जीवों का संहार करके जो श्रावकों को खिलाता है, भगवान् ने जब उसे मन्द बुद्धि वाला कह दिया है तो फिर उसमें धर्म कैसे होगा ? ॥५८॥

कुछ लोग जीवों को मारकर खिलाते हैं और कुछ ज्यों-के-त्यों ही खिला देते हैं। इसमें एकान्त धर्म कहना, यह अनार्य-भाषा है ॥५९॥

केइ जीव मारयां में धर्म कहै छै,
ते पूरा अज्ञानी ऊंधाजी।
त्यांनें जाण पुरुष मिलै जिन मारग रो,
तो किणविध बोलावै सूधाजी ॥६०॥

लोह नों गोलो अगनी तपायो,
ते अग्नी वरणो करै तातोजी।
ते पकड़ संडासे आयो त्यां पासे,
कहै बलतो गोलो थें झालो हाथो जी ॥६१॥

जब पाषंडियां हाथ पाछो खेंच्यो,
जब जाणपुरुष कहै त्यांनें जी।
थें हाथ पाछो खेंच्यो किण कारण,
थांरी श्रद्धा म' राखो छानेंजी ॥६२॥

जब कहै गोलो म्हें हाथे ल्यां तो,
म्हांरो हाथ बलै लागै तापोजी।
तो थांरो हाथ बालै तिणनैं पाप के धर्म,
जब कहै उणनें लागै पापोजी ॥६३॥

थांरो हाथ बालै तिण नैं पाप लागै तो, ओरां नैं मारयां धर्म नांहिंजी।
थें सर्व जीव सरीषा जाणो, सोच देखो मन मांहिंजी ॥६४॥

जे जीव मारयां में धर्म कहै तै, रूलै काल अनंतोजी।
सूयगड़ांग अध्ययन अठारमें, भाष गया भगवंतोजी ॥६५॥

स्थानक करावै छ काय हणै ते, करै अनंत जीवांरी घातोजी।
अहेतनो कारण निश्चै हुवो छै, धर्म जाणै तो आवै मिथ्यातोजी ॥६६॥

जब कहै म्हें स्थानक करावां तिण में, जाणा छां एकंत पापोजी।
तिण कहिवा नै पाप कह्यो झूठ बोलै, श्रद्धा गोप बिगोयो आपो जी ॥६७॥

जो जीव मारने में धर्म कहते हैं, वे पूरे अज्ञानी व विपरीत हैं। उनको कोई जैनधर्म का ज्ञाता मिल जाता है तो उससे वे सीधी वात किस तरह करेंगे ॥६०॥

वह ज्ञाता-पुरुष एक लोह के गोले को तपाकर उसे अग्नि वर्ण जैसा लाल बनाकर, संडासे में पकड़ कर उन लोगों के पास आया और बोला यह गरमागरम गोला आप अपने हाथों में लें ॥६१॥

तब उन पाखंडियों ने अपना हाथ पीछे खींच लिया तो उस ज्ञाता-पुरुष ने उनसे कहा—तुमने अपना हाथ पीछे क्यों खींचा ? यह हमें स्पष्ट बताओ ॥६२॥

उन्होंने कहा—यदि यह गोला हम हाथ में लेते हैं तो ताप लगता है और हाथ जलता है। जब उनसे पूछा गया कि तुम्हारा हाथ जलाता है तो उसे पाप है या धर्म ? तो कहते हैं पाप ॥६३॥

तुम्हारे हाथ जला देने में ही यदि पाप है तो दूसरों को मार देने में धर्म कैसे होगा ? मन में चिन्तन करके सभी जीवों को समान रूप से देखो ॥६४॥

जो आदमी जीवों को मारने में धर्म कहता है, वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। सूत्रकृतांग सूत्र के अठारहवें अध्ययन में भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है ॥६५॥

छः काया के अनन्त जीवों की घात कर स्थानक बनवाते हैं। यह निश्चित ही अहित का कारण है। उसमें यदि धर्म समझा जाता है तो मिथ्यात्व की निष्पत्ति होती है ॥६६॥

तब कहते हैं—हम स्थानक कराते हैं, उसमें एकान्त पाप समझते हैं। यह तो केवल कहने की वात है। असत्य बोलकर अपनी मान्यता छिपाई जाती है, अपने सत्व को नष्ट किया जाता है ॥६७॥

कोई मनुष्य आंतरियो छै तिण काले, धन उदके स्थानक काजोजी।
जोऊ पाप जाणै तो परभव जाते, इसड़ो कांय कियो अकाजो जी ॥६८॥

घररो धन दे नै जीव मराया, ते अर्थ न दीसै कांईजी।
अनर्थ पिण जाण्यो नहिं दीसै, धर्म जाण्यो दीसै तिण मांहिजी ॥६९॥

हिंसारी करणी में दया नहीं छै, दयारी करणी में हिंसा नांहिजी।
दया नैं हिंसारी करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नैं छांहीजी ॥७०॥

और वस्तु में भेल हुवै पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूरव नैं पश्चिम रो मारग, किणविध खाये मेलो जी ॥७१॥

केई दया नैं हिंसारी मिश्र करणी कहै, ते कुड़ा कुहेत लगावै जी।
मिश्र थापण नै मूढ़ मिथ्याती, भोला लोकां नैं भरमावै जी ॥७२॥

जो हिंसा कियां में मिश्र हुवै तो, मिश्र हुवै पाप अठारोजी।
एक फिरयां अठारै फिरै छै, कोई बुद्धिवंत करज्यो विचारोजी ॥७३॥

जिन मारग री नींव दया पर, खोजी हुवै ते पावैजी।
जो हिंसा मांहें धर्म हुवै तो, जल मथियां घी आवैजी ॥७४॥

संवत अठारै नैं वर्ष चमालै, फागुण सुद नवमी रविवारोजी।
जोड़ कीधी दया धर्म दीपावण, बगड़ी शहर मझारोजी ॥७५॥

दुहा

नमूं वीर शासण धणी, गणधर गौतम स्वाम।
त्यां मोटा पुरुषां रा नाम थी, सीझै आतम काम ॥१॥

त्यां घर छोड़ी संजम लियो, भगवंत श्री वर्द्धमान।
बारे वर्ष नें तेरे पखे, छदमस्थ रह्या भगवान ॥२॥

कोई मनुष्य मृत्यु-शय्या पर है। अपना धन स्थानक के लिए निकालता है। यदि वह पाप समझता है तो परभव जाते-जाते ऐसा अकार्य क्यों करता है ॥६८॥

अपना धन देकर जीवों को मरवाया, यह कोई अर्थ हिंसा हुई हो, ऐसा नहीं लगता। अनर्थ पाप भी उसको जाना हो, ऐसा नहीं लगता। सम्भव यही है कि उसने उसमें धर्म माना है ॥६९॥

हिंसा युक्त कार्य में दया नहीं है और दयायुक्त कार्य में हिंसा नहीं है। दया और हिंसा के कार्य इतने पृथक् हैं, जितने कि धूप और छाया ॥७०॥

और वस्तु में मिलावट हो सकती है, किन्तु दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मेल खा सकते हैं ? ॥७१॥

कुछ लोग दया और हिंसा से युक्त क्रिया को मिश्र क्रिया कहते हैं। उसके लिए असत्य हेतु लगाते हैं। अपनी उस मिश्र-क्रिया की स्थापना के लिए भोले लोगों को भरमा देते हैं ॥७२॥

जो हिंसा करने से मिश्र-धर्म होता है तो वह अठारह ही पाप करने से भी होगा। एक फिर जाने से अठारह फिर जाते हैं। बुद्धिमान् लोगों को इसका विचार करना चाहिए ॥७३॥

जैन-धर्म की नींव दया के ऊपर है। जो गवेषणा करता है, वही उसे पा सकता है। यदि हिंसा करने में धर्म हो सकता है तो जल मथने से घृत निकल सकता है ॥७४॥

विक्रम संवत् अठारह सौ चवालीस फाल्गुन शुक्ला नवमी रविवार के दिन वगड़ी शहर में दया धर्म की प्रभावना के लिए यह रचना मैंने की है ॥७५॥

दोहा

शासनाधिनायक भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर गौतम स्वामी को प्रणाम करता हूं। उन महापुरुषों के नाम से आत्मा के कार्य सिद्ध होते हैं ॥१॥

भगवान् श्री महावीर ने गृहवास छोड़कर संयम ग्रहण किया। बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् छद्मस्थ रहे ॥२॥

त्यां गोसाला नै चेलो कियो, ते तो निश्चै अजोग साख्यात ।
सराग भाव आयो तेहथी, ते पिण छदमस्थपणा री वात ॥३॥

तीर्थंकर छदमस्थ थकां, चेलो न करै दीक्षा देवै नांहि ।
धर्म कथा पिण कहै नहीं, जोवो सूतर रै मांहि ॥४॥

बारे वर्ष नैं तेरे पख मझे,
दीक्षा दे चेलो न करचो कोय ।
एक गोसाला अजोग नै चेलो कियो,
निश्चै होणहार टलै नहीं सोय ॥५॥

तीर्थंकर साथे दीक्षा लिये, तिण नैं दीक्षा दे जिनराय ।
पछै केवली नहीं हुवै त्यां लगै, किण नै दीक्षा देवै नांय ॥६॥

गोसाला नैं वीर बचावियो, छदमस्थ पणा रो सभाव ।
मोहराग आयो तिण ऊपरै, तिणरो विकल न जाणै न्याव ॥७॥

गोसाला नै वीर बचावियो, तिणरो मूरख थापै धर्म ।
सूने चित बकवो करै, ते भूला अज्ञानी भर्म ॥८॥

कहै भगवंत दीक्षा लियां पछै, न कियो किंचित प्रमाद नें पाप ।
जाणतां नें अजाणतां, कहै दोष न सेव्यो जिन आप ॥९॥

इम कही भोला लोकां भणी, न्हांखै छै फंद मांय ।
तिणरो न्याय निरणो यथातथ्य कहूं, ते सुणज्यो चित लाय ॥१०॥

ढाल : १०

[राग—पाखंड बधसी आरै पांचमैं]

गोसाला नें बचायो वीर सराग थीरे,
तिण मांहैं धर्म नहीं लिगार रे ।
यो तो निश्चै होणहार टलै नही रे,
तिणरो भोला नहीं जाणे मूल विचार रे ।
कुपात्र नें बचायां धर्म किहां थकी रे ॥१॥

उन्होंने गोशालक को अपना शिष्य बनाया। वह वास्तव में ही अयोग्य था। भगवान् उस समय छद्मस्थ थे। यह सब रागभाव के कारण हुआ ॥३॥

छद्मस्थ तीर्थंकर अपनी साधु-अवस्था में दीक्षा देकर किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते, न वे धर्म-कथा ही करते हैं। स्थानांगसूत्र के नवम ठाणे के अर्थ में यह बात कही है ॥४॥

बारह वर्ष और तेरह पक्ष में भगवान् ने किसी को शिष्य नहीं बनाया। केवल एक अयोग्य गोशालक को शिष्य बनाया। यह न टल सकने वाली भवितव्यता थी ॥५॥

तीर्थंकरों के साथ जो लोग दीक्षा लेते हैं, उन्हें तीर्थंकर दीक्षा देते हैं। फिर जब तक वे केवली नहीं बन जाते, तब तक किसी को दीक्षा नहीं देते ॥६॥

भगवान् श्री महावीर को छद्मस्थ स्वभाव के कारण मोह आया और उन्होंने गोशालक को बचाया। विवेकशून्य लोग इस न्याय को नहीं समझते ॥७॥

गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया। उसमें मूर्ख व्यक्ति धर्म कहते हैं। वे अज्ञानी भ्रम में भूल, बेभान होकर प्रलाप करते हैं ॥८॥

कहते हैं, भगवान् ने दीक्षा लेने के पश्चात् ज्ञात-अज्ञात अवस्था में किंचित् भी प्रमाद व पाप का आचरण नहीं किया और न किसी अन्य दोष का सेवन ॥९॥

इस प्रकार कह कर अज्ञानी लोगों को फन्दे में डालते हैं। इस विषय का यथोचित न्याय मैं अब यथाविधि कहता हूं। मन लगाकर सुनो ॥१०॥

गीति : १०

गोशालक को भगवान् ने सराग भाव से बचाया। उसमें किंचित् भी धर्म नहीं। यह तो निश्चित होनहार की बात थी। अज्ञानी इस मूल विचार को नहीं जान सकते। ···कुपात्र को बचाने में धर्म कहां से होगा ? ॥१॥

कुपात्र नैं बचायो वीर सराग थी रे,
तिण में म' जाणो कोई कूड़ रे।
शंका हुवै तो भगोती रो अर्थ देखनै रे,
खोटी श्रद्धा नै करद्यो दूर रे।।२।।

भारी कर्मा जीवां नैं समझ पड़ै नहीं रे,
ते तो कुगुरां रे बदलै बोलै कूड़ रे।
ताणा-ताण में जासी ताणिया रे,
बहती अगाध नदी रे पूर रे।।३।।

गोसालो तो अधर्मी अवनीत थो रे,
भारी कर्मो कुपात्र जीव रे।
बले दावानल छै जिन धर्म रो रे,
दुष्टयां में दुष्टी घणो अतीव रे।।४।।

भगवंत नें झूठा पाण पापीये रे,
तिल नैं उखेलियो पापी जाण रे।
मिथ्यात पड़िवजियो श्री भगवंत थी रे,
त्यांरी मूल न राखी पापी काण रे।।५।।

जगत तणा सगला चोरां थकी रे,
गोसालो छै अधिको चोर निशंक रे।
बले कूड़ नें कपट तणो थो कोथलोरे,
तिणरे करड़ो मिथ्यात तणो छै डंक रे।।६।।

तिण नैं वीर बचायो बलतो जाणनै रे,
लब्धि फोड़वी सीतल लेश्या मूक रे।
राग आण्यो तिण पापी ऊपरै रे,
छदमस्थ गया तिण काले चूक रे।।७।।

केई भेषधारी भागल इसड़ी कहै रे,
गोसाला नैं बचायां हुवो धर्म रे।
त्यां धर्म जिनेश्वर रो नहीं ओलख्यो रे,
ते तो भूल गया अज्ञानी भर्म रे।।८।।

इसमें जरा भी असत्य नहीं है कि भगवान् ने उस कुपात्र को सराग भाव से बचाया था। किसी को शंका हो तो भगवतीसूत्र का अर्थ देखकर उस बुरी मन्यता को दूर कर देना चाहिए ॥२॥

बहुकर्मी जीवों को समझ नहीं होती। वे तो कुगुरु के बदले असत्य बोलते हैं। वे खींचातान करनेवाले, इसी खींचातान में बहती नदी के अगाध पूर में बह जाएंगे ॥३॥

गोशालक तो अधर्मी, अविनीत, बहुकर्मी, कुपात्र, जैनधर्म के लिए दावानल और दुष्टों में अति दुष्ट था ॥४॥

भगवान् महावीर को असत्य करने के लिए उस पापात्मा ने तिल के पौधे को उखाड़ा। भगवान् का जरा भी आदर न रखकर उनके प्रति मिथ्यात्व का आचरण किया ॥५॥

जगत के चोरों में वह सबसे बड़ा चोर था और झूठ व कपट का भण्डार था। उसके मिथ्यात्व का डंक बहुत कठोर लगा हुआ था ॥६॥

उसे जलता देखकर भगवान् ने शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर बचाया। उस पापी के ऊपर उन्हें राग आया। भगवान् छद्मस्थ अवस्था में थे, इसलिए यह उनकी चूक हुई ॥७॥

कुछ नियम-भ्रष्ट वेशधारी ऐसा कहते हैं—गोशालक को बचाने में धर्म हुआ। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं पहचाना। वे अज्ञानी तो भ्रम में भूल रहे हैं ॥८॥

वले कहै छै भगवंत तो घर छोड्यां पछै रे,
दोष न सेव्यो मूल लिगार रे।
प्रमाद किंचित मात्र सेव्यो नहीं रे,
वले आश्रव न सेव्यो किण ही वार रे ॥९॥

इम कही कही नें सत्यवादी हुवै रे,
पिण एकंत बोलै छै मूसा वाय रे।
त्यां धर्म जिनेश्वर नों नहीं ओलख्यो रे,
फूटा ढोल ज्यूं बोलै बिरुवा वाय रे ॥१०॥

ते झूठ बोलै छै सुध-बुध बाहिरा रे,
त्यांरी श्रद्धारी त्यांनैं खबर न काय रे।
त्यां विकलां री श्रद्धा मैं परगट करूं रे,
ते भवियण सांभलज्यो चित ल्याय रे ॥११॥

भगवंत आहर कियो छै जाणनै रे,
तिण में कहे छै प्रमाद नें आश्रव पाप रे।
बले निद्रा लीधां मैं कहै पाप छै रे,
ते निद्रा पिण लीधी भगवंत आप रे ॥१२॥

परमाद न सेव्यो कहै भगवान नें रे,
बले कहैता जावै पापी परमाद रे।
न्याय निरणो विकलां रे छै नहीं रे,
यूं ही करै कूड़ो विषवाद रे ॥१३॥

मोह कर्म उदय सूं सावद्य सेवियो रे,
छदमस्थ थकां श्री भगवान रे।
अजाण पणै नें बिन उपयोग छै रे,
ते बुद्धिवंत सुणो सुरत दे कान रे ॥१४॥

दश सुपनां पिण भगवंत देखिया रे,
दश सुपनां रो पाप लागो छै आण रे।
ते पिण दशूं सुपनां रो पाप जुवो-जुवो रे,
तिणरी शंका मत करज्यो चतुर सुजाण रे ॥१५॥

वे लोग कहते हैं, गृहवास छोड़ देने के बाद भगवान् ने ज़रा भी दोष नहीं लगाया और न उन्होंने प्रमाद तथा अन्य किसी आश्रव का आचरण किया ॥९॥

ऐसा कहकर वे सत्यवादी बनते हैं, पर वे नितान्त असत्य बोलते हैं। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं पहचाना। फूटे ढोल की तरह वे विरूप वचन बोलते हैं ॥१०॥

वे सुध-बुध भूलकर झूठ बोलते हैं। उन्हें अपनी मान्यता का भी पता नहीं है। उन विकल लोगों की मान्यता को प्रकट करता हूं। भव्य जन ध्यान लगाकर सुनें ॥११॥

भगवान् जान-बूझकर आहार करते थे, उसे प्रमाद आश्रव कहते हैं और निद्रा लेने में पाप कहते हैं। भगवान् ने निद्रा भी ली थी ॥१२॥

भगवान् ने प्रमाद का आचरण नहीं किया, यह कहते हैं और साथ-साथ यह भी कि यह भगवान् का प्रमाद था। विकल लोगों के न्याय-निर्णय कुछ भी नहीं। ऐसी ही असत्य व बेमेल बातें करते रहते हैं ॥१३॥

छद्मस्थ भगवान् ने मोहकर्म के उदय से इस सावद्य आचार का सेवन किया। अज्ञातावस्था और अनुपयोगावस्था की बात थी। बुद्धिमान् पुरुष ध्यान लगाकर सुनें ॥१४॥

दश स्वप्न भी भगवान् ने देखे थे और उनका पृथक्-पृथक् पाप भी उन्हें लगा था। विज्ञजनों को उसमें शंका नहीं करनी चाहिए ॥१५॥

कोई कहै भगवंत तो घर छोड्यां पछै रे,
पाप रो अंश न सेव्यो मूल रे।
जो उवे सुपनां देख्या में पाप परूपसी रे,
तो त्यां रे लेखै त्यांरी श्रद्धा में धूल रे ॥१६॥

सात प्रकारे छदमस्थ जाणिये रे,
कह्यो छै ठाणांग सूतर मांहि रे।
हिंसा लागै छै प्राणी जीवरी जी,
बले लागै मिरषा नैं अदत्त ताहि रे ॥१७॥

शब्दादिक आस्वादे रागे करी रे,
पूजा सत्कार वांछे छै मन मांय रे।
कदै असणादिक पिण सावद्य भोगवै रे,
वागरे जैसी करणी नावै ताय रे ॥१८॥

ए सातूंई सावद्य रा स्थानक कह्या रे,
छदमस्थ सेवै छै किण ही बार रे।
त्यांरो पिण प्रायश्चित यथायोग छै रे,
जाण-अजाण सेव्यांरो करै विचार रे ॥१९॥

ए सातूंई बोल न सेवै केवली रे,
छदमस्थ पिण निरंतर सेवै नांहि रे।
सेवै तो मोह कर्म उदय हुवां रे,
शंका हुवै तो जोवो सूतर मांहि रे ॥२०॥

गोसाला नैं वीर वचायो तिण दिने रे,
छदमस्थ हुंता जिण दिन भगवान रे।
मोह राग आयो भगवंत नै तिण दिनै रे,
निश्चै होणहार टलणो नहीं आसान रे ॥२१॥

छदमस्थ थकां पिण श्री भगवान ने रे,
समें समें लागता कर्म सात रे।
मोह कर्म विशेष थकी उदय हुवो रे,
कुपात्र ने वचाय लियो साख्यात रे ॥२२॥

कुछ लोग कहते हैं—भगवान् ने गृह-त्याग के पश्चात् पाप का अंशमात्र भी सेवन नहीं किया। यदि वे स्वप्न देखने में पाप की प्ररूपणा करेंगे तो उनके अभिप्रायानुसार उनकी मान्यता में ही धूलि गिरेगी ॥१६॥

ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि सात प्रकार से छद्मस्थ जाना जाता है। प्राणी विशेष की हिंसा करने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, शब्दादि में सराग आस्वाद लेने से, पूजा सत्कार की इच्छा करने से, सावद्य असनादिक भोगने से और जैसा मुख से कहा जाता है, वैसा न करने से ॥१७-१८॥

ये सात सावद्य-स्थान कहे गये हैं। छद्मस्थ कभी-कभी इनका सेवन कर बैठता है। उसका भी यथायोग्य प्रायश्चित्त-विधान है। उसमें ज्ञात-अज्ञात पापाचार के सेवन का विचार है ॥१९॥

इन सात ही बातों का सेवन केवली नहीं करते। छद्मस्थ भी निरन्तर उनका सेवन नहीं करते। मोह कर्म का उदय होने से ही सेवन करते हैं। यदि शंका हो तो सूत्र ग्रन्थों में देखना चाहिए ॥२०॥

गोशालक को जिस दिन भगवान् ने बचाया, उस दिन वे छद्मस्थ थे। उस दिन भगवान् को मोह राग आया। निश्चित भवितव्यता को टाल देना आसान नहीं है ॥२१॥

छद्मस्थ अवस्था में भगवान् के प्रति समय सात कर्म लगते थे। मोह कर्म का विशेष उदय हुआ तो उन्होंने गोशालक को साक्षात रूप से बचाया ॥२२॥

गोसालो दावानल श्री जिनधर्म नों रे,
दुष्टां मै दुष्ट घणो अतीव रे।
बले कोथलो कूड़ कपट रो तेह्नें रे,
बचायां रा फल सुणो भवि जीव रे ।।२३।।

गोसाले तेजू लेश्या मेल नैं रे,
दोय साधांरी कीधी घात रे।
ऊंधो अंवलो वोल्यो भगवान नैं रे,
वीर सूं पड़िवजियो मिथ्यात रे ।।२४।।

बले लेश्या मेली छै पापी वीर नैं रे,
त्यांरी पिण एकंत करवा घात रे।
तिण जाण्यो जमाऊं शासन मांह्रो रे,
एह्वो गोसालो दुष्ट कुपात रे ।।२५।।

तिलरो प्रश्न पूछ्यां भगवंते कह्यो रे,
सूंघणी मांहें तिल बताया सात रे।
जब वीर नें भूठा घालण पापीये रे,
तिल उखेल् नें कीधी घात रे ।।२६।।

तेजू लेश्या सीखाई गोसाला भणी रे,
तिण लेश्या सूं कीधी साधांरी घात रे।
बले लोहीठाण कियो भगवंत नें रे,
इसड़ा काम किया पापी साख्यात रे ।।२७।।

गोसाला पापी नैं वीर बचावियो रे,
तो बधियो भरत मैं घणो मिथ्यात रे।
घणा जीवां नै पापी बोईया रे,
ऊंधी श्रद्धा दिया मैं घात रे ।।२८।।

कूड़ कपट करे नें पापिये रे,
भूठोइ शासन दियो थाप रे।
अणहुंतो तीर्थंकर बाज्यो लोक मैं रे,
वीर नों शासण दियो उत्थाप रे ।।२९।।

गोशालक जिन-धर्म के लिए दावाग्नि था। वह दुष्टों में भी अति दुष्ट और कूड़-कपट का भंडार था। उसको बचाने से जो फल हुआ, ध्यान लगाकर सुनो ॥२३॥

गोशालक ने तेजोलेश्या छोड़कर दो साधुओं को मार डाला। वह भगवान् महावीर से भी उल्टा-सीधा बोलता रहा और उनके साथ मिथ्यात्व का प्रवर्तन किया ॥२४॥

फिर उसने भगवान् पर तेजोलेश्या छोड़ी और वह भी उनकी घात करने के लिए। उसने सोचा—मैं आसन जमाऊं। वह इस प्रकार का दुष्ट और कुपात्र था ॥२५॥

तिल का प्रश्न पूंछने पर भगवान् ने कहा—फली में सात तिल हैं। पर भगवान् को झूठ करने के लिए तिल वृक्ष को उखाड़ कर हिंसाचरण किया ॥२६॥

भगवान् ने गोशालक को तेजोलेश्या की विधि बतलाई। उसी तेजोलेश्या से उसने साधुओं का वध किया और स्वयं भगवान् के लोहीठाण अर्थात् रुधिर-स्राव किया। ये सारे कार्य उसने प्रत्यक्ष रूप से किये ॥२७॥

गोशालक को भगवान् ने बचाया, इससे भरतक्षेत्र में बहुत मिथ्यात्व बढ़ा। उस पापात्मा ने बहुत लोगों को विपरीत मान्यता देकर डुबोया ॥२८॥

झूठ, कपट के द्वारा उस पापी ने झूठे धर्म-शासन की स्थापना की। वीर प्रभु के शासन का विघटन किया और स्वयं तीर्थंकर न होते हुए भी तीर्थंकर कह-लाया ॥२९॥

गोसाला नैं वीर बचायो तठा पछै रे,
घणा जीवांरै हुवो विगाड़ रे।
यो पापी धाड़ायत हुवो धर्म नों रे,
इण गुण तो न कीधो मूल लिगार रे ।।३०।।

गोसालो पापीड़ो बचियां पछै रे,
तिण कीधा पापीड़ै अनेक अकाज रे।
तिण दुष्टी नैं बचायां धर्म किहां थकी रै,
विकलां नें मूल न आवै लाज रे ।।३१।।

गोसाला नैं बचायां धर्म कहै तिके रे,
गोसाला रा केड़ायत ज़ाण रे।
त्यां धर्म न जाण्यो श्री जिनराज रो रे,
यूं ही बूडे अज्ञानी कर-कर ताण रे ।।३२।।

जो धर्म होसी गोसाला नैं बचावियां रे,
तो छ ही काय बचायां होसी धर्म रे।
जो उवे जीव बचायां धर्म गिणै नहीं रे,
तो विकलांरी श्रद्धा रो निकल्यो भर्म रे ।।३३।।

गोसाला नैं वीर बचायो जिणविधे रे,
श्रावक नैं तिणविध बचावै नांहि रे।
कहै छै तिणहिज विध करै नहीं रे,
तो धूड़ छै त्यांरी श्रद्धा मांहि रे ।।३४।।

पेट दुःखे छै सो श्रावकां तणो रे,
जुदा हुवै छै जीव नैं काय रे।
साधु पधारचा छै तिण अवसरै रे,
त्यांरे हाथ फेरे तो साता थाय रे ।।३५।।

लब्धिधारी तो साधु पधारचा देखनें रे,
गृहस्थ बोल्या छै इम वाय रे।
हाथ फेरो त्यांरा पेट ऊपरै रे,
नहीं फेरो तो श्रावक जीवां जाय रे ।।३६।।

गोशालक को बचाने के बाद बहुत सारे जीवों का बिगाड़ हुआ। वह पापात्मा तो धर्म का डाकू था। उससे अच्छा तो कुछ हुआ ही नहीं ॥३०॥

बचने के बाद उस पापी ने अनेकों अकार्य किये। विवेकशून्य लोगों को जरा भी लज्जा नहीं है। उस दुष्ट आत्मा को बचाने में धर्म कैसे होगा ? ॥३१॥

गोशालक को बचाने में धर्म कहने वाले उसके वंशज हो सकते हैं। उन्होंने जिनेश्वर देव के धर्म को नहीं समझा है। अज्ञानी यों ही खींचातान में डूबते हैं ॥३२॥

यदि गोशालक को बचाने में धर्म होगा तो छः ही काया के जीवों को बचाने में धर्म होगा। यदि उन जीवों को बचाने में वे धर्म नहीं मानते तो उन विवेकशून्य लोगों की श्रद्धा का भ्रम निकल जाता है ॥३३॥

जिस विधि से महावीर स्वामी ने गोशालक को बचाया, वे उस विधि से अपने श्रावक को नहीं बचाते। जैसा कहते हैं, वैसा करते नहीं तो उनकी मान्यता में क्या खाक धरा है ॥३४॥

सौ श्रावकों का पेट दुःख रहा है। शरीर और प्राण अलग हो रहे हैं। उस समय साधु आए, वे हाथ फिराएं तो साता हो सकती है ॥३५॥

लब्धिधारी साधुओं को आए देखकर उन गृहस्थों ने कहा—हमारे पेट पर आप हाथ फिराएं नहीं तो हम श्रावक जीवों मर जाएंगे ॥३६॥

जब कहै म्हांनैं तो हाथ न फेरणो रे,
ए मरो भावे दु:खी घणा हुवो तामरे।
मरणो-जीवणो मूल न वांछे तेहनों रे,
म्हांरे गृहस्थ सूं कांइ काम रे॥३७॥

तो गोसाला दुष्टी नैं वीर बचावियो रे,
तिण मांहें कहे छै निकेवल धर्म रे।
तो श्रावक मरतां नें नहीं बचाविया रे,
त्यांरी श्रद्धा रो त्यांहिज काढ़्यो भर्म रे॥३८॥

श्रावक नैं बचायां धर्म गिणै नहीं रे,
गोसाला नैं बचायां गिणै धर्म रे।
ते विवेक विकल छै सुध-बुध बाहिरा रे,
ऊंधी श्रद्धा सूं बांधै पाप कर्म रे॥३९॥

गोसाला पापी दुष्टी रे कारणै रे,
लब्धि फोड़ी छै श्री जगनाथ रे।
तो सो श्रावक जीवां मरता देखनै रे,
थें कांई न फेरो त्यांरे हाथ रे॥४०॥

धर्म कहै गोसाला नैं बचावियां रे,
तो पोते कांइ छोड़ी धर्म री रीत रे।
सो श्रावक मरतां नैं बचावै नहीं रे,
त्यां विकलांरी विकल करै परतीत रे॥४१॥

गोसाला दुष्टी नैं वीर बचावियो रे,
तिण मांहै धर्म कहै साक्षात रे।
सो श्रावक मरतां नें नहीं बचाविया रे,
त्यां विकलांरी बिगड़ी श्रद्धा बात रे॥४२॥

श्रावक आखड़ नै पड़ मरतों हुवै रे,
जिण नैं पड़तां झेलै राखे नाहिं रे।
गोसाला नैं बचायां में कहै धर्म छै,
यो पिण अंधारो त्यांरै मांहि रे॥४३॥

तब कहते हैं, हमें तो हाथ नहीं फिराना है। चाहे वे श्रावक मरे या दुःखी हों। हम गृहस्थ का जीना या मरना कुछ भी नहीं चाहते। हमें उससे क्या काम है ? ॥३७॥

दुष्ट गोशालक को भगवान् ने बचाया, उसमें तो एकान्त धर्म कहते हैं और मरते हुए श्रावकों को नहीं बचाते। अपनी श्रद्धा का भ्रम उन्होंने अपने-आप ही प्रकट कर दिया ॥३८॥

श्रावक को बचाने में धर्म नहीं मानते और गोशालक को बचाने में धर्म मानते हैं। वे बिना सुध-बुध के अज्ञानी अपनी विपरीत श्रद्धा से पाप-कर्म का बन्धन करते हैं ॥३९॥

दुष्ट आत्मा और पापी गोशालक के लिए भगवान् महावीर ने लब्धि फोड़ी तो सौ श्रावकों को मरते देखकर भी वे हाथ क्यों नहीं फेरते ? ॥४०॥

गोशालक को बचाने में धर्म कहते हैं तो स्वयं उस धर्म की रीति को क्यों छोड़ देते हैं ? मरते हुए सौ श्रावकों को नहीं बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगों का विवेक-भ्रष्ट ही विश्वास करते हैं ॥४१॥

दुष्ट आत्मा गोशालक को महावीर प्रभु ने बचाया। कहते हैं, उसमें तो साक्षात् धर्म हुआ और मरते हुए सौ श्रावकों को नहीं बचाते। ऐसे विवेक-भ्रष्ट लोगों की श्रद्धा और बात दोनों ही बिगड़ गई ॥४२॥

श्रावक आखड़ कर गिर रहा है। उसे सहारा देकर रक्षा नहीं करते और गोशालक को बचाने में धर्म कहते हैं, यह भी उनके घट में अंधेरा है ॥४३॥

ज्ञान दर्शन नै देश चारित्र श्रावक मझे रे,
गोसालो तो एकांत अधर्मी जाण रे।
तिण नै बचायां धर्म किहां थकी रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ़ अयाण रे ॥४४॥

गोसाला नैं बचायां रो कहै धर्म छै रे,
श्रावकां नैं बचायां कहै पाप रे।
एहवो अंधारो छै विकलां तणै रे,
ऊंधी श्रद्धा री कर राखी छै थाप रे ॥४५॥

बारे वर्ष नें तेरे पख मझे रे,
छदमस्थ रह्या छै श्री भगवान रे।
तिण में एक गोसाला नैं बचावियो रे,
और किण नें न बचायो श्री वर्द्धमान रे ॥४६॥

गोसाला दुष्टी नें बचावियां रे,
जो धर्म कोई जाणै स्वाम रे।
तो दोनूंई साधु बचावत आपरा रे,
बले रात नें दिन करता ओहिज काम रे ॥४७॥

गोसाला दुष्टी नैं वीर बचावियो रे,
तिण मांहै धर्म जाणै जिनराय रे।
दोय साधु मरता नहीं राख्या आपरा रे,
यो पिण किणविध मिलसी न्याय रे ॥४८॥

अकाले जगत नें मरतो देखियो रे,
पिण आड़ा न दीधा भगवंत हाथ रे।
धर्म हुवै तो भगवंत आघो नहिं काढ़ता रे,
निश्चैई तिरण तारण जगनाथ रे ॥४९॥

अनंत चोबीसी तो आगै हुई रे,
हिवड़ां तो ऋषभादिक चौबीस रे।
त्यां तारया भवजीवां नें समझाय नै रे,
पिण मरता न राख्या श्री जगदीस रे ॥५०॥

श्रावक में ज्ञान, दर्शन और देश चारित्र होते हैं और गोशालक तो एकान्त अधर्मी था। उसे बचाने में धर्म कैसे होगा? अज्ञानी लोग इस न्याय को नहीं समझ सकते ॥४४॥

गोशालक को बचाया, इसमें धर्म कहते हैं और श्रावकों को बचाने में पाप। उन विवेक-भ्रष्ट लोगों के घट में इतना अंधेरा है। विपरीत श्रद्धा की उन्होंने स्थापना कर रखी है ॥४५॥

बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। इस बीच में केवल एक गोशालक को बचाया और किसी को नहीं बचाया ॥४६॥

दुष्ट गोशालक को बचाने में यदि भगवान् कहीं धर्म समझते तो अपने दोनों साधुओं को भी बचाते और रात-दिन बचाने का ही काम करते ॥४७॥

दुष्ट गोशालक को बचाने में यदि जिनेश्वर देव धर्म जानते तो अपने दो साधुओं को मरते हुए क्यों नहीं बचाते? यह न्याय किस प्रकार मिलेगा ॥४८॥

भगवान् जगत को अकाल-मृत्यु से मरते देखते थे, पर उन्होंने कभी उनके संरक्षण के लिए हाथ नहीं बढ़ाया। धर्म होता तो भगवान् जो कि तरणतारण प्रभु हैं, उन्हें बचाने में जरा भी देर नहीं करते ॥४९॥

अनन्त चौबीसियां तो पहले हो चुकी हैं और ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकर अब हुए हैं। उन सभी ने सांसारिक जीवों को प्रतिबोध देकर भव-समुद्र के पार किया, परन्तु उन्हें मरने से बचाने का प्रयत्न कभी नहीं किया ॥५०॥

एक गोसालो वीर बचावियो रे,
ते तो निश्चैई होणहार रे।
मोह राग आयो भगवान नें रे,
तिणरो न्याय न जाणै मूढ़ गिंवार रे ॥५१॥

संवत अठारै तेपनैं समै रे,
आसाढ़ विद इग्यारस नैं मंगलवार रे।
गोसाला कुपातर नैं ओलखायवा रे,
जोड़ कीधी छै मांढ़ा गाम मझार रे ॥५२॥

दुहा

दोय उपगार जिन-भाषिया, त्यांरो बुद्धिवंत करज्यो विचार।
तिण में एक उपगार छै मोक्षरो, बीजो संसार नों उपगार ॥१॥

उपगार करै कोई मोक्ष रो, तिणमें जिन आज्ञा दे आप।
उपगार करै संसार नों, तिहां आप रहै चुपचाप ॥२॥

उपगार करै कोई मोक्षरो, तिण मैं निश्चैई धर्म साख्यात।
उपगार करै संसार नों, तिण में धर्म नहीं तिलमात ॥३॥

दोनूं उपगार छै जुवा-जुवा, ते कठेई न खावै मेल।
पिण मिश्र पाखंड्यां परूप नै, कर दियो भेल संभेल ॥४॥

कुण कुण उपगार छै मोक्षरो, कुण कुण संसार ना उपगार।
त्यांरा भाव भेद परगट करूं, ते सुणज्यो विस्तार ॥५॥

ढाल : ११

[राग—आ अनुकम्पा जिण आगना में]

ज्ञान दर्शन चारित्र नें बले तप,
यां च्यारां रो कोई करे उपगार।
तिण नैं निश्चैई निर्जरा धर्म कह्यो जिन,
बले श्री जिन आज्ञा छै श्रीकार।
यो तो उपगार निश्चैई मुगतरो ॥१॥

एक गोशालक को भगवान् महावीर ने बचाया, यह तो निश्चित होनहार थी। भगवान् को राग-भाव आया था। इस न्याय को मूर्ख और गंवार नहीं समझ सकते हैं ॥५१॥

संवत् अठारहसौ तिरेपन, आषाढ़ कृष्ण एकादशी मंगलवार के दिन माढ़ा नामक गांव में कुपात्र गोशालक की पहचान के लिए यह रचना की है ॥५२॥

दोहा

दो प्रकार के उपकार श्री जिनेश्वर देव ने कहे हैं। बुद्धिमान् लोगों को इसका विचार करना चाहिए। उनमें एक प्रकार मोक्ष सम्बन्धी है और दूसरा संसार सम्बन्धी ॥१॥

कोई मोक्ष सम्बन्धी उपका र करता है, वहांजिनेश्वर देव स्वयं आज्ञा देते हैं। यदि कोई संसार का उपकार करता है तो वे मौन रहते हैं ॥२॥

मोक्ष का कोई उपकार करता है, उसे निश्चय ही धर्म होता है। संसार का जो उपकार करता है, उसमें तिलमात्र भी धर्म नहीं होता ॥३॥

दोनों उपकार पृथक्-पृथक् हैं, ये कहीं भी मेल नहीं खाते, किन्तु पाखण्डी लोगों ने मिश्र-धर्म कहकर दोनों उपकारों का भेल-सम्भेल कर दिया है ॥४॥

कौन से उपकार मोक्ष के हैं और कौन से संसार के, उनके इस स्वरूप और भेदों का विस्तार सहित वर्णन करता हूं; उसे सुनो ॥५॥

गीति : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों के रूप में कोई उपकार करता है, उसे जिनेश्वर देव ने निश्चित ही निर्जरा धर्म कहा है और उसमें जिनेश्वर देव की शुभ आज्ञा है।…वह तो निश्चित ही मोक्ष का उपकार है ॥१॥

ज्ञान दर्शन चारित्र नै तप,
यां च्यारां विना कोई करे उपगार।
तिण में धर्म नहीं जिन भाख्यो,
बले जिन आज्ञा पिण नहीं छै लिगार।
यो तो उपगार संसार तणो छै ॥२॥

संसार तणो उपगार करे छै,
तिण रै निश्चैई संसार वधतो जाणो।
मोक्ष तणो उपगार करे छै,
तिणरे निश्चैई नेड़ी दीसै निरवाणो ॥३॥

कोइ दलद्री जीव नें धनवंत कर दे,
नव जातिरो परिग्रहो देइ भरपूर।
बले विविध प्रकारे साता उपजावै,
उणरो जावक दालिद्र करदे दूर ॥४॥

छ काय रा शस्त्र जीव अव्रती,
त्यांरी साता पूछै नैं साता उपजावै।
त्यांरी करै बियावच विविध प्रकारे,
तिण नैं तीर्थंकर देव तो नहीं सरावै ॥५॥

गृहस्थरी साता पूछ्यां नै वियावच कीयां,
साधु तो तिण सूं होय जावै अणाचारी।
साता पूछ्यां नैं वियावच कीयां में,
जिन आज्ञा पिण नहीं छै लिगारी ॥६॥

साता पूछ्यां तो साधु नैं पाप लागै छै,
तो साता कीधां में धर्म किहां थी होवै।
पिण मूढ़ मिथ्याती विवेक रा विकल,
ते श्री जिन आज्ञा साह्मों न जोवै ॥७॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के विना कोई भी उपकार करता है, उसमें निश्चित ही न तो धर्म है और न जिनेश्वर देव की आज्ञा ही।...यह उपकार संसार का है ।।२।।

सांसारिक उपकार करने वाले के निश्चित ही संसार-वृद्धि होती है। जो मोक्ष का उपकार करने वाला है, उसके निश्चित ही मोक्ष निकट होता है ।।३।।

किसी दरिद्र व्यक्ति को सोना, चांदी आदि नव प्रकार का परिग्रह देकर उसकी दरिद्रता दूर कर दी और उसे विविध प्रकार से सुख दिया, यह सांसारिक उपकार है ।।४।।

अव्रती जीव षट्कायिक जीवों के शस्त्र होते हैं। उनका कुशल क्षेम पूछा जाता है। उनकी सेवा विविध प्रकार से की जाती है। उसका तीर्थंकर देव तो अनुमोदन नहीं करते ।।५।।

गृहस्थ का कुशल-क्षेम पूछने में और उसकी सेवा करने में साधु तो अनाचारी हो जाते हैं। उनकी साता पूछने में और सेवा करने में जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नहीं होती ।।६।।

कुशल-क्षेम पूछने में साधु को यदि पाप लगता है तो उसका कुशल-क्षेम करने में धर्म कहाँ से होगा ? किन्तु मूर्ख, मिथ्यादृष्टि और विवेक-भ्रष्ट लोग जिनेश्वर देव की आज्ञा की ओर नहीं देखते ।।७।।

कोइ मरता जीव नें जीवां बचावै,
झाड़ा-झपटा करै ओषध देई ताम।
वले अनेक उपाय करै नें तिणनें,
मरतो राख्यो साजो कियो तमाम ॥८॥

कोइ मरता जीव नै सूंस करावै,
च्यांरू शरणा देई नै करावै संथारो।
ज्ञान ध्यान मांहे परिणाम चढ़ावै,
न्यातीला सूं देवै मोह उतारो ॥९॥

श्रावक नों खाणो पीणो छै सर्व अव्रत में,
ते सेवै तो सावद्य जोग व्यापारो।
वले नव ही जातरो परिग्रहो अव्रत में,
तिणनें सेवाड़े छै कोइ बारंबारो ॥१०॥

श्रावक नों खाणो पीणो छै सर्व अव्रत में,
तिणरो त्याग करावै चढ़ावै वैरागो।
वले नव ही जात रो परिग्रहो अव्रत में,
ते छोड़े छोड़ावै त्यांरे सिरभागो ॥११॥

कोई लाय सूं वलतां नैं काढ़ बचायो,
वले कूवै पड़तां नैं झाल बचायो।
तलाव में डूबतां नें बारे काढ़ै,
वले ऊंचाथी पड़तां नैं झाले लियो तायो ॥१२॥

जन्म-मरण री लाय थी वारै काढ़ै,
भव कूवा मांहि थी काढ़ै वारै।
नरकादिक नीच गति माहें पडतां नैं राखै,
संसार समुद्र थी वारै काढ़ उधारे ॥१३॥

किण रै लाय लागी घर वलै छै,
तिण में नाना मोटा जीव वलै लाय मांहि।
कोइ लाय वुझाय त्यांनें वारै काढ़ै,
घणा रै साता कीधी लाय वुझाई ॥१४॥

कोई किसी मरते जीव को मंत्र या औषधि के उपचार से या अन्य अनेक उपायों से बचाता है, स्वस्थ करता है तो वह सांसारिक उपकार ही कहा जाता है ॥८॥

कोई मरते जीव को किसी प्रकार का त्याग कराते हैं अथवा चारों शरण दिलाकर आमरण अनशन करा देते हैं, पारिवारिक जनों से मोह उतारकर ज्ञान-ध्यान में उसे अनुरक्त करते हैं। यह उपकार निश्चित ही मोक्ष का है ॥९॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत में है। उसका यदि सेवन करते हैं तो वह सावद्य योग का व्यापार है और नव ही प्रकार का परिग्रह अव्रत में है। उसका कोई बार-बार सेवन कराते हैं। यह उपकार निश्चित ही सांसारिक है ॥१०॥

श्रावक का खाना-पीना सब अव्रत में है। वैराग्य चढ़ाकर यदि कोई उसका त्याग दिला देता है और नौ ही प्रकार का परिग्रह जो अव्रत में है उसको छोड़ता है या छुड़ाता है, वह भाग्यशाली है ॥११॥

कोई अग्नि में गिरते मनुष्य को बाहर काढ़ लेता है, कोई कुएं में पड़ते हुए व्यक्ति को संभाल कर बचा लेता है, तालाब में डूबने वाले व्यक्ति को बाहर निकाल लेता है और ऊपर से गिरने वाले व्यक्ति को झालकर बचा लेता है; ये उपकार निश्चित ही सांसारिक हैं ॥१२॥

जन्म-मरण की अग्नि से और संसारकूप से जो व्यक्ति को बाहर निकाल लेते हैं, नरक आदि नीच गति में पड़ने से उसे बचा लेते हैं और संसार-समुद्र से उसका उद्धार कर देते हैं। वे उपकार निश्चित ही मोक्ष के हैं ॥१३॥

किसी व्यक्ति के घर में आग लगी है, वह जल रहा है। छोटे-बड़े जीव जल रहे हैं। किसी ने अग्नि बुझाकर उन जीवों को बाहर निकाल लिया। बहुत सारे जीवों को सुखी कर दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥१४॥

किणरै तृष्णा लाय लागी घट भितर,
ज्ञानादिक गुण बलै तिण मांय।
उपदेश देइ तिणरी लाय बुझावै,
रूम रूम साता दीधी वपराय ॥१५॥

कोई टाबर पालै नैं मोटो करे छै,
आछी आछी वस्तु तिणनैं खवाय।
बले मोटे मंडाणे करी परणावै,
धन-माल देवै कमाय-कमाय ॥१६॥

कोइ बेटा नैं रूड़ी रीत समझाये,
धन-माल सगलोई देवै छोड़ाय।
काम भोग स्त्रियादिक खावो नें पीवो,
भली भांत सूं त्याग करावै ताय ॥१७॥

मात-पितारी सेवा करै दिन रात,
बले मन मान्यां भोजन त्यांनें खवावै।
बले कावड़ कांधे लियां फिरे त्यांरी,
बले बेहुं टकांरो स्नान करावै ॥१८॥

कोई मात-पिता नें रूड़ी रीते,
भिन भिन कर नें धर्म सुणावै।
ज्ञान दर्शन चारित्र त्यांनें पमावै,
काम भोग शब्दादिक सर्व छोड़ावै ॥१९॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत में,
तिण नै मन मानें ज्यूं खवावै पीवावै।
बले मांगे जिको तिण नै धन-धान आपै,
विविध पणै तिण नें साता उपजावै ॥२०॥

जिणरो खाणो पीणो गहणो अव्रत मैं छै,
तिणनें उपदेश देई नैं परहो छोड़ावै।
तिणरै ज्ञानादिक गुण घट में घालै,
तिणरी तृष्णा लाय नैं परी मिटावै ॥२१॥

किसी व्यक्ति के घट में तृष्णा की लाय लगी है और ज्ञान, दर्शन आदि गुण उसमें जल रहे हैं। उपदेश देकर उसके घट की अग्नि को किसी ने बुझा दिया। उसके रोम-रोम में सुख ला दिया। यह उपकार मोक्ष का है ॥१५॥

कोई व्यक्ति लड़के को पाल-पोषकर खिला-पिलाकर मोटा करता है और बड़े आडम्बर से उसका विवाह करता है। कमा-कमाकर धन आदि देता है। यह सांसारिक उपकार है ॥१६॥

कोई व्यक्ति पुत्र को प्रतिबोध देकर धन-माल छुड़ा देता है। स्त्री, काम-भोग, खाने-पीने आदि का भली प्रकार से त्याग करा देता है। यह उपकार मोक्ष-सम्बन्धी है ॥१७॥

कोई दिन-रात माता-पिता की सेवा करता है और उन्हें मन-माने भोजन खिलाता है। कावड़ में बिठाकर कंधे पर लिये फिरता है और दोनों समय उन्हें स्नान कराता है। यह उपकार सांसारिक है ॥१८॥

कोई व्यक्ति माता-पिता को भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म सुनाता है। उन्हें ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ कराता है। काम-भोग और शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों को छुड़ाता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥१९॥

जिसका खाना-पीना, आभूषण आदि अव्रत में है, उसे मन चाहे ढंग से कोई व्यक्ति खिलाता-पिलाता है और जैसे वह चाहता है, उसे धन-धान्य देता है और विविध प्रकार से साता उपजाता है। यह उपकार सांसारिक है ॥२०॥

कोई व्यक्ति जिसका खाना-पीना, आभूषण आदि अव्रत में है, उसे उपदेश देकर उनका भोगोपभोग छुड़ा देता है और उसके घट में ज्ञानादि गुण डाल देता है, उसकी तृष्णा अग्नि को मिटा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२१॥

किणरा बाला काढ़ै किणरा कीड़ा काढ़ै,
बले लटां जूंवांदिक काढ़ै छै ताहि।
कानसिलाया बुगादिक काढ़ै,
घणी साता उपजावै शरीर रै मांहि ॥२२॥

किणरै बाला कीड़ा नै लटां जूंवांदिक,
शरीर में उपना जीव अनेक।
तिण नैं बारै काढ़ण रा त्याग करावै,
कहै शरीर बारै काढ़णो नहीं एक ॥२३॥

गृहस्थ भूलो उज्जड़ वन में,
अटवी नै बले उजाड़ जावै।
तिण नें मारग बताय नैं घरे पोंहचावै,
बले थाको हुवै तो खांधे बेसावै ॥२४॥
संसार रूपणी अटवी में भूला नै,
ज्ञानादिक शुद्ध मारग बतावै।
सावद्य भार नै अलगो मेलाए,
सुखे-सुखे शिवपुर में पोंहचावै ॥२५॥

नाग नागणी हुंता बलता लकड़ा में,
त्यांनैं पारसनाथजी काढ़्या कहै छै बार।
अग्नी में बलता नै राख्या जीवता,
पाणी नें अग्न्यादिक रा जीवां नैं मार ॥२६॥

पारसनाथजी घर छोड़ काउसग्ग कीधो जब,
कमठ उपसर्ग कर वर्षायो पाणी।
जब पद्मावती हेठे कियो सिंघासण,
धरणेंद्र छत्र कियो सिर आणी ॥२७॥

जिण नाग नागणी नैं नवकार सुणाए,
च्यांरू सरणा नै सूंस दराया जाणी।
तिणरै ज्ञान परिणामा सूं मरनै हुवा,
तिण धरणेंद्र नें पद्मावती राणी ॥२८॥

कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के शरीर से नहरुआ, कीड़ा, लट, जूं, कनखजूरा, वग आदि काढ़ देता है। और भी वहुत प्रकार की साता कर देता है। यह उपकार सांसारिक है ॥२२॥

किसी व्यक्ति के शरीर में लट, जूं आदि अनेक जीव उत्पन्न हो गये। किसी व्यक्ति ने एक भी जीव को शरीर से बाहर निकाल देने का उसे त्याग कराया। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२३॥

कोई गृहस्थ भूलकर वन में उजाड़ पड़ गया और उजाड़ ही चला जा रहा है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे मार्ग वताकर, थका हो तो कंधे पर विठाकर उसके घर पर पहुंचा देता है। यह उपकार सांसारिक है ॥२४॥

संसार रूप अटवी में भूले हुए किसी व्यक्ति को कोई दूसरा व्यक्ति ज्ञान, दर्शन आदि का शुद्ध मार्ग वतला देता है, उसके पाप रूप भार को अलग रखवा कर उसे सुख-शान्तिपूर्वक मोक्ष में पहुंचा देता है। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२५॥

जलते हुए लक्कड़ में जो नाग-नागिनी थे, उन दोनों को पार्श्वकुमार ने वाहर निकाला। अग्नि में जलते हुओं को पानी और अग्नि के जीवों की हिंसा करके भी जीवित रखा। यह उपकार सांसारिक है ॥२६॥

पार्श्वकुमार ने संयम लेकर जव ध्यान किया, तव कमठ देव ने उन पर पानी वरसा कर उपसर्ग किया। उस समय पद्मावती ने भगवान् पार्श्वनाथ के नीचे सिंहासन वनाया और धरणेन्द्र ने उनके सिर पर छत्र किया। यह उपकार सांसारिक है ॥२७॥

नाग-नागिनी को नमस्कार-मंत्र सुनाकर चारों शरण दिलाते हुए जो त्याग-प्रत्याख्यान कराये, उन शुभ-परिणामों से मरकर वे नाग-नागिनी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। यह उपकार आध्यात्मिक है ॥२८॥

सुग्रीव सूं उपगार कियो राम नै लिछमण,
जब सुग्रीव हुवो त्यांरो सखाई।
सीतारी खबर आण रावण नें मरायो,
तिण पाछो उपगार कियो भीड़ आई ॥२९॥

कोइ दुष्टी जीव जूं नै मारतो थो,
तिण नैं वरज नें जूं नै वचाई।
ते जूं रो जीव मनुष्य हुवो जब,
इणरो कजियो इण पिण दियो मिटाई ॥३०॥

धणीरा मूंहढ़ा आगै सेवग मरनैं,
धणी नैं कुशले खेमे जीवतो काढ़ै।
जब धणी तूठो थको रिजक रोटी दे,
इणरो इहलोक रो काम सिराडे चाढ़ै ॥३१॥

दोय इंद्र आया कोणक री भीड़ी,
कोणक रै साता कर दीधी ताम।
एक कोड़ असी लाख मनुष्यां ने मारै,
कोणक रो सुधार्यो काम ॥३२॥

एकीका जीव नैं अनंती बार बचाया,
त्यां पिण इणनें अनंती बार बचायो।
आमां साहमां उपगार संसार नां,
कीधा त्यां सूं जीवरी गरज सरी नहीं कायो ॥३३॥

हांती नेंहतादिक दे आमां साहमां,
लाडू खोपरादिक दे आमां साहमां।
अथवा कोइ क आधा पिण देवै,
इत्यादिक अनेक संसार नां कामां ॥३४॥

सुग्रीव पर राम और लक्ष्मण ने उपकार किया और सुग्रीव उनका सहयोगी बना। उसने सीता की खबर मंगाकर रावण को मरवाया। इस प्रकार राम और लक्ष्मण की दुविधा में काम आकर उसने प्रत्युपकार किया। यह उपकार सांसारिक है ॥२६॥

कोई दुष्ट जीव जूं को मार रहा था। उसे समझा कर जूं को किसी व्यक्ति ने बचाया। उस जूं का जीव जब मनुष्य हुआ तो उस उपकार करने वाले व्यक्ति का कोई झगड़ा उसने मिटा दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥३०॥

सेवक स्वामी के सामने मर जाते हैं और अपने स्वामी को सकुशल बचा लेते हैं। तब स्वामी तुष्ट होकर उसे पट्टा-परगना देता है और उसका लौकिक कार्य सिद्ध कर देता है। यह उपकार सांसारिक है ॥३१॥

दो इन्द्र कोणिक के सहयोग में आए और उसे सुखी कर दिया। एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यों को मार कर कोणिक का काम सुधार दिया। यह उपकार सांसारिक है ॥३२॥

किसी एक जीव ने दूसरे एक जीव को अनन्त बार बचाया है और उस जीव ने भी उसे अनन्त बार बचाया है। ये सांसारिक उपकार परस्पर किये, पर इनसे जीव का कार्य सिद्ध नहीं हुआ ॥३३॥

हांती [परोसा], न्योते परस्पर दिये जाते हैं। लड्डू, खोपरे परस्पर दिये जाते हैं। अथवा कोई अपनी ओर से ही देते हैं। इस प्रकार संसार के अनेक काम हैं, पर ये सब सांसारिक उपकार हैं ॥३४॥

संसार नों उपगार करे जिण सेती,
कदा ते पिण पाछो करे उपगार।
एतो उपगार एकीका जीवां सूं,
कीधा छै अनंत अनंती बार।
या श्रद्धा श्री जिनवर भाषी ॥३५॥

संसार नां उपगार सब ही फीका,
ते तो थोड़ा मांहे बिले होय जावै।
संसार नां उपगार फीका छै त्यां सूं,
मुगति तणा सुख कोय न पावै ॥३६॥

संसार तणा उपगार कियां मैं,
केइ मूढ़ मिथ्याती धर्म बतावै।
ते श्रीजिन मारग ओलखियां बिन,
मन मानें ज्यूं गालां रागोला चलावै ॥३७॥

जितरा उपगार संसार तणा छै,
जे जे करै ते मोह बस जाणो।
साधु तो त्यांनें कदे न सरावै,
संसारी जीव तिणरा करसी बखाणो ॥३८॥

संसार तणा उपगार कियां मैं,
जिन धर्म रो अंश नहीं छै लिगार।
संसार तणा उपगार कियां मैं,
धर्म कहै ते तो मूढ़ गिवार ॥३९॥

किण ही जीव नैं खप करनैं बचायो,
किण ही जीव उपजाय नैं कीधो मोटो।
जो धर्म होसी तो दोयां नें धर्म होसी,
तोटो होसी तो दोयां नै तोटो ॥४०॥

सांसारिक उपकार जिस जीव के प्रति किया जाता है, कदाचित् वह भी प्रत्युपकार करता है। ये पारस्परिक उपकार तो एक-एक जीव से अनन्त बार किये जा चुके हैं। यह श्रद्धा श्री जिनेश्वर देव ने कही है ॥३५॥

संसार के उपकार सभी फीके होते हैं। ये तो थोड़े में ही नष्ट हो जाते हैं। उन नितान्त फीके उपकारों से कोई मुक्ति को नहीं पा सकता ॥३६॥

सांसारिक उपकार करने में कोई मूर्ख मिथ्यादृष्टि धर्म वतलाते हैं। वे जिनेश्वर देव के धर्म को समझे बिना मनचाही गप्पें हांकते हैं ॥३७॥

जितने भी सांसारिक उपकार हैं, वे सब मोहवश किए जाते हैं। साधु तो उनकी कभी सराहना नहीं करते। सांसारिक जीव ही उनके बखान करते हैं ॥३८॥

सांसारिक उपकार करने में जैन धर्म का अंश भी नहीं है। सांसारिक उपकार करने में जो धर्म कहते हैं, वे मूढ़ और गंवार हैं ॥३९॥

किसी ने किसी जीव को प्रयत्न करके वचाया और किसी जीव ने किसी जीव को पैदा करके मोटा किया। यदि धर्म है तो दोनों में है और यदि नुकसान है तो दोनों ही के है ॥४०॥

बचावण वाला विचे तो उपजावण वालो,
सांप्रत दीसै उपगारी मोटो।
यां रो निरणो कियां विनधर्म कहै छै,
त्यांरो तो मत निकेवल खोटो ॥४१॥

बचावण वालो नें उपजावण वालो,
ए तो दोनूं संसार तणाउपगारी।
एहवा उपगार करै आहमां साहमां,
तिण में केवली रो धर्म नहीं छै लिगारी ॥४२॥

जीव नें जीवां बचावै तिण सूं,
बंध जावै तिणरे राग-सनेह।
जो परभव में ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सूं नेह ॥४३॥

जीव नें जीवां मारे छै तिण सूं,
बंध जाय तिण सूं द्वेष विशेष।
जो परभव में ऊ आय मिले तो,
देखत पाण जागै तिण सूं द्वेष ॥४४॥

मित्री सूं मित्री पणो चलियो जावै,
वैरी सूं वैरी पणो चलियो जावै।
ए तो राग द्वेष कर्मां रा चाला छै,
श्री जिन धर्म मांहे नहीं आवै ॥४५॥

कोई अनुकम्पा आणी घर मंडावै,
कोइ मंडता घर नैं देवै भंगाय।
यो प्रत्यक्ष राग नैं द्वेष उघाड़ो,
ते आगै लगा दोनूं चलिया जाय ॥४६॥

कोई तो पेलारा काम नै भोग वधारै,
कोइ काम भोगनीं देवै अंतराय।
यो पिण राग नै द्वेष उघाड़ो,
ते आगै लगा दोनूं चलिया जाय ॥४७॥

बचाने वाले की अपेक्षा तो पैदा करने वाला प्रत्यक्ष ही बड़ा उपकारी लगता है। इन बातों का निर्णय किये बिना ही धर्म कहा जाता है, उनका अभिमत तो निकेवल बुरा है ॥४१॥

बचाने वाला और पैदा करने वाला; ये दोनों तो संसार के उपकारी हैं। ऐसे जो उपकार-प्रत्युपकार होते हैं, उनमें जरा भी केवली-प्ररूपित धर्म नहीं है ॥४२॥

जीव को जीव बचाता है तो उससे उसका राग-बन्धन हो जाता है। वह जीव यदि परलोक में कहीं मिल जाता है तो उसे देखते ही स्नेह जागृत होता है ॥४३॥

जीव को जीव मारता है, उससे उसके प्रति द्वेष का बन्धन हो जाता है। परलोक में यदि वह आ मिलता है तो देखते ही उसके प्रति द्वेष जागृत हो जाता है ॥४४॥

मित्र से मित्रता और शत्रु से शत्रुता भवान्तरों में भी चलती जाती है। यह राग-द्वेष रूप कर्म प्रपञ्च जिनेश्वर देव के धर्म में नहीं आता ॥४५॥

कोइ व्यक्ति अनुकम्पा करके किसी का घर मंडाता है अर्थात् विवाह करा देता है और कोई किसी के बनते घर को बिखेर देता है। यह तो प्रत्यक्ष ही राग और द्वेप है, जो आगे तक चलते जाते हैं ॥४६॥

कोई किसी के काम-भोग की वृद्धि करता है और कोई किसी के काम-भोग में अन्तराय दे देता है। यह भी स्पष्ट राग और द्वेप है जो आगे तक चलते जाते हैं ॥४७॥

कोइ पेला रो धन गमियो वतावै,
बले स्त्रियादिक पिण गमिया वतावै।
कोइ लाभ नैं तोटो लोकां नैं वतावै,
तिण सूं आगै लगो राग चलियो जावै ॥४८॥

कोइ वेदगरो कर कर नें लोकां रो,
रोग गमाय नैं जीवां बचावै।
यो उपगार लोकां सूं कीधां,
आगै लगो राग चलियो जावै ॥४९॥

कहि कहि नैं कितरो एक कहूं,
संसार तणा उपगार अनेक।
ज्ञान दर्शन चारित्र नें तप बिना,
मोक्ष तणो उपगार नहीं छै एक ॥५०॥

संवर ना भेद बीस कह्या जिन,
निर्जरा तणा भेद कह्या छै बार।
ए बतीसूंई बोल उपगार मुगतिरा,
और मोक्ष रो उपगार नहीं छै लिगार ॥५१॥

संसार नें मोक्ष तणा उपगार,
समदिष्टी हुवै ते न्यारा न्यारा जाणै।
पिण मिथ्याती नैं खबर पड़े नहीं सूधी,
तिण सूं मोह कर्म बस ऊंधी ताणै ॥५२॥

संसार नै मोक्ष रो मारग ओलखावण,
जोड़ कीधी खेरवा शहर मझार।
संवत अठारै नें वर्ष चोपनै,
आसोज सुद बीज नें शुक्रवार ॥५३॥

दुहा

चोवीसमां जिनवर हुवा, महावीर विख्यात।
त्यांरी पहली वाणी निर्फल गई,ते हुवो अछेरो आश्चर्य बात ॥१॥

कोई किसी का खोया हुआ धन और स्त्री बता देते हैं। कोई लोगों को लाभ व नुकसान की बात बता देता है। यह राग भाव भी आगे तक चलता जाता है ॥४८॥

कोई व्यक्ति वैद्यवृत्ति कर रोग गमाता है और उन्हें मरने से बचाता है। यह उपकार भी लोगों के साथ करने से तत्सम्बन्धी राग-भाव आगे तक चलता जाता है ॥४९॥

संसार के अनेकों उपकार हैं। कितनों का बखान कर सकता हूं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के बिना मोक्ष का उपकार एक भी नहीं है ॥५०॥

जिनेश्वर देव ने संवर के बीस भेद कहे हैं और निर्जरा के बारह भेद। ये बत्तीस भेद मोक्ष-सम्बन्धी उपकार के हैं और कोई भी मोक्ष का उपकार नहीं है ॥५१॥

जो सम्यक्दृष्टि होते हैं, वे संसार और मोक्ष के उपकार को पृथक्-पृथक् समझ लेते हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि को उसका सम्यक् ज्ञान नहीं होता। इसलिए मोहकर्मवश वह उल्टी खींचातान करता है ॥५२॥

संवत् अठारहसौचौवन, आश्विन शुक्ल द्वितीया, शुक्रवार के दिन संसार और मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए खेरवा शहर में यह रचना की है ॥५३॥

दोहा

चौवीसवें तीर्थंकर विश्वविख्यात भगवान् महावीर थे। उनकी पहली देशना निष्फल गई। यह एक अछेरा (आश्चर्य) हुआ ॥१॥

जंभीक ग्राम नें बाहिरे, स्याम नाम कर्षणी रै खेत।
तिहां साल नामा वृक्ष थो, गहर गंभीर पान समेत ॥२॥

तिण साल वृक्ष हेठे आविया, भगवंत श्री वर्द्धमान।
वेसाख सुदि दशमी दिने, उपनो केवल ज्ञान ॥३॥

केवल महोछव करवा भणी, तिहां देवता आया अनेक।
पिण मनुष्यां नें ठीक पड़ी नहीं, तिण सूं मनुष्य न आयो एक ॥४॥

देवतां नैं वाणी वागरी, थित साचववा काम।
कोई साधु श्रावक हुवो नहीं, तिण सूं वाणी निर्फल गई ताम ॥५॥

जो धन थकी धर्म नीपजै, तो देवता पिण धर्म करंत।
वीर वाणी सफली करे, मन मांहे पिण हर्ष धरंत ॥६॥

व्रत पचखाण न हुवै देवता थकी, धन सूं पिण धर्म न थाय।
तिण सूं वीर वाणी निर्फल गई, तिणरो न्याय सुणो चितल्याय ॥७॥

ढाल : १२

[राग—जीव मोह अनुकम्पा न आणिये]

जिनधर्म हुवै सोनईया दियां,
तो देवता देता हाथो हाथ जी।
पूरत मनोरथ मन तणा,
वीर वाणी निर्फल न गमात जी।
भवि करज्यो परख जिनधर्म री ॥१॥

रत्न हीरा नैं माणक पना,
मन मानें ज्यूं देवता देत जी।
वीर वाणी सफली करे,
देवता पिण लाहो लेत जी ॥२॥

धन दियां हुवै धर्म जिन भापियो,
देवता दान दे दग चाल जी।
यूं कियां वीर वांणी सफल हुवै,
तो अछेरो नहीं हुवै तिण कालजी ॥३॥

जंभिक ग्राम के वाहर साम नामक किसान के खेत में एक फल-पत्रों-सहित सघन शाल वृक्ष था ॥२॥

उस शाल वृक्ष के नीचे भगवान् महावीर आये। वहां वैशाख शुक्ला दसमी के दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥३॥

केवल महोत्सव करने के लिए वहां अनेकों देव आये, परन्तु मनुष्यों को पता नहीं चला, इसलिए एक भी मनुष्य वहां नहीं पहुंचा ॥४॥

केवल रीति निभाने के लिए देवों के सम्मुख भगवान् ने देशना दी। कोई भी व्यक्ति साधु या श्रावक नहीं बना, इसलिए उनकी वाणी निष्फल गई ॥५॥

यदि धन से धर्म होता तो देवता भी कर लेते। भगवान् की वाणी को ही सफल कर देते और अपने मन में भी हर्षान्वित होते ॥६॥

देवता से व्रत या प्रत्याख्यान नहीं होता। इसी प्रकार धन से भी धर्म नहीं होता। इससे उनकी वाणी निष्फल गई। इसका न्याय मन लगाकर सुने ॥७॥

गीति : १२

स्वर्ण मुद्राएं देने से यदि धर्म होता तो देवता उसी समय करते। अपने मन के मनोरथ भी पूरते और वाणी को भी निष्फल नहीं गमाते। ...भव्य लोगों! जैन धर्म की परीक्षा करो ॥१॥

हीरा, माणिक, पन्ना आदि रत्न देवता मन चाहेरूप से देते और भगवान् की वाणी को सफल कर अपने-आपको धन्य मानते ॥२॥

धन देने से यदि धर्म होता तो देवता खुले हाथों धन देते। ऐसा करने से वाणी सफल होती तो उस समय भगवान् की वाणी के असफल होने का अछेरा (आश्चर्य) नहीं होता ॥३॥

धन धानादिक लोकां नैं दियां,
ए तो निश्चैई सावद्य दान जी।
तिण में धर्म नहीं जिनराज रो,
ते, भाष्यो छै श्री भगवान जी ॥४॥

जो जीव बचायां जिन धर्म हुवै,
यो तो देवता रे आसान जी।
अनंता जीवां नें बचाय नें,
वाणी सफल करता देव आण जी ॥५॥

असंख्याता समदिष्टी देवता,
एकीको बचावत अनंत जी।
जो धर्म हुवै तो आघो न काढता,
वीर री वाणी सफल करंत जी ॥६॥

साधु श्रावक रो धर्म छै बरत में,
जीव हणवा रा करै पचखाण जी।
ए धर्म देवता थी हुवै नहीं,
तिण सूं निर्फल गई वीर-वाण जी ॥७॥

जीवां नें जीवां बचावियां हुवै,
संसार तणो उपगार जी।
यूं तो सफल न हुवै वाणी वीरनी,
धर्म रो नहीं अंश लिगार जी ॥८॥

असंजती नैं जीवां बचावियां,
बले असंजती नें दियां दान जी।
इम कियां वीर वाणी सफल हुवै,
ओ तो देवता रे पिण आसान जी ॥९॥

कुपात्र जीवां नैं बचावियां,
कुपात्र नैं दीधां दान जी।
यो सावद्य किरतब संसार नो,
भाख्यो श्री भगवान जी ॥१०॥

धन-धान्य आदि लोगों को जो दिया जाता है, वह तो निश्चित ही सावद्य दान है। इसमें जिनेश्वर देव का धर्म नहीं है। यह भगवान् ने स्वयं कहा है ॥४॥

यदि जीव बचाने में भी धर्म होता तो वह देवताओं के लिए आसान बात थी। अनन्त जीवों को बचाकर भगवान् की वाणी सफल करते ॥५॥

असंख्य समदृष्टि देव हैं। एक-एक अनन्त जीवों को बचा देता। यदि उसमें धर्म होता तो भगवान् की वाणी सफल करने में जरा भी देर नहीं करते ॥६॥

साधु और श्रावक का धर्म व्रत में है। वे जीव-हिंसा करने का त्याग करते हैं। यह धर्म देवता से नहीं होता, इसलिए भगवान् की वाणी निष्फल गई ॥७॥

जीवों को जीवित रखने में सांसारिक उपकार होता है, इससे भगवान् की वाणी सफल नहीं होती। इसमें धर्म का जरा भी अंश नहीं ॥८॥

असंयति को जीवित रखने में और असंयति को दान देने में यदि भगवान् की वाणी सफल होती तो देवों के लिए यह बहुत ही आसान काम था ॥९॥

कुपात्र जीवों को बचाना और कुपात्र को दान देना, यह संसार का सावद्य कर्तव्य है; ऐसा भगवान् ने कहा है ॥१०॥

उत्तराध्येन अठावीस में कह्यो,
मोक्ष नां मारग भाख्या च्यार जी।
बाकी सर्व काम संसार नां,
सांवद्य जोग व्यापार जी ॥११॥

जो धर्म हुवै सावद्य दान में,
असंजती नें बचायां हुवै धर्म जी।
तो निश्चैई समदिष्टी देवता,
यो धर्म करे काटै कर्म जी ॥१२॥

कर्म कटै इण सावद्य धर्म सूं,
एह्वा सावद्य काम अनेक जी।
ते तो थोड़ा सा परगट करूं,
ते सुणज्यो आण विवेक जी ॥१३॥

मच्छगलागल लग रही,
सारा द्वीप समुद्रां मांय जी।
मोटो मच्छ छोटा नें भखे,
उणसूं मोटो उणनें ई खाय जी ॥१४॥

जो उद्यम करे एक देवता,
तो एक दिन में बचावै अनेक जी।
धर्म हुवै तो आघो काढ़ै नहीं,
यों तो छै देवता में विवेक जी ॥१५॥

जीव बचायां अभय दान हुवै,
तो अभय दान घणा नैं देत जी।
धर्म जाणै जीव बचावियां,
देव भव में पिण लाहो लेत जी ॥१६॥

मछला बचावै एक दिन मभ्कें,
लाखां कोड़ाई गिणिया न जाय जी।
इण में धर्म हुवै जिन भाषियो,
तो देवता देवै मछला छुड़ाय जी ॥१७॥

उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्ष के चार मार्ग कहे हैं। बाकी सब काम संसार के हैं और उनमें सावद्य योग का व्यापार है ॥११॥

यदि सावद्य दान में और असंयति को बचाने में धर्म होता तो निश्चित ही समदृष्टि देवता उस धर्म का अनुष्ठान कर अपने कर्म नष्ट करते ॥१२॥

इस प्रकार के सावद्य कार्य से यदि कर्म कटते हैं तो ऐसे अनेकों कार्य हैं। उनमें से थोड़े से कार्यों को मैं प्रकट करता हूं। मन में विवेक जगाकर सुनो ॥१३॥

समस्त द्वीप समुद्रों में मच्छगलागल लग रही है। बड़ा मच्छ छोटे मच्छ को खा रहा है और उससे बड़ा उसे खा रहा है ॥१४॥

यदि एक देवता भी परिश्रम करे तो एक दिन में अनेक जीवों को बचा देता है। धर्म हो तो वह ऐसे कार्य में विलम्ब नहीं करेगा; क्योंकि इतना विवेक तो उसमें है ही ॥१५॥

जीव बचाने में यदि अभयदान होता है तो वह बहुतों को अभयदान दे देता। जीवों को बचाने में यदि धर्म मानता तो देव-योनि में भी यह कार्य खूब करता ॥१६॥

एक दिन में लाखों-करोड़ों और अगणित मच्छों को बचाया जा सकता है। यदि इसमें धर्म होता तो देवता मच्छों को अवश्य बचाते ॥१७॥

मच्छ आगा सूं मच्छ छोड़ावियां,
उणरे पड़ी जाणै अंतराय जी।
तो अचित मच्छ उपजाय नें,
उणनें पिण देवै खवाय जी ॥१८॥

जो धर्म हुवै मछला नैं वचावियां,
मछला नें पोख्यां हुवै धर्म जी।
एहवो धर्म तो हुवै देवता थकी,
यूं कर कर काटे कर्म जी ॥१९॥

जो धर्म हुवै तो देवता,
असंख्याता मछला ने वचाय जी।
असंख्याता पोषे माछला,
आलस पिण न करे ताय जी ॥२०॥

पृथवी पाणी तेउ वाउ मझे,
जीव कह्या असंख्यात जी।
वनसपती में अनंत छै,
यां नें पिण देव बचात जी ॥२१॥

तीन विकलेंद्री मनुष्य तिर्यचनें,
वचायां धर्म जाणै जो देव जी।
तो त्यांनैंई बचावण री खप करे,
समदिष्टी देवता स्वयमेव जी ॥२२॥

नाहर चित्तादिक दुष्ट जीव छै,
करै गायांदिकरी घात जी।
गांयादिक नैं तो खावा दे नहीं,
त्याने पिण देव अचित्त खवात जी ॥२३॥

जीव जीव तणो भक्षण करै,
त्यांनें बचावै अचित्त खवाय जी।
जो यूं कियां मैं धर्म नीपजै,
तो देवता करे ओहिज उपाय जी ॥२४॥

यदि मत्स्य के मुंह से मत्स्य को छुड़ाने में उसके अन्तराय होती लगे तो अचित्त मत्स्य को पैदा करके उसे वह खिला देता ॥१८॥

यदि मत्स्यों को बचाने में और पोष देने में धर्म होता तो यह धर्म देवता से भी सम्भव था और उसे करके वह अवश्य कर्म काटता ॥१९॥

यदि धर्म हो तो देवता असंख्य मत्स्यों को बचा देता और बिना किसी आलस्य के असंख्य मत्स्यों का पोषण करता ॥२०॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इनमें असंख्य जीव माने जाते हैं। वनस्पति में अनन्त जीव होते हैं। उनको भी देवता बचा देता ॥२१॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, मनुष्य और अन्य तिर्यञ्चों को बचाने में यदि देवता धर्म जानता तो सम्यक्‌दृष्टि देवता स्वयं उनको बचाने के लिए प्रयत्न करता ॥२२॥

बाघ, चीते आदि दुष्ट जीव गाय आदि पशुओं की घात करते हैं, उनको भी अचित्त द्रव्य खिला कर गाय आदि वह बचा लेता ॥२३॥

जीव जीव का भक्षण करता है। उसे अचित्त खिला कर बचाया जा सकता है। यदि ऐसा करने में धर्म होता हो तो देवता यही उपाय काम में लेता ॥२४॥

अढाइ द्वीप मैं मनुष्यां तणे,
घर-घर आरम्भ करै जाण जी।
ते तो कतल करै जीवां तणी,
छ ही काय तणो घमसाण जी ॥२५॥

नित्य एकीका घर में जुवो जुवो,
आरम्भ हुवै दिन रात जी।
छेदन-भेदन करे निलोतरी,
करे अनंत जीवां री घात जी ॥२६॥

दलणो पीसणो नैं पोवणो,
घर-घर चूलो धुकावै तास जी।
आवट् कूटो करै छ कायरो,
करे अनंत जीवां रो विणास जी ॥२७॥

एकीको समदिष्टी देवता,
त्यांरी शक्ति घणी छै अतंत जी।
अढी द्वीप रो आरंभ मेटनैं,
बचावै जीव अनन्त जी ॥२८॥

अढी द्वीप तणा मनुष्यां भणी,
भूखा त्रषा न राखै कोय जी।
अचित्त अन्न पाणी निपजाय नै,
सगलां नै करे तृप्ती सोय जी ॥२९॥

विविध प्रकार नां भोजन करै,
विविध प्रकार नां पकवान जी।
खादिम स्वादिम विविध प्रकार नां,
विविध प्रकारै शीतल पान जी ॥३०॥

साग व्यंजन विविध प्रकार नां,
फल निलोती विविध प्रकार जी।
मनसा भोजन सगला मनुष्यां भणी,
करावै देवता बार-बार जी ॥३१॥

अढ़ाई द्वीप में मनुष्यों के घर-घर में आरम्भ होता है। वे छः ही प्रकार के जीवों का संहार करते हैं ॥२५॥

एक-एक घर में प्रतिदिन पृथक्-पृथक् हिंसा युक्त प्रवृत्तियां होती हैं। वनस्पति का छेदन-भेदन होता है। अनन्त जीवों की घात होती है ॥२६॥

दलना, पीसना, पोना, चुल्हा जलाना आदि रूपों में छः काय का आरम्भ-समारम्भ होता है। अनन्त जीवों का नाश किया जाता है ॥२७॥

एक-एक समदृष्टि देव अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। वे अढ़ाई द्वीप का आरम्भ मिटा कर अनन्त जीवों को बचा सकते हैं ॥२८॥

अढ़ाई द्वीप के मनुष्यों की भूख और प्यास अचित्त अन्न, जल आदि देकर मिटा सकते हैं। सबको तृप्त कर सकते हैं॥२९॥

देवता विविध प्रकार के भोजन और विविध प्रकार के पक्वान्न बना सकते हैं। विविध प्रकार के मेवे और लवंग आदि द्रव्य तथा शीतल पानी, विविध प्रकार के शाक और विविध प्रकार के फल आदि से मनुष्यों को पुनः-पुनः मनोवांछित भोजन करा सकते हैं ॥३०-३१॥

ठाम-ठाम अचित्त पाणी तणा,
कुंड भर-भर राखे ताम जी।
वले भोजन विविध प्रकार ना,
त्यांरा ढिगला करे ठाम-ठाम जी ॥३२॥

च्यारूं आहार अचित्त निपायनें,
दीधां हुवै धर्म नें पुन्य ताम जी।
वले धर्म हुवै जीव वचावियां,
तो देवता करे ओहिज काम जी ॥३३॥

देवता खाणो देवै मिनखां भणी,
तो खेती रो आरम्भ टल जाय जी।
वले गहणा कपड़ा देवै देवता,
तो घणा जीव मरे नहीं ताय जी ॥३४॥

घर हाट हवेली महलायतां,
इत्यादिक कमठाणा ताय जी।
ए पिण निपजाय देवै देवता,
तो अनन्ता जीव मरता रहि जाय जी ॥३५॥

ते छावणा लीपणा नहीं पड़ै,
ते तो सुन्दर नें सोभाय मान जी।
ते पिण दीसै घणा रलियामणा,
देवतां नैं करतां आसान जी ॥३६॥

एहवी करणी कियां धर्म नीपजै,
तो देवता आघो नहीं काढ़ंत जी।
यां करणी करै कर्म काटनैं,
काम सिराड़े देता चाढ़ंत जी ॥३७॥

दान दियां नैं जीव बचावियां,
जो कर्म तणो हुवै सोख जी।
तो दान दे जीव बचायनै,
देवता पिण जावै मोख जी ॥३८॥

स्थान-स्थान पर अचित्त पानी के कुंड भर कर रख सकते हैं और स्थान-स्थान पर विविध प्रकार के भोजनों के ढेर लगा सकते हैं। चारों प्रकार के आहार अचित्त पैदा कर देने से यदि धर्म-पुण्य होता हो और जीवों को बचाने में धर्म होता हो तो वे समदृष्टि देवता यही काम करते ॥३२-३३॥

देवता यदि मनुष्यों को खाना देने लगें तो खेती करने का आरम्भ टल जाता है और देवता गहने, कपड़े आदि देने लग जाएं तो बहुत सारे जीव मरने से बच सकते हैं ॥३४॥

घर, हाट, हवेली, महल आदि भी यदि देवता पैदा कर दें तो अनन्त जीव मरने से बच जाते हैं ॥३५॥

उन देव-निर्मित मकानों को छाना या लीपना भी न पड़े। वे तो सुन्दर होते ही हैं और देवताओं के लिए उनको बनाना भी बहुत सरल है ॥३६॥

ऐसा कार्य करने में यदि धर्म होता तो देवता देरी नहीं करते। इस क्रिया से कर्म काट कर अपना काम सिद्ध करते ॥३७॥

दान देने में और जीव बचाने में यदि कर्मों का क्षय होता हो तो दान देकर या जीव बचा कर देवता भी मोक्ष में चले जाते ॥३८॥

अनेरा नें दियां पुन्य नीपजै,
देवतां रे हुवै पुन्य रा थाट जी।
वले धर्म हुवै जीव बचावियां,
तो देव मोक्ष जावै कर्म काट जी ॥३९॥

असंजती जीवां रो जीवणो,
ते सावद्य जीतव साख्यात जी।
तिण नें देवै ते सावद्य दान छै,
तिण में धर्म नहीं अंसमात जी ॥४०॥

धर्म हुवै तो सगला मिनखां तणे,
रत्ना जड़्या करदे महल जी।
ते पिण थोड़ा में निपजाय दे,
देवता नें करतां सहल जी ॥४१॥

खाणो पीणो गहणो कपड़ादिक,
गृहस्थ तणा सारा काम भोग जी।
त्यांरो करै बधोतर तेहनैं,
बंधे पाप कर्म नां संजोग जी ॥४२॥

काम नैं भोग सारा गृहस्थ तणा,
दुःख नैं दुखरी छै खान जी।
त्यांने किंपाक फलरी ओपमा,
उत्तराध्ययन में कह्यो भगवान जी ॥४३॥

त्यांनें भोगवावै धर्म जाण नैं,
तिणरे बंधै छे पाप कर्म जी।
तिण में समदिष्टी देवता,
अंस मात्र न जाणे धर्म जी ॥४४॥

केइ अज्ञानी इम कहै,
श्रावक नैं पोख्यां छै धर्म जी।
लाडू खवाय दया पलावियां,
तिणरा कट जाये पाप कर्म जी ॥४५॥

दूसरों को देने में पुण्य होता हो तो देवता के पुण्यों का ढेर लग जाए और जीव बचाने में यदि धर्म होता तो कर्म काट कर देवता भी मोक्ष चले जाते ॥३९॥

असंयति जीवों का साक्षात् ही सावद्य जीवन है। उनको जो दिया जाता है वह सावद्य दान है। उसमें अंशमात्र भी धर्म नहीं है ॥४०॥

धर्म होता हो तो सब मनुष्यों के लिए रत्नजटित महल बना दिये जाते। ये सब बहुत थोड़े में हो जाते; क्योंकि देवता के लिए ये सब सरल कार्य होते हैं ॥४१॥

खाना-पीना, गहना, कपड़ा आदि सारे गृहस्थ के काम-भोग हैं। उनकी वृद्धि करने मे पाप-कर्म की वृद्धि होती है ॥४२॥

गृहस्थ के समस्त काम-भोग दुःख की खान हैं। उन्हें उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् ने किंपाक फल की उपमा दी है ॥४३॥

उन काम-भोगों का आचरण कराने में पाप-कर्मो का बन्धन होता है। सम्यक् दृष्टि देवता अंश मात्र भी उसमें धर्म नहीं मानते ॥४४॥

कुछ अज्ञानी यह कहते हैं कि श्रावक का पोषण करने में धर्म है। लड्डू खिला-कर दया पलाने में पाप-कर्म कट जाते हैं ॥४५॥

लाडुवां साटे उपवास बेला करै,
तिणरा जीतब नैं छै धिक्कार जी।
तिण नें पोषे छै लाडू मोल ले,
तिण में धर्म नहीं छै लिगार जी ॥४६॥

लाडुवां साटे पोषा करै,
तिण में जिन भाष्यो नहीं धर्म जी।
ते तो इहलोकरै अरथे करे,
तिणरो मूरख न जाणै मर्म जी ॥४७॥

धर्म हुवै तो समदिष्टी देवता,
अचित्त लाडुवादिक निपजाय जी।
वले पाणी पिण अचित्त निपजाय नै,
श्रावकां नैं जीमावै धपाय जी ॥४८॥

जावजीव सगला श्रावकां भणी,
लाडुवादिक अचित्त खवाय जी।
अढी द्वीप तणा श्रावकां भणी,
दया पलावै पोसा कराय जी ॥४९॥

त्यांनें आरम्भ करवा दे नहीं,
त्यांनें कल्पे ते देवता देत जी।
धर्म हुवै तो आघो नहीं काढ़ता,
यो पिण देवता लाहो लेत जी ॥५०॥

श्रावकां नें वस्तु दे चावती,
ऊणायत राखै नहीं ताय जी।
धर्म हुवै तो आघो काढ़ै नहीं,
त्यांरें कुमिय न दीसै कांय जी ॥५१॥

जो धर्म हुवै श्रावक नैं पोषियां,
तो देवता पिण करे यो धर्म जी।
असंख्याता श्रावकां नें पोष नें,
काटता निज पाप कर्म जी ॥५२॥

लड्डुओं के लालच से जो उपवास या बेला करते हैं, उनके जीवन को धिक्कार है। लड्डू मोल लेकर जो उनका पोषण किया जाता है, उसमें जरा भी धर्म नहीं है ॥४६॥

लड्डुओं के लिए पोषध आदि करते हैं, उसमें जिनेश्वर देव ने धर्म नहीं कहा है। वे पौषध आदि सब इहलौकिक हैं। मूर्ख आदमी इसका मर्म नहीं जानते ॥४७॥

धर्म होता हो तो सम्यग्दृष्टि देवता अचित्त लड्डू और अचित्त पानी पैदा करके श्रावकों को अवश्य खिलाते ॥४८॥

यावज्जीवन तक अढ़ाई द्वीप के सभी श्रावकों को लड्डू आदि अचित्त द्रव्य खिलाते और पौषध करा कर दया पलाते ॥४९॥

उन्हें हिंसा आदि आरम्भ नहीं करने देते और श्रावकों को जो कल्प्य होता, वह देवता देते। धर्म होता तो देवता देरी नहीं करते और ऐसा करके अपने-आपको कृतकृत्य करते ॥५०॥

यदि धर्म होता तो देवता श्रावकों को मनचाही वस्तु देते। जरा भी कसर नहीं रखते और न ऐसा करने में विलम्ब ही करते ॥५१॥

यदि श्रावक का पोषण करने में धर्म होता तो देवता भी यह धर्म करते। असंख्य श्रावकों का पोषण करके अपने कर्म काटते ॥५२॥

असंख्याता द्वीप समुद्र में,
असंख्याता श्रावक छै ताम जी।
त्यांने पोषे समदिष्टी देवता,
जो जाणे धर्म नों काम जी ॥५३॥

श्रावक रो खाणो पीणो सर्वथा,
अव्रत में कह्या छै आम जी।
तिण सूं समदिष्टी देवता,
एहवो किम करसी काम जी ॥५४॥

सक्रेंद्र नें ईशाणेंद्र छै,
तिरछा लोक तणा सिरदार जी।
हाल हुकम छै सगलां ऊपरे,
असंख्याता द्वीप समुद्र मझार जी ॥५५॥

मच्छ गलागल लग रही,
सारा द्वीप समुद्रां मांय जी।
जो धर्म हुवै जीव बचावियां,
तो इंद्र थोड़ा में देवै मिटाय जी ॥५६॥

भगवंत कह्यो हुवै इंद्र नैं,
जीव बचायां धर्म होय जी।
तो दोनूं इंद्र जीव बचावता,
आलस नहीं करता कोय जी ॥५७॥

मच्छ आगा सूं मच्छ छोड़ायनैं,
मच्छां नें देता जीवां बचाय जी।
त्यांनें पिण भूखा नहीं राखता,
अचित मच्छ कर देता खवाय जी ॥५८॥

यूं कियां जिन धर्म नीपजै,
तो भगवंत सिखावत आप जी।
बले आज्ञा देता तेहनैं,
चोड़े करता आहिज थाप जी ॥५९॥

असंख्य द्वीप समुद्रों में असंख्य श्रावक रहते हैं। सम्यग्दृष्टि देवता यदि धर्म समझते तो उनका अवश्य पोषण करते ॥५३॥

श्रावक का खाना-पीना आदि सब अव्रत में कहा गया है; इसलिए सम्यग् दृष्टि देवता ऐसा कार्य नहीं कर सकते ॥५४॥

तिर्यग् लोक के दो मालिक हैं—शक्रेन्द्र और इशानेन्द्र। उनका आदेश असंख्य द्वीप समुद्रों में सर्वोपरि है ॥५५॥

सभी द्वीपों एवं समुद्रों में जीव जीव को खा रहे हैं। यदि जीव बचाने में धर्म हो तो इन्द्र उस मच्छगलागल को थोड़े में ही मिटा देता ॥५६॥

भगवान् महावीर ने इन्द्र को कहा होता कि जीव बचाने में धर्म है तो दोनों इन्द्र जीवों को बचाते। जरा भी आलस्य नहीं करते ॥५७॥

मत्स्य के मुंह से मत्स्य को छुड़ा कर उसे जीवित बचा लेते और उन बड़े मत्स्यों को भी भूखा नहीं मारते। निर्जीव मत्स्यों का निर्माण कर उन्हें खिला देते ॥५८॥

ऐसा करने में जिन-धर्म होता तो भगवान् स्वयं ऐसा सिखलाते। इन्द्र को ऐसी आज्ञा देते और प्रकट रूप में उस बात की स्थापना करते ॥५९॥

जीव नैं जीवां बचावियां,
ओ तो संसार नों उपगार जी।
तठे जिनाज्ञा जावक नहीं,
धर्म पिण नहीं छै लिगार जी ॥६०॥

छ काय नां शस्त्र बचावियां,
छ काय नों वेरी होय जी।
त्यांरो जीतब पिण सावद्य कह्यो,
त्यांनें बचायां धर्म न कोय जी ॥६१॥

असंजती रा जीवणा मझे,
धर्म नहीं अंसमात जी।
वले दान देवै छै तेहनें,
ते पिण सावद्य साख्यात जी ॥६२॥

दान देवो नें जीव बचायवो,
यो तो देवता नें आसान जी।
यूं कियां धर्म हुवै तो देवता,
जाये पांचमी गति प्रधान जी ॥६३॥

जीव बचावणो नें सावद्य दान नैं,
ओलखायो पुर शहर मझार जी।
संवत अठारै वर्ष सतावनैं,
काति विद चोदस नैं शुक्रवार जी ॥६४॥

जीवों को जीवित बचाने में सांसारिक उपकार है। जहां जिनेश्वर देव की जरा भी आज्ञा नहीं है; वहां जरा भी धर्म नहीं होता ॥६०॥

षट्कायिक जीवों के शस्त्र रूप जीव को बचाने से वह छ काय का वैरी हो जाता है। उनका जीना भी सावद्य कहा गया है। उनको बचाने में धर्म नहीं होता ॥६१॥

असंयति जीवों के जीने में तिल भर भी धर्म नहीं है और जो उन जीवों को दान दिया जाता है, वह भी साक्षात् सावद्य है ॥६२॥

दान देना और जीवों को बचाना; ये दोनों कार्य देवताओं के लिए आसान हैं। ऐसा करने में धर्म होता तो देवता भी पंचम गति (मोक्ष) प्राप्त कर लेते ॥६३॥

संवत् अठारहसौ सत्तावन, कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी शुक्रवार के दिन जीव बचाने को और सावद्य दान को पुर शहर में भली-भांति बताया गया है ॥६४॥

परिशिष्ट १

सांकेतिक कथाएं

: १ :

हाथी के भव में मेघकुमार

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। बाल्यकाल से ही वह साधु-प्रेमी था। जब-जब भगवान् श्री महावीर राजगृह में आते, तब-तब वह वंदन के लिए जाता, व्याख्यान-श्रवण भी करता। मेघकुमार राजकुमार तो था ही, उसके साथ-साथ उसमें वह सहज व्यक्तित्व भी था कि सभी साधु उससे वार्तालाप करने को समुत्सुक रहते। इस धर्मानुराग से प्रेरित होकर वह वैरागी बना और भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होने की प्रथम रात्रि में जब साधुओं के सोने की व्यवस्था हुई तो उस व्यवस्था में मेघकुमार का क्रम सबसे अन्तिम था। पहले दिन तक वह राजमहल की सुकोमल शय्या पर लेटा करता था और आज वह सामान्य तृण-विस्तर पर सोया था। वह गहरी नींद नहीं ले सका। उसके पास से होकर साधुओं के आवागमन का क्रम भी सारी रात चलता ही रहा। रात्रि-जागरण की उस वेला में मेघकुमार के मन में नाना दुश्चिन्ताएं उत्पन्न हुईं। वह सोचने लगा, कल तक सभी साधुओं का मेरे प्रति इतना आदरभाव था और आज उनके संघ में दीक्षित हो जाने के साथ ही मेरी यह उपेक्षा? न कोई हँसकर मुझसे बोल रहे हैं और न उन्हें मेरे सुख-दुःख की कोई चिन्ता ही दीख पड़ रही है। सभी अपने-अपने कार्य में तल्लीन हो रहे हैं। मैं व्यर्थ ही इस जंजाल में आ फंसा। खैर, अब भी क्या हुआ है? प्रातःकाल होते ही ये पात्र, रजोहरण आदि भगवान् श्री महावीर को पुनः सौंप कर मैं अपने घर चला जाऊंगा।

प्रातःकाल मुनि मेघकुमार भगवान् महावीर के पास पहुंचे तो त्रिकालदर्शी भगवान् ने स्वयं ही कहा—मेघकुमार! आज रात को तू परीषहों से पराभूत हुआ। तेरे मन में यह विचार आया कि पात्र, रजोहरण आदि सौंप कर अपने घर चला जाऊंगा। हे राजकुमार! संयम ग्रहण करके इस प्रकार दुर्बलता दिखलाना उचित नहीं है। देख, अब तो तू मनुष्य है। तेरे में हिताहित का विवेक है। तू ने अपने पिछले भव में, जब कि तू एक पशुमात्र था, मानसिक दृढ़ता का बहुत बड़ा उदाहरण उपस्थित किया था। मेघकुमार सुनने में लीन हुआ और भगवान् महावीर उसे बताने लगे—तेरा यह जीव पिछले भव में हाथी था। उससे भी पिछले भव में यह हाथी था। एक बार जंगल में आग लगी। हाथी प्राण बचा कर भागा। चलते-चलते भयंकर प्यास लगी। एक तालाब में पानी पीने के लिए वह

ज्यों ही गया, कीचड़ में ऐसा फंसा कि वह फिर निकल नहीं पाया। एक दूसरा हाथी आया और दन्त-प्रहार से उस पर आक्रमण करने लगा। वहां से आयु पूर्ण कर तेरा वह जीव पुनः हाथी के रूप में पैदा हुआ। एक बार उसने जंगल में आग लगी देखी तो उसे जातिस्मरण हो आया। उसने सोचा यह न हो कि फिर कभी जंगल में आग लग जाए और मुझे मर जाना पड़े। उसने एक योजन मण्डलाकार भूमि को साफ कर दिया। वहां तृण, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नहीं रहने दिया और वहां वह सुख से रहने लगा। जंगल में फिर से आग लगी। जंगल के अन्य जीव-जन्तु भी प्राण-रक्षा के लिए उस मण्डल में आकर एकत्रित होने लगे। हाथी के चारों ओर भर गए। हाथी के लिए केवल खड़े रहने भर की जगह रह गई। अकस्मात् हाथी ने शरीर खुजलाने के लिए एक पैर ऊपर उठाया। संयोगवश एक शशक तत्क्षण उस रिक्त स्थान में आ बैठा। हाथी ने पैर नीचे रखना चाहा तो उस शशक का उसे पता चला। उस समय उसने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की अनुकम्पा के लिए पैर उठाए रखा। एक दिन बीता, दूसरा दिन भी बीता और तीसरा दिन भी बीतने लगा। उस उत्कट अहिंसा-प्रतिष्ठान से हे मेघकुमार! तुझे उस भव में अपूर्व सम्यक्त्व-रत्न का लाभ हुआ। उस भव में भी तूने इतना दुःसह कष्ट सहा तो अब तो तू मनुष्य है। हेयोपादेय को अधिक समझता है, तब तेरे मन में साधारण परिषहों के प्रति भी इतना अधैर्य क्यों ?

मेघकुमार भगवान् श्री महावीर की इस अमृतोपम देशना से प्रभावित हुआ। अपने अधैर्य के प्रति उसके मन में ग्लानि हुई। आत्म-आलोचना कर पुनः संयमारूढ़ हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १ के आधार से

: २ :

अरिष्टनेमि की अनुकम्पा

सौरियपुर नगर में वसुदेव नामक राजा राज्य करता था। उसके दो रानियां थीं; एक रोहिनी और दूसरी देवकी। उन दोनों के क्रमशः बलभद्र और श्रीकृष्ण दा पुत्र उत्पन्न हुए। वसुदेव के एक भाई का नाम था; समुद्रविजय। उसकी स्त्री का नाम था; शिवा। शिवा रानी के उदर से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण ने उग्रसेन राजा की कन्या राजिमती से अपने बन्धु अरिष्टनेमि का विवाह सम्बन्ध निश्चित कर दिया। दोनों ओर से विवाह की जोर-शोर से तैयारियां हुईं। अरिष्ट-नेमि की बरात ज्यों ही उग्रसेन राजा के यहां पहुंची, अरिष्टनेमि ने देखा कि बहुत सारे पशु-पक्षियों को बाड़ों और पिंजरों में बांध रखा है। वे अपने सारथी से बोले—ये सब सुखार्थी जीव बाड़ों और पिंजरों में किसलिए डाले गए हैं? सारथी ने कहा—ये सब भद्र प्रकृति के जीव आपके विवाह-कार्य में बहुत से पुरुषों को भोजन देने के लिए एकत्रित किये गए हैं। इस प्रकार प्राणियों के विनाश-सम्बन्धी वचन को सुन-कर दयार्द्र हृदय राजकुमार ने कहा—

जइ मज्झ कारण एए हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ॥

अर्थात् यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते हैं तो मेरे लिए यह पर-लोक में कल्याणप्रद नहीं होगा। यह कह कर अरिष्टनेमि कुमार ने अपने कुण्डल, कटिसूत्र आदि आभूषण उतार कर सारथी को दे दिए और कहा—रथ को वापस मोड़ो। मुझे इस प्रकार का हिंसाकारी विवाह नहीं करना है। श्रीकृष्ण प्रभृति बहुतों के समझाने पर भी वे नहीं माने और उन्होंने प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की। वे २२ वें तीर्थकर बने।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० १२ के आधार से

: ३ :

धर्मरुचि

प्राचीन काल की घटना है। धर्मघोष नामक महान् आचार्य चम्पानगरी में आए। धर्मरुचि अनगार उनके तपस्वी शिष्य थे। उनके एक महीने की तपस्या पूरी हुई। भिक्षा लाने के लिए गुरु से आज्ञा लेकर सघन वस्ती में आए। उसी नगरी में नागश्री नामक एक ब्राह्मणी (द्रौपदी के पूर्व भव का जीव) रहती थी। उसने उस दिन अपनी भोजन सामग्री में तुम्बे का शाक भी वनाया था। वनाने के वाद ज्योंही उसने वह चखा, उसे भान हुआ कि यह तो कड़वा तुम्बा है, खाने के योग्य नहीं है। ज्यों ही वह उस शाक को हाथ में लेकर किसी घूरा (उकरड़ी) पर गिराने के लिए चली; घूमते-फिरते महातपस्वी धर्मरुचि अनगार उसकी रसोई के द्वार पर पहुंच गए। नागश्री ने सोचा, व्यर्थ ही मुझे कहीं दूर इसे डालने के लिए जाना पड़ता। अच्छा हुआ यह मुनि आ गया। इसके पात्र में ही यह कटुक शाक क्यों नहीं डाल दूं। मेरा बर्तन तो खाली हो ही जाएगा। यह सोचकर उसने मुनि के पात्र में वह कड़वे तुम्बे का शाक डाल दिया। मुनि ने समझा, कैसी श्रद्धा है, सारा शाक एक बार में ही वहरा दिया। मुनि उस शाक को लेकर अपने परम गुरु धर्मघोष आचार्य के पास आए और अपनी भिक्षा उन्हें दिखलाई। उस शाक को देखकर गुरु ने कहा, यह तो कड़वा तुम्बा है। यदि इसे खालोगे तो तत्काल मृत्यु हो जाएगी। यह भक्ष्य नहीं है, इसलिए एकान्त निर्वद्य स्थान में जाकर इसे परठ दो।

शाक का परिष्ठापन करने के लिए मुनि एकान्त स्थान में आए। शाक की एक दो बूंद भूमि पर पड़ी कि वहुत सारी चींटियां वहां आ गई और देखते-देखते उस विषोपम शाक से सब मर गईं। यह देख कर मुनि ने सोचा, एक दो बूंद मात्र से इतनी चींटियां मर गई, यदि सारा शाक परठ दूंगा तो न जाने कितनी चींटियों की हिंसा होगी? इस प्रकार अपने द्वारा होने वाली हिंसा को टालने के लिए मुनि ने चींटियों की अनुकम्पा की और वह सारा शाक ज्यों का त्यों अपने आप खागए। उस विषोपम शाक के भक्षण से शरीर में प्रवल वेदना हुई तो मुनि ने आमरण अनशन (संथारा) कर लिया। समाधिपूर्वक अपनी मनुष्य भव सम्वन्धी आयु शेष कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। उस देव योनि से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में उत्पन्न होंगे और वहां संयम ग्रहण कर मोक्ष-पद प्राप्त करेंगे।

— ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १६ के आधार से

: ४ :

भगवान् श्री महावीर और गोशालक

भगवान् श्री महावीर ने प्रव्रज्या ग्रहण की। प्रथम वर्ष में वे पाक्षिक तप करते रहे और अस्थि ग्राम में उन्होंने अपना वर्षाकाल बिताया। दूसरे वर्ष में वे मासिक तप करने लगे अर्थात् एक मास की तपस्या और एक दिन भोजन। राजगृह में नालन्दा की तन्तुवायशाला में उन्होंने अपना दूसरा वर्षावास बिताया। उसी शाला के एक कक्ष में गोशालक रह रहा था। भगवान् श्री महावीर ने अपने प्रथम मासिक तप का पारणा विजय गृहपति के घर पर किया। स्वर्णादि पांच द्रव्यों की वृष्टि हुई। इस तपो-महिमा को देखकर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला—हे प्रभो! आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका धर्मान्तेवासी। उस समय भगवान् ने उसके वचन को जरा भी आदर नहीं दिया, मन में भी उसे अच्छा न समझा और वे मौन रहे। दूसरे मासिक तप का पारणा आनन्द गृहपति के घर किया। उसी प्रकार तपः-प्रभाव प्रकट हुआ। गोशालक ने फिर उसी प्रकार अनुरोध किया, पर भगवान् ने नहीं माना। इसी प्रकार तीसरे मासिक पारणे पर हुआ। चौथे मास का पारणा पोल्लाक सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण के घर हुआ और उसी प्रकार तपः-प्रभाव प्रकट हुआ। इस बार गोशालक ने अपने उपकरण विशेष किसी ब्राह्मण को दे दिए और डाढी मूंछ मुंडाकर भगवान् के पास आया। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करते हुए बोला—आप मेरे धर्माचार्य हैं, मैं आपका धर्मान्तेवासी हूं। भगवान् ने गोशालक के इस निवेदन को स्वीकार किया। तदनन्तर छः वर्षों तक भगवान् ने गोशालक के साथ विहार किया। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख सहा। एक बार मिगसर के महीने में भगवान् सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। एक तिल के पौधे को देख कर गोशालक ने भगवान् से प्रश्न किया—यह तिल का पौधा फलवान होगा या नहीं? इस पौधे पर जो सात फूल लगे हैं, उनके सात जीव मर कर कहां उत्पन्न होंगे? भगवान् ने कहा—यह पौधा फलवान होगा और सात तिल पुष्पों के सात जीव इसी तिल पादप की एक फली में सात तिल होंगे। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को श्रद्धापूर्वक स्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उन्हें असत्य प्रमाणित करने के लिए पीछे रह कर उस तिल वृक्ष के पास आया और समूल उखाड़ कर एक ओर फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वृष्टि हुई और वह तिल वृक्ष पुनः जड़ जमा कर खड़ा हो गया। वे सात पुष्प भी

कथित प्रकार से तिल-फली में सात तिल हो गए।

भगवान् कूर्म ग्राम आए। उस ग्राम के बाहर एक वैश्यायण नामक तपस्वी रहता था। वह तीन-तीन दिन की तपस्या करता और सूर्य के सम्मुख आतप लेता। सूर्य के ताप से उसके सिर से जूंएं भूमि पर गिर रही थीं। उनकी दया के लिए वह उन्हें उठा-उठा कर पुनः अपने बालों में रख रहा था। गोशालक भगवान् के पास से उठ कर उस तपस्वी के निकट आया और बोला—तू कोई तपस्वी है या जूओं का शय्यातर (स्थान देने वाला)। तपस्वी शान्त रहा। गोशालक इसी बात को पुनः-पुनः दोहराता रहा। तपस्वी क्रोध में आ गया। वह अपनी आतापना भूमि से सात-आठ पग पीछे गया और जोश में आकर उसने अपनी तपोलब्ध तेजोलब्धि गोशालक को भस्म करने के लिए छोड़ दी। भगवान् श्री महावीर ने कुछ ही दूर बैठे यह सब देखा। गोशालक पर अनुकम्पा आई। उन्होंने उस वैश्यायण तपस्वी की तेजोलब्धि का प्रतिघात करने के लिए अपनी शीतल तेजोलेश्या का प्रयोग कर डाला। उस प्रयोग से उस तपस्वी का प्रयोग विफ़ल हो गया। गोशालक को सुरक्षित खड़ा देख कर तापस सब रहस्य समझ गया; उसने अपनी तेजोलब्धि का प्रत्यावर्तन किया और कुछ क्षणों तक बोलता रहा—भगवन्! मैंने आपको जाना, मैंने आपको जाना। गोशालक इस समग्र घटना चक्र से अवगत रहा। वह भगवान् के पास आकर बोला—यह जूओं का शय्यातर आपके प्रति क्या कह रहा है? भगवान् ने सारा वृत्तान्त उसे बताया। गोशालक भयभीत हुआ और मन में खुश भी हुआ कि मैं मरते-मरते बच गया। गोशालक ने भगवान् से पूछा—भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे उत्पन्न होती है? भगवान् बोले—कोई व्यक्ति छः महीने तक बेले-बेले तप करे। पारणे में एक चूलू उष्ण जल व एक मुट्ठी उड़द ग्रहण करे। प्रतिदिन ऊंची बांहें कर सूर्य के सम्मुख आतापना ले। उसे छः मास के अन्त में यह तेजोलब्धि प्राप्त होती है। गोशालक ने भगवान् के इस कथन को हृदयंगम कर लिया।

एक दिन पुनः भगवान् उस कूर्म ग्राम से सिद्धार्थ ग्राम की ओर जा रहे थे। गोशालक भी साथ था। वह स्थान आया, जहाँ गोशालक ने तिल वृक्ष को उखाड़ डाला था। गोशालक ने कहा—भगवन्! तिल वृक्ष के सम्बन्ध से आपने जो कुछ मुझे कहा था, वह सब मिथ्या निकला। न वह तिल वृक्ष निष्पन्न हुआ है और न वे सात पुष्प-जीव मर कर सात तिल हुए हैं। भगवान् ने कहा—गोशालक! तू ने मेरे कथन को असत्य करने के लिए उस तिल वृक्ष को उखाड़ डाला था, पर आकस्मिक वृष्टि-योग से वह पुनः मिट्टी में रुप गया और वे सात पुष्प जीव भी उस तिल वृक्ष की फली में सात तिल हो गए हैं। मेरा कथन किंचित् भी असत्य नहीं

है। गोशालक उस तिल वृक्ष के पास गया और वह फली तोड़ी तो उसमें सात ही तिल निकले। गोशालक ने सोचा—जिस प्रकार वनस्पति के जीव मर कर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सभी जीव मर कर उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते हैं। उस प्रकार गोशालक ने अपना 'पारिवृत्य परिहार' का एक नया सिद्धान्त बना लिया। गोशालक का ध्यान तेजोलब्धि को प्राप्त करने में लगा था। वह वहां से भगवान् से पृथक् हो गया।

यथाविधि छः महीनों की तपस्या कर उसने तेजोलब्धि प्राप्त कर ली। लोगों को भविष्य आदि कहने लगा। पार्श्वनाथ भगवान् के कुछ शिथिलाचारी साधु उसके शिष्य हो गए। अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। स्वयं की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए वह भगवान् श्री महावीर की निन्दा करता और अपने-आपको तीर्थंकर कहता।

श्रावस्ती नगरी में दोनों का एक ही समय में आगमन हुआ। कुछ लोग महवीर को तीर्थंकर कहते तो कुछ लोग मायावी गोशालक को। गौतम स्वामी ने परिषद् के बीच गोशालक के विगत जीवन के विषय में भगवान् श्री महावीर से पूछा। भगवान् महावीर ने कहा—यह डाकोत का पुत्र है। गोशाला में इसका जन्म हुआ, इसलिए इसका नाम गोशालक रखा गया। इस प्रकार भगवान् ने गोशालक का अपना शिष्य होने से लेकर अब तक का सारा वर्णन परिषद् में सुनाया। नगर में चर्चा चल पड़ी। गोशालक को यह सब सुन कर बहुत ही क्रोध आया और भगवान् के पास आकर बोला—काश्यप ! जिस मंखली पुत्त को तुम अपना शिष्य बतला रहे हो, वह मैं नहीं हूँ। वह तो मर कर कभी देवलोक में चला गया। उस गोशालक के शरीर में मेरा तो केवल पारिवृत्य हुआ है। तुम मेरे लिए तथा प्रकार का मिथ्या प्रचार कर रहे हो, यह ठीक नहीं है।

गोशालक जब इस प्रकार प्रलाप करने लगा, तब भगवान् के सुशिष्य सर्वानुभूति मुनि, गोशालक के पास आए और बोले—हे गोशालक भगवान् ने तुझे प्रव्रज्या दी, शिष्य रूप में मुण्डित किया, तुझे तेजोलेश्या बताई, तुझे पढ़ाकर बहुश्रुत किया, तू भगवान् के साथ ही इस प्रकार की अनार्यता बरत रहा है। तेरे लिए यह सुन्दर नहीं है। तू वही गोशालक है, इसमें हमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। यह सुन कर गोशालक और अधिक क्रोधोद्धत हो गया और अपनी तेजोलब्धि को फोड़ कर उसने सर्वानुभूति मुनि को भस्म कर डाला। यह सब करके भी उसने सन्तोष नहीं लिया। पुनः वह उसी प्रकार कटु प्रलाप करने लगा। सुनक्षत्र नामक मुनि ने सर्वानुभूति मुनि की तरह फिर उसे टोका। गोशालक ने उन्हें भी भस्म कर डाला। तीसरी बार गोशालक और

अधिक भगवान् के प्रति जहर उगलने लगा। भगवान् ने कहा—हे गोशालक ! मैंने तुझे प्रव्रज्या दी, यावत् बहुश्रुत किया। गोशालक ने भगवान् के प्रति भी अपनी तेजोलब्धि का प्रयोग किया। यह तेजोलेश्या भगवान् के शरीर से टकराई, शरीर परितप्त हुआ, पर वह शरीर में प्रवेश नहीं पा सकी। वह तेजोलेश्या वापिस होकर स्वयं गोशालक के शरीर में लग गई। शरीर में भीषण दाह लगी और वह जोर-जोर से बोलने लगा—यह काश्यप छः महीने के अन्दर छद्मस्थ स्थिति में ही मर जाएगा। भगवान् महावीर ने कहा—मैं तो अभी सोलह वर्ष तक गन्ध हस्ती की तरह विहार करूंगा। तुझने जो तेजोलेश्या मेरे पर छोड़ी थी, वह तेरे ही शरीर में प्रवेश कर गई है। इससे तू सातवें दिन छद्मस्थ स्थिति में ही काल-धर्म को प्राप्त होगा। नगर में चर्चा हुई कि दोनों जिन परस्पर विवाद कर रहे हैं और एक दूसरे को अभिशाप दे रहे हैं। गोशालक अपने स्थान पर चला गया। मन में तो वह समझता ही था कि महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थकर हैं। उन्होंने मेरे लिए जो कहा है, वह होकर रहेगा। उसने अपने शिष्यों को एकत्रित कर सारी वस्तुस्थिति सच-सच बता दी और अपने गुरुतर पाप के लिए अपने आपकी बहुत ही भर्त्सना की। आखिर भगवान् महावीर स्वामी के कथनानुसार वह सातवें दिन काल-धर्म को प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी को छः महीनों तक उस तेजोलेश्या से निष्पन्न शारीरिक परिताप भोगना पड़ा।

गोतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—आपका अन्तेवासी कुशिष्य गोशालक मर कर कहां गया है ? भगवान् ने कहा—मेरा कुशिष्य अन्तेवासी गोशालक यहां से मर कर बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ है। क्योंकि मरते समय उसने अपनी बहुत ही आत्म-भर्त्सना की है। परन्तु उससे पूर्व जो उसने गुरुतर पाप किये हैं, उनके फल उसके बाद नाना योनियों में भोगता रहेगा।

—भगवती सूत्र शतक १५ के आधार से

: ५ :

जिनरक्ष और रयणादेवी

चम्पानगरी में माकन्दी सार्थवाह के जिनपाल और जिनरक्ष दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र की यात्रा की थी और अपने व्यापार से बहुत सारा धन एकत्रित किया था। बारहवीं बार वे फिर लवण समुद्र की यात्रा के लिए प्रस्तुत हुए। माता-पिता ने निषेध किया, पर उन्होंने वह नहीं माना और यात्रा में चल पड़े। जब जहाज समुद्र के बीच पहुँचा तो बड़े जोर का तूफान आया। समुद्र की उत्तुंग लहरों से टकरा कर जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो गया। टूटा हुआ एक काष्ठ-खण्ड डूबते हुए दोनों भाइयों के हाथ लगा। उस पर बैठकर दोनों भाई सहज गति से तैरते हुए रत्नद्वीप नामक स्थल पर जा पहुंचे। उस द्वीप की स्वामिनी का नाम रयणादेवी था। उसने उन दोनों को देखा और उन्हें अपने आश्रय में ले लिया। तब से वे दोनों भाई उस कामातुर देवी के साथ भोग-विलास करते हुए वहीं रहने लगे।

एक दिन लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित नामक देव की आज्ञा से वह रयणादेवी लवण समुद्र की सफाई करने के लिए गई। जाते समय उन दोनों भाइयों को उसने कहा, दक्षिण दिशा के वन खण्ड को छोड़ कर और किसी भी दिशा के वन खण्ड में भ्रमण कर सकते हो। पीछे से दोनों भाइयों ने इच्छानुसार भ्रमण किया। सहसा मन में आया, दक्षिण दिशा के लिए देवी ने निषेध क्यों किया? वहां अवश्य कोई रहस्य है। हमें चलकर देखना चाहिए। वहां जाकर उन्होंने देखा, सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों के ढेर लगे हुए हैं और एक जीवित पुरुष शूली में पिरोया पड़ा है। यह स्थिति देखकर वे बहुत घबराए और उस मरणासन्न पुरुष से कुछ जानना चाहा। उसने कहा—जहाज के टूट जाने से मैं यहां आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी में रहने वाला घोड़ों का व्यापारी हूं। बहुत दिनों तक यह देवी मेरे साथ काम-भोग भोगती रही। मेरे द्वारा एक छोटा-सा अपराध हो जाने पर उसने मुझे यह दण्ड दिया है। तुम दोनों की भी किसी दिन यही स्थिति होने वाली है। पहले भी इसने कितने लोगों को मारा है, ये हड्डियों के ढेर स्वयं बता रहे हैं। यह सुनकर दोनों भाई बहुत भयभीत हुए और वहाँ से भाग निकलने का उपाय उससे पूछने लगे। उसने बताया, पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नामक एक यक्ष रहता है। उसकी आराधना करने से वह तुम्हें इस देवी के प्रपंच से

छुड़ा सकता है। दोनों भाई पूर्व दिशा के वन खण्ड में आए और उन्होंने शैलक यक्ष की आराधना की। प्रसन्न मुद्रा में यक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा, मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुंचा दूंगा, किन्तु वह देवी मार्ग ही में आकर तुम्हारे से अनु-नय-विनय करेगी और अपने हाव-भाव से तुम्हें मोहित करना चाहेगी। यदि तुम मन से भी उसकी ओर विचलित हुए तो मैं तुम्हें बीच ही में छोड़ दूंगा। दोनों भाइयों ने कहा—हम ऐसा नहीं होने देंगे। किसी भी प्रकार आप हमें ले चलिए। यक्ष ने घोड़े का रूप वनाया और दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बैठ जाने के लिए कहा। दोनों भाई पीठ पर बैठे और घोड़ा पवन वेग से आकाश मार्ग में उड़ने लगा। देवी अपने स्थान पर लौटी और दोनों भाइयों को वहां नहीं देखा तो क्षोभ हुआ। उसने अपने देव-सम्बन्धी ज्ञान से तत्काल यह पता लगा लिया कि शैलक यक्ष की पीठ पर बैठ कर दोनों भाई आकाश मार्ग से जा रहे हैं। वह तत्काल वहां पहुंची और उन्हें मोहित करने के लिए अनेक हाव-भाव दिखलाने लगी, अपने विरह की असह्य वेदना अभिव्यक्त करने लगी। जिनपाल दृढ़ रहा, विचलित नहीं हुआ। जिनरक्ष को उसकी अभ्यर्थना पर अनुकम्पा आई और वह रागपूर्वक उस की ओर देखने लगा। यक्ष ने उसे विचलित हुआ समझ कर पीठ से नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को देवी ने खड्ग में पिरो लिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। जिनपाल सकुशल चम्पानगरी में पहुंचा। अपने माता-पिता से मिला। कुछ समय तक सांसारिक सुख भोग कर उसने दीक्षा ग्रहण की। आयु शेष कर सौधर्म देवलोक में पहुंचा। वहां से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० ९ के आधार से

: ६ :

हरिणेगमेषी देव और सुलसा

भद्दिलपुर नाम का नगर था। वहां नाग नामक एक गृहपति रहता था। उसकी पत्नी सुलसा थी। किसी समय एक ज्योतिषी ने सुलसा को बताया कि तू मृत वन्ध्या है अर्थात् तुम्हारे पुत्र तो होंगे, किन्तु वे मृत स्थिति में ही पैदा होगें। यह सुनकर सुलसा बहुत दुःखित हुई। उसने हरिणेगमेषी देव की आराधना की। देव उपस्थित हुआ। सुलसा ने अपने दुःख की बात देव से कही। देव ने सुलसा पर अनुकम्पा करते हुए कहा—मृत को जीवित करना किसी के बस की बात नहीं है। अधिक-से-अधिक मैं यह कर सकता हूं कि तुम्हारे मृत पुत्रों को और किसी प्रसूता के यहां रख दूं और उसके स्वस्थ बालकों को तत्काल तुम्हारे यहां लाकर रख दूं। सुलसा ने देव की बात स्वीकार कर ली।

देव ने अपने ज्ञान-बल से जानना चाहा कि जब-जब सुलसा के पुत्र पैदा होंगे, तब-तब और किस स्त्री के पुत्र होने वाले हैं। उसे पता चला महाराजा वसुदेव की रानी देवकी के एक-एक कर छः पुत्र होने वाले हैं और राजा कंस एक-एक कर उन सब को मारने वाला है। देवता को यही सुन्दर उपाय सूझा कि देवकी के पुत्रों को सुलसा के यहां रख दिया जाए और सुलसा के पुत्रों को देवकी के यहां। देव ने वैसा ही किया। महारानी देवकी ने समझा, मेरे छवों पुत्र कंस द्वारा मार दिए गए हैं, पर वे चरम शरीरी छवों पुत्र सुलसा के यहां सकुशल जीवित रहे। उन छवों पुत्रों ने बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और किसी समय जब नेमिनाथ भगवान् द्वारिका में आए तो सहज संयोग से दो-दो कर वे सभी देवकी के यहां भिक्षा के लिए आए। देवकी को उन्हें देखने से सहज स्नेह उत्पन्न हुआ। नेमिनाथ भगवान् के पास जाकर जब उसने उसका कारण पूछा, तब नेमिनाथ भगवान् ने बताया कि ये छवों तेरे ही पुत्र हैं!

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: ७ :

हरीकेशी मुनि

एक चाण्डाल कुल में बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम माता-पिता ने हरिकेशी रखा। वह अत्यन्त कुरूप था। वड़ा हुआ तो अत्यन्त कटुभाषी और हो गया। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दोषों के कारण प्रत्येक आदमी उससे घृणा करता। यहां तक कि कटुम्व के लोग भी उसे अपने से दूर बैठने के लिए कहते। एक दिन जाति-भोज का प्रसंग आया। सब लोग आमोद-प्रमोद में एक साथ बैठ कर खा रहे थे। हरिकेशी को उस मधुर गोष्ठी से दूर कर दिया गया। उसका अपमानित हृदय कुछ सोच ही रहा था, उसी समय उस मधुर गोष्ठी के पास एक विषैला सर्प निकल आया। चाण्डाल लोग देखते ही उस पर टूट पड़े और तत्क्षण उसे मार डाला। कुछ ही समय पश्चात् एक निर्विष दुमुहा जन्तु निकला। चाण्डालों ने उसे मारा नहीं, प्रत्युत उसकी पूजा की। हरिकेशी को इस घटना ने आश्चर्य में डाल दिया। वह सोचने लगा, यह क्या ? एक की तर्जना और एक अर्चना। तत्काल उसके ध्यान में आया, सविषता और निर्विषता ही इसका एकमात्र कारण है। अपनी आत्मा के वारे में भी उसे यही सूझा। दूसरे लोगों का अनादर नहीं होता और मेरा होता है, इसका भी एकमात्र हेतु यही है कि मेरी वाणी में जहर भरा है। इस आत्म-चिन्ता में उसे जाति-स्मरण हो आया। प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और पूर्व संचित कर्मों के साथ लोहा लेने के लिए घोर तप करने लगे। उनके तपः-प्रभाव से एक यक्ष भी उनकी सेवा में रहने लगा।

एक दिन मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए एक यज्ञ-मण्डप में आ पहुंचे। वहां ब्राह्मणों ने मुनि के रंगरूप और चर्या की भर्त्सना की। यक्ष से यह सब न देखा गया। उसने मुनि के शरीर में प्रवेश कर उनसे वाद-विवाद करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी ब्राह्मण भिक्षा देने के लिए तैयार नहीं हुए, प्रत्युत तत्रस्थित विप्र-पुत्र वेंत, दण्डे और कोड़े से मुनि को पीटने लगे। मुनि के अनुकम्पक यक्ष ने अपने देव-वल से उन विप्र-पुत्रों को ओंधे मुख धरती पर गिरा दिया और सबके मुंह से रुधिर वहने लगा। अन्त में सभी लोगों ने आकर मुनि से क्षमा-याचना की, तो मुनि ने कहा—मेरा तुम लोगों के प्रति जरा भी रोष नहीं है। यह जो कुछ था, वह यक्षविहित था। उसने मेरी अनुकम्पावश यह सब किया।

——उत्तराध्ययन सूत्र अ० १२ के आधार से

: ८ :

धारिणी रानी की गर्भानुकम्पा

धारिणी रानी अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए यत्नापूर्वक बैठती थी, यत्नापूर्वक खड़ी होती थी, यत्ना के साथ सोती थी और वह अपने गर्भ की अनुकम्पा के लिए ऐसा आहार करती जो न अति तीक्ष्ण, न अति कटुक, न अति कषैला, न अति खट्टा और न अति मीठा होता। देश काल के अनुसार उस गर्भ के लिए हितकारक, परिमित व पथ्य आहार करती थी। अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह, अति भय तथा अति त्रास अपने-आपको नहीं होने देती। गन्धमाल्य व अलंकारों से युक्त होकर सुखपूर्वक अपने गर्भ का वहन करती थी।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १ के आधार से

: ९ :

रानी धारिणी

श्रेणिक राजा की एक रानी का नाम धारिणी था। एक बार जब वह गर्भवती हुई तो उसे अकाल मेघ का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद की पूर्ति के अभाव में वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी। राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने यह बात अपने पुत्र अभयकुमार से कही। अभयकुमार ने कहा—मैं दोहद-पूर्ति का उपक्रम करूंगा। वह अपने पूर्व भव के मित्र देव की आराधना में बैठा। तीन दिनों के उपवास की सफल आराधना से देव उपस्थित हुआ। अभयकुमार ने उसके सामने अपनी समस्या उपस्थित की। उस देव ने अपनी वैक्रयिक शक्ति से तत्काल मेघ बरसाया। रानी धारिणी राजा के साथ हाथी पर बैठ कर राजगृह के निकटस्थ वैभार पर्वत की अपत्यकाओं में आनन्दपूर्वक विहार करने लगी। इस प्रकार देवता ने अपने मित्र अभयकुमार पर अनुकम्पा की।

—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र अ० १ के आधार से

: १० :

श्रीकृष्ण द्वारा वृद्ध की अनुकम्पा

बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। संवाद पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव अपने विस्तृत परिकर के साथ वन्दन करने के लिए चले। दूर से उन्होंने देखा, एक वृद्ध पुरुष ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठा कर अपने घर में रख रहा है। श्रीकृष्ण को वृद्ध पर अनुकम्पा आई। उन्होंने राह चलते ही उस ढेर से एक ईंट उठा कर उस वृद्ध के घर रख दी। पीछे चलने वाले लोगों ने भी श्रीकृष्ण का अनुकरण किया। एक-एक ईंट उठा कर उन्होंने भी उसके घर रख दी। वृद्ध का श्रम-साध्य कार्य थोड़े में निपट गया।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ३ के आधार से

: ११ :

गजसुकुमाल

गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। वे वहुत सुकुमार थे। एक वार २२वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी में आए। श्रीकृष्ण के साथ गजसुकुमाल भी वन्दन करने के लिए आये और वहां भगवान् नेमिनाथ की देशना सुनी। चरम शरीरी होने के कारण गजसुकुमाल को तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हुआ और इस नश्वर संसार के प्रति अत्यन्त ग्लानि हुई। माता देवकी और ज्येष्ठ वन्धु श्रीकृष्ण ने उन्हें दीक्षा न लेने के लिए वहुत कुछ समझाया, पर वे अपने संकल्प में दृढ़ रहे। अन्ततोगत्वा माता और वन्धु को उनके दीक्षा-ग्रहण में सहमत हो जाना पड़ा। गजसुकुमाल दीक्षित हो गए। भगवान् नेमिनाथ की आज्ञा लेकर दीक्षा के प्रथम दिन ही उन्होंने भिक्षु की वारहवीं पड़िमा (प्रतिमा) अंगीकार की। रात को श्मशान-भूमि में जाकर ध्यानस्थ मुद्रा में वैठ गए।

सौमिल नामक ब्राह्मण की एक सुरूपा कन्या को गजसुकुमाल के साथ व्याह देने के लिए श्रीकृष्ण ने संकल्प कर रखा था। जव उस सौमिल को यह पता चला कि गजसुकुमाल ने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया है तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुआ। रात को वह उसी श्मशान-भूमि में आया और गजसुकुमाल को ध्यानस्थ मुद्रा में देखकर और भी क्रोधित हुआ। उस क्रोध विह्वल सौमिल ने ध्यानस्थ मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल लगा दी और वीच में श्मशान-भूमि के जल-जलते अंगारे लाकर रख दिए। गजसुकुमाल के धैर्य और अहिंसा की वह अग्नि-परीक्षा थी। गजसुकुमाल अडोल मेरु की तरह स्थिर रहे। उन्होंने अपने आप सब कुछ सहा, पर अग्निकायिक जीवों के प्रति और उस सौमिल के प्रति पूर्ण अनुकम्पा का भाव दिखाया। उसी उपसर्ग में वे कैवल्य प्राप्त कर मोक्षगामी हुए।

—अन्तगडदसाङ्ग सूत्र अ० ८ के आधार से

: १२ :

नमि राजर्षि

मिथिला नगरी में नमि नामक राजा थे। एक वार उनके शरीर में दाह-ज्वर का रोग उत्पन्न हुआ। असह्य वेदना से राजा व्याकुल हो उठे। उन्हें कुछ नहीं सुहाता। यहां तक कि रानियां उनके शरीर पर विलेपन करने के लिए चन्दन घिस रही थी और उनके कंकणों से जो शब्द हो रहा था, वह भी राजा के लिए असह्य हो गया। राजा ने कहा—शब्द बन्द होना चाहिए। रानियों को यह सूचना दी गई तो उन्होंने एक-एक कंकण अपने हाथों में रखा। शेष उतार कर एक ओर रख दिए। शब्द बन्ध हो गया। कुछ ही समय पश्चात् राजा ने कहा—शब्द बन्ध कैसे हो गया? क्या रानियों ने चन्दन घिसना बन्ध कर दिया? उत्तर मिला—किसी भी रानी के हाथ में दो कंकण नहीं हैं, एक-एक ही कंकण हरएक के हाथ में है। इसलिए शब्द नहीं होता। नमि राजा को इस एक और अनेक की घटना से प्रतिबोध मिला। एकाकीपन में शान्ति है। अनेकता ही संघर्षों का कारण है। रोग शान्त हुआ। नमि राजा ने प्रत्येक बुद्ध होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। एकाकी विहार करने लगे। उन नमि राजर्षि के निर्मोह-भाव की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के रूप में इन्द्र आया। उसने अपनी देव-शक्ति से दिखलाया कि मिथिला नगरी सांय-सांय कर जल रही है। वह राजर्षि से बोला—मुने! आपकी यह मिथिला कुछ ही क्षणों में भस्मसात् हो जाने वाली है। आप इसकी शान्ति का कोई उपक्रम करें। आपकी आंखों में अमृत है, आप एक वार झांक भी लेंगे तो मिथिला-दहन शान्त हो जाएगा। देखिए, आपकी रानियां, पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक, सभासद् स्त्री, वाल, वृद्ध आदि नागरिक, हाथी, घोड़े, गाय आदि पशु किस प्रकार रोदन कर रहे हैं। आप उन सव पर करुणा कर एक वार उनकी ओर झांके। नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—

सुहं वसामो जीवामो जसिं मे नत्थि किंचणं।
मिहिलायां डज्झमाणायां न मे डज्झइ किंचणं॥

मैं सुख में वश रहा हूं, सुख में जी रहा हूं। मिथिला के जलने में मेरा अपना कुछ नहीं जल रहा है। इस प्रकार अनेक वार कहने पर भी नमि राजर्षि ने मिथिला की ओर नहीं झांका और अपनी निर्मोह स्थिति में लीन रहे।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ के आधार से

: १३ :

संगम और महावीर

एक दिन इन्द्र-सभा में छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर की चर्चा चली। सभी देवों ने और विशेषकर इन्द्र ने उनकी कष्ट-सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। संगम नामक एक मिथ्यादृष्टि देव को यह सब नहीं रुचा। वह भगवान् महावीर को पीड़ित करने के लिए उनके पीछे पड़ गया। कभी-कभी वह ग्राम में चोरी कर लेता और ध्यानस्थ भगवान् महावीर के पास आकर वह चुराई हुई चीज रख देता। लोग जब पूछते तू ने चोरी क्यों की, तो वह उत्तर देता—मेरे इस गुरु ने मुझे कहा था। अज्ञानी लोग भगवान् श्री महावीर को यातना देते। छः महीने तक यह क्रम चलता रहा। कभी कुछ कभी कुछ, पर महावीर अपनी साधना में अटल रहे। उन्होंने जरा भी रोष उस संगम देवता पर प्रगट नहीं किया। एक दिन तो उसी संगम देव ने केवल एक रात में भगवान् श्री महावीर को बीस मारणान्तिक कष्ट दिए। फिर भी भगवान् अपनी शान्ति और क्षमता में ज्यों के त्यों अडोल रहे। कहा जाता है, अन्त में इन्द्र ने स्वयं आकर अपने वज्र से उस देवता को प्रताड़ित किया। अपने देवलोक से बाहर निकाला। उसने मेरु पर्वत पर जाकर सदा के लिए वास किया।

—कल्पसूत्र के आधार से

: १४ :

चूलनीपिता

काशी नगरी में चूलनीपिता नामक गृहपति रहता था। उसके पास चौवीस करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थीं, जिनमें आठ करोड़ सुरक्षित आगार में, आठ करोड़ व्यापार में और आठ करोड़ भोगोपभोग में थी। वह अस्सी हजार गायों का स्वामी था। भगवान् श्री महावीर के पास धर्म-श्रवण कर वह धर्मोपासक वना। एक दिन वह जव पोषधशाला में पौषध-व्रत कर रहा था, एक देवता आया और उसे पौषध-व्रत छोड़ देने के लिए कहने लगा। चूलनीपिता के न मानने पर देवता ने उसके वड़े लड़के को सामने लाकर मारा और उसके शरीर के मांस खण्डों को उसे देखते-देखते तेल के कड़ाहे में तला। चूलनीपिता स्थिर रहा। देवता ने दूसरे पुत्र की भी वही गति की और तीसरे की भी। चूलनीपिता को अडोल देखकर देवता वोला—हे चूलनीपिता! यदि तू अव भी व्रत का त्याग नहीं करता तो अव मैं तेरे पुत्रों की तरह तेरी माता को भी, जिसे तू देव और गुरु के वरावर मानता है, तेरे सामने लाकर इसी प्रकार मार डालूंगा। माता की अनुकम्पा से द्रवित होकर चूलनीपिता उठ खड़ा हुआ। उस देव को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ा और जोर-जोर से चिल्लाया। देव अन्तर्धान हो गया और उसकी वांहों में एक खम्वा आ गया। कोलाहल सुनकर उसकी मां भद्रा उसके पास आई और वोली—हे पुत्र! तू जोर-जोर से क्यों चिल्ला रहा है? चूलनीपिता ने सारी घटना कह सुनाई। उसकी माता ने कहा—पुत्र! यह सव देव माया थी। न ही तेरे पुत्र मारे गए और न मुझे ही कोई मारने वाला था। तू व्यर्थ ही मेरी अनुकम्पा के लिए उठा। तेरा पौषध-व्रत भंग हुआ है। तू इसका प्रायश्चित्त कर। तदनुसार चूलनीपिता व्रत-भंग की आलोचना कर शुद्ध हुआ। वहुत वर्षों तक श्रावक-पर्याय का पालन कर वह देव गति में उत्पन्न हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ३ के आधार से

: १५ :

सुरादेव

वाराणसी में सुरादेव नामक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थीं। साठ हजार गायें थीं। भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर श्रमणोपासक बना। एक दिन जबकि वह पौषध-व्रत में था, एक दुष्ट देव ने पौषध-व्रत छोड़ देने को कहा। जब उसने यह न माना, देवता ने उसके बड़े लड़के का उसके सामने वध किया और उसने सुरादेव के शरीर में सोलह भयंकर रोग उत्पन्न करने का डर दिखाया। सुरादेव विचलित हो गया और उस देवता को पकड़ने के लिए दौड़ा। देवता आकाश में अन्तर्धान हो गया और उसके हाथ में पौषधशाला का खम्भा आगया। उसके चिल्लाने की आवाज सुनकर उसकी पत्नी धन्या उसके पास आई और चिल्लाने का कारण पूछने लगी। उसने सारा हाल कह सुनाया। धन्या ने कहा—यह सब देव माया थी। तुम्हारा पौषध-भंग हो चुका है। इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार सुरादेव ने अपने भग्न-व्रत की आलोचना की और कालान्तर से मृत्यु धर्म को प्राप्त हो स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ४ के आधार से

: १६ :

चुल्लशतक

आलम्बिका नगरी में चुल्लशतक नामक एक गृहपति रहता था। उसके पास अठारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और साठ हजार गायें थीं। भगवान् श्री महावीर से धर्मोपदेश सुनकर वह श्रमणोपासक बन गया। पौषध-व्रत में देवता ने आकर कहा—पौषध-व्रत छोड़ दो, नहीं तो तेरी सारी सम्पत्ति इधर-उधर फेंक कर मैं ध्वस्त कर देता हूं। वह देव को पकड़ने के लिए दौड़ा। देव अदृश्य हो गया और उसके हाथ में खम्भा रह गया। चिल्लाने की आवाज सुन कर उसकी पत्नी बहुला आई और उस देव माया को समझा कर उसे पौषध-व्रत भंग करने का प्रायश्चित्त करवाया।

—उपासकदसांगसूत्र अ० ५ के आधार से

: १७ :

शकडालपुत्र

पोलासपुर नगर में शकडालपुत्र नामक कुम्भार रहता था। उसके पास तीन करोड़ स्वर्ण मुद्राएं व दस हजार गायें थीं। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। भंड-निर्माण का उसके वहुत वड़ा उद्योग था। वह आजीवक सम्प्रदाय के नायक गोशालक का अनुयायी था। एक दिन अशोक वाटिका में वह आजीवक मत के अनुसार व्रत-साधना कर रहा था। उस समय एक देवता प्रकट हुआ और बोला—देवानुप्रिय कल यहां 'महामाहण' आने वाला है। वह जिन है और त्रिलोकपूज्य है। तुम उसे प्रणाम करना और उसकी सेवा करना।

शकडालपुत्र सोचने लगा—मेरे धर्माचार्य मंखलीपुत्र गोशालक ही 'महा-माहण' और त्रिलोकपूज्य हैं। वे ही कल यहा आयेंगे। मैं उनकी सेवा करूंगा।

दूसरे दिन वहां महावीर स्वामी श्रमण-समुदाय के साथ पधारे। सहस्रों लोग दर्शन और व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुए। शकडालपुत्र के मन में भी कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह भी भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन करने के लिए आया। भगवान् श्री महावीर ने कहा—कल जो किसी देव ने आकर किसी 'महामाहण' के आने की सूचना तुझे जो दी थी, वह गोशालक के लिए नहीं थी। यह रहस्योल्लेख सुन कर शकडालपुत्र वहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी दुकानों में निवास करने के लिए भगवान् श्री महावीर को आमंत्रित किया। भगवान् वहां आए और रहने लगे। शकडालपुत्र नितान्त नियतिवादी था। एक दिन जबकि मिट्टी के वर्तनों को सुखाने का काम चल रहा था, भगवान् श्री महावीर ने शकडालपुत्र से कहा—देवानुप्रिय ! क्या ये सारे वर्तन विना प्रयत्न किए ही तैयार हुए हैं ?

शकडालपुत्र—ये प्रयत्न से नहीं बने हैं। जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है।

भगवान्—यदि कोई इन वर्तनों को तोड़ डाले या अग्निमित्रा के साथ सह-वास करे, तो तुम क्या करोगे ?

शकडालपुत्र—मैं उसे शाप दूंगा, उस पर प्रहार करूंगा और मार डालूंगा।

भगवान्—यदि यह तथ्य है—जो कुछ होना है, वह नियतिवश ही होना है, तो ऐसा करने के लिए क्यों उद्यत होते हो ?

यह सुन कर शकडालपुत्र को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ और उसने गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। महावीर स्वामी विहार कर गए।

एक दिन गोशालक शकडालपुत्र को पुनः अपने धर्म में आरूढ़ करने के लिए उसके घर आया। शकडालपुत्र ने उसे किंचित् भी सम्मान नहीं दिया। गोशालक ने और कोई रास्ता न पाकर भगवान् महावीर स्वामी की प्रभावशाली स्तुति की। शकडालपुत्र बोला—हे गोशालक! तुमने मेरे धर्माचार्य की स्तुति की है, इसलिए मैं तुम्हें अपनी दुकानें रहने के लिए और शय्या संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता हूं। गोशालक दूकानों में रहा। शकडाल पुत्र को फिर से अपने सम्प्रदाय में लाने के लिए प्रयत्नशील बना, पर सफलता मिलती न देखकर वहां से अन्यत्र विहार कर दिया।

इस प्रकार श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते हुए शकडालपुत्र को चौदह वर्ष बीते। पन्द्रहवें वर्ष में जबकि वह एक दिन पौषध-व्रत की उपासना में था, एक देवता आया और उसके पौषध-व्रत को भंग करने के लिए एक-एक कर उसके तीन पुत्रों को उसके सामने मारा और उनके मांस-खण्ड तेल में तले। फिर वह देवता अग्निमित्रा भार्या को मारने के लिए उद्यत हुआ। शकडालपुत्र उसे पकड़ने के लिए दौड़ा। देवता आकाश में उड़ गया और उसके हाथ में खम्भा आ गया। कोलाहल सुनकर अग्निमित्रा उसके पास आई और वस्तुस्थिति का ज्ञान कराते हुए बोली—तुम्हारे पुत्र सकुशल हैं और मैं सकुशल हूं। पौषध-व्रत में मुझे बचाने के लिए उठे, इसका प्रायश्चित्त करो। तदनुसार शकडालपुत्र प्रायश्चित्त कर शुद्ध हुआ और कालान्तर से स्वर्गवासी हुआ।

—उपासकदसांग सूत्र अ० ७ के आधार से

: १८ :

चेटक और कोणिक का संग्राम

राजगृह नगर में श्रेणिक (बिम्बसार) राजा राज्य करता था। उसके ज्येष्ठ पुत्र कोणिक ने उसे कारावास में डलवा दिया और स्वयं राजसिंहासन पर बैठा। श्रेणिक अपनी विडम्बना के भय से विष-प्रयोग कर मर गया। कोणिक राजा के काल, सुकाल आदि सौतेली माताओं से उत्पन्न ग्यारह भाई और थे। सबसे छोटा भाई विहल्लकुमार था। श्रेणिक राजा ने अपने जीवन-काल में ही दो वस्तुएं उसे विशेष रूप से प्रदान की थीं। एक सेचानक नामक गन्ध हस्ती और एक अठारहसरा वंकूचल नामक हार। उस हार और हाथी के प्रयोग ने कोणिक की महारानी पद्मावती के मन में ईर्ष्या उत्पन्न कर दी। वह हठ लेकर बैठ गई। कोणिक ने उसे समझाया कि ये दो वस्तुएं उसे पिताजी के अनुग्रह से उपलब्ध हुई हैं। उन्हें हमें मांगने का कोई अधिकार नहीं है। महारानी अपने हठ पर डटी रही। अन्त में कोणिक को यह मान ही लेना पड़ा कि किसी भी प्रकार से मैं ये दो वस्तुएं तुम्हें प्राप्त करा ही दूंगा। कोणिक ने विहल्लकुमार से हार व हाथी की याचना की। विहल्लकुमार ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। विहल्लकुमार को यह भी पता चला कि कोणिक बलपूर्वक भी इन वस्तुओं को लेना चाहेगा। वह चतुरता से हार, हाथी व अपने अन्तःपुर को लेकर विशाला नगरी में अपने नाना चेटक की शरण में चला गया। कोणिक राजा ने एक दूत चेटक राजा के पास भेजा और उसके द्वारा रोष भरे शब्दों में सन्देश कहलाया—हार व हाथी के सहित विहल्लकुमार को आप मुझे सौंप दें। चेटक राजा ने दूत से कहा—तुम कोणिक से कहना, जिस प्रकार तुम चेलना के पुत्र और मेरे दोहिते हो, उसी प्रकार विहल्लकुमार भी चेलना का पुत्र और मेरा दोहिता है। विहल्लकुमार को अपने हिस्से का राज्य भी नहीं मिला और अब तुम उससे हार व हाथी भी लेना चाह रहे हो, यह अनुचित है।

दूत ने आकर कोणिक को सारे समाचार सुनाएं। कोणिक नेससैन्य अपने दस भाइयों को बुला लिया और राजा चेटक पर चढ़ाई कर दी। चेटक राजा ने भी अपने मित्र नव मल्लि वंश के राजाओं को और नव लच्छि वंश के राजाओं को बुला लिया और विहल्लकुमार विषयक वार्ता बता कर उन्हें युद्ध के लिए सहमत किया। दोनों ओर की सेनाएं युद्ध में आ डटीं। घोर संग्राम होने लगा। चेटक राजा को अमोघ बाण होने का वरदान मिला हुआ था। काल, सुकाल आदि दस

भाई एक-एक कर सेनापति होकर आए और चेटक राजा के अमोघ बाण से धराशायी हो गए। कोणिक राजा ने तीन दिनों का तप कर अपने पूर्व भव के मित्र शक्रेन्द्र और चरमेन्द्र की आराधना की। वे दोनों सहायक होकर युद्ध में उतरे। प्रथम दिन महाशिला नामक संग्राम हुआ और चेटक राजा के सैनिक उस देवी शिलापात से मरने लगे। दूसरे दिन रथमूसल संग्राम हुआ। उसमें मूशल-प्रहार से चेटक के सैनिक बड़ी संख्या में मरे। कहा जाता है कि इन दो दिनों के संग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गए। इस दैवी-शक्ति के सामने चेटक राजा नहीं ठहर सका और विशाला नगरी में जा घुसा। नगरी के दरवाज़े बन्द कर दिये गए। कोणिक राजा अपने समग्र बल से से भी दरवाज़ों और प्राकार को गिरा कर नगरी में न जा सका। लम्बी अवधि के पश्चात् एक कुलवालक नामक गुरु-द्रोही और भ्रष्टात्मा तपस्वी साधु की सहायता से वह नगरी में प्रवेश पा गया। हार देव प्रदत्त था; अतः वह देवों द्वारा अपहृत हो गया और हाथी नगर प्राकार की खाई के अग्नि प्रकोप में फंस कर काल-धर्म को प्राप्त हा गया।

चेटक राजा ने एक प्रछन्न स्थान में आमरण अनशन द्वारा अपना अन्त कर लिया। इस प्रकार बिना किसी यथेष्ट परिणाम के यह नर-घातक युद्ध समाप्त हो गया।

—निरयावलिया सूत्र अ० २ से १० के आधार से

: १६ :

समुद्रपाल

चम्पानगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। एक बार व्यापार करने के लिए वह जहाज द्वारा पिहुंड नगर में आया और वहां व्यापार करने लगा। थोड़े ही दिनों में व्यापार बहुत बढ़ा और वह नगर का प्रतिष्ठाप्राप्त व्यापारी बन गया। एक वैश्य ने अपनी लावण्यवती कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। आनन्दपूर्वक समय बीतने लगा। कुछ दिनों पश्चात् अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लेकर पालित श्रावक जलपोत द्वारा चम्पानगरी जाने के लिए बिदा हुआ। पालित की पत्नी ने समुद्र में चलते उस जलपोत में ही एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र में पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। बालक बहुत ही कान्तिवान् और जलप्रिय था। उपयुक्त वय में उसने योग्य गुरु से बहत्तर कलाओं व नीति-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। युवावस्था में सुरूपा कन्या के साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ। रमणीय महलों में वह सांसारिक सुखों का भोग करके रहने लगा।

एक दिन वह अपने महल के गवाक्ष में बैठा हुआ राजपथ की हलचल देख रहा था। इतने ही में उसने देखा—एक चोर को वधक जन बध्य भूमि की ओर लिए जा रहे हैं। उस चोर की स्थिति पर विचार करते हुए उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह एकाएक समस्त भोग-विलासों को ठुकरा कर साधु बन गया। अनेक वर्षों तक संयम का यथाविधि पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुआ।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० २१ के आधार से

: २० :

आनन्द श्रावक

वाणिज्य ग्राम नामक एक नगर था। आनन्द गृहपति वहां रहता था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और चालीस हजार गायें थीं। वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर कोलाक नामक सन्निवेश था। वहां आनन्द गृहपति के अनेक स्वजन मित्र रहते थे। उस सन्निवेश में एक बार भगवान् श्री महावीर आए। वहां जितशत्रु राजा वन्दन के लिए गया। संवाद पाकर आनन्द गृहपति भी वहां गया। सभी ने शान्त चित्त प्रवचन सुना। प्रवचन के पश्चात् राजा तथा अन्य लोग अपने-अपने स्थान गए। आनन्द वहां रुका रहा और उसने पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

चौदह वर्ष तक वह श्रावक-पर्याय पालता रहा। पन्द्रहवें वर्ष में अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना सारा दायित्व सम्भला कर पौषधशाला में रह कर एकादश श्रावक-पडिमा की आराधना करने लगा। शरीर में शैथिल्य का संचार होते देखकर उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। उस आमरण अनशन से उसे सुविस्तृत अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ। जिससे वह उत्तर में चूल हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में पांच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और अधो प्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक देखने और जानने लगा।

उन्हीं दिनों भगवान् श्री महावीर उद्यान में आए। गौतम स्वामी तेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान् श्री महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर में आए। नगर में आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी तो देखने का भाव उनके मन में उत्पन्न हुआ। वे आनन्द की पौषधशाला में आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा, भगवन् गौतम, क्या आमरण अनशन में गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

गौतम—हां, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं में इतना विशाल है।

गौतम—आनन्द, गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं मिल सकता। अनशन में तेरे से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है; अतः तू इसकी आलोचना या

प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—प्रभो! महावीर प्रभु के शासन में सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का?

गौतम—असत्याचरण का।

आनन्द—प्रभो! आप ही प्रायश्चित्त करें। आप ही से असत्याचरण हुआ है।

आनन्द की इस दृढ़तापूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए। वहां से चलकर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हें कह सुनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है। तू आनन्द के पास जा और उससे क्षमा-याचना कर।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आए और कहा—आनन्द! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है। मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हूं।

—उपासकदसांगसूत्र अ० १ के आधार से

: २१ :

श्रेणिक का नरक-गमन

भगवान् श्री महावीर वृहत् श्रमण-समुदाय के साथ राजगृह नगर में पधारे। श्रेणिक राजा राज-परिवार और सेना के साथ बड़े ठाट से वन्दन करने के लिए आया। विशाल परिषद् में धर्मोपदेश हुआ। देशना के अनन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्र भाव से भगवान् से पूछा—भगवन्! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन में मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मैं यथार्थ मानता हूं। आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है। आप बताएं मैं यहां से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूंगा? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी। श्रेणिक के मन में अपूर्व उत्साह था और निश्चय था—भगवान् मेरे लिए कोई विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे।

भगवान् ने उत्तर दिया—श्रेणिक! यहां से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक में पैदा होगा।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया। सारी परिषद् विस्मित हो उठी। भगवान् ने कहा—श्रेणिक! डरो मत। विराट सुखों की ओर जाते हुए तुम्हारा यह नरकावास बहुत ही लघु है। उस नरक योनि को पार कर तू फिर मनुष्य-योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक—भगवन्! किन कर्मों के परिणाम स्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला?

भगवान्—तू ने आर्हद्-धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था कि मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक ही बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बींध गए। उस अकृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निकाचित (नहीं टूटने वाला) कर्म बन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा।

वृद्धावस्था में यही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास में डाला गया। माता चेलणा के द्वारा कोणिक दुत्कारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चाताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारवास की ओर गया। श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा। अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊं। राजा के हाथ में विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म-हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ।

—निरयावलिया सूत्र अ० १ के आधार से

: २२ :

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्तमुनि

चित्त नामक मुनि थे। ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती था। दोनों ने ज्ञान-बल से अपने पिछले पांच भवों को देखा। पिछले भवों की सहवर्तिता के कारण इस छठे भव में भी दोनों का अनुरागपूर्ण मिलन हुआ। चक्रवर्ती को अपने भाई की त्याग-दशा पर दया आई। उसने बहुत प्रकार से उसे काम-भोगों के लिए आमन्त्रित किया, पर मुनि का मन जरा भी विचलित नहीं हुआ। प्रत्युत मुनि ने कहा—सर्व गीत विलाप रूप हैं। नाटक विडम्बना रूप हैं। सर्व प्रकार के आभूषण भार रूप हैं और सर्व काम-भोग दुःख के देने वाले हैं। जिस प्रकार सिंह मृग को पकड़ कर मृत्यु के मुख में पहुंचा देता है उसी प्रकार निश्चय ही मृत्यु अन्त समय में इस जीव को परलोक में पहुँचा देती है। उस समय माता-पिता और बन्धु उसे रोक नहीं सकते। इसलिए राजन्! तू ही काम-भोगों को छोड़ कर संयम ग्रहण कर। चक्रवर्ती ने कहा मैं—मानता हूं, मुनिवर तुम जो कह रहे हो, वह सब सच है, पर मैं अपने आसक्ति भाव को छोड़ कर संयम-पथ पर चल सकूं, ऐसा मनोबल नहीं रखता। अन्त में दोनों एक-दूसरे से अलग हुए और अपने-अपने रास्ते से जीवन भर चलते रहे। इस मनुष्य गति को छोड़ कर दोनों दो उत्कृष्ट गतियों को प्राप्त हुए, मुनि मोक्ष गति को और चक्रवर्ती सप्तम नरक को।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ के आधार से

: २३ :

नन्दन मणिहारा

राजगृह नगरी में नन्दन नामक मणिहारा रहता था। वह धन धान्यादि से सम्पन्न और नगर के प्रमुख लोगों में से एक था। कालान्तर से वह जैन श्रावक बन गया। नाना व्रत नियमों की आराधना करने लगा। एक बार ग्रीष्मकाल में उसने तीन दिनों का पौषध-व्रत किया। भयंकर गर्मी पड़ी। प्यास से उसका मन आकुल-व्याकुल हो उठा। परिणामों की स्थिति विषम हो गई। वह सोचने लगा, धन्य है वे लोग जो कुआं, बावड़ी आदि बनवाते हैं। मुझे भी ऐसा ही धर्म करना चाहिए।

प्रातःकाल भोजन आदि से निवृत्त होकर राजा के पास गया और भूमि-याचना की। राजाज्ञा पाकर उसने एक विशाल पुष्करिणी तैयार करवाई। उसके चारों ओर चार बाग लगवाए। पूर्व के बाग में चित्रशाला, दक्षिण के बाग में दानशाला, पश्चिम के बाग में औषधशाला और उत्तर के बाग में अलंकारशाला बनवाई। सहस्रों लोग वहां आते और इच्छित सुख-सुविधा प्राप्त करते। नगर में नन्दन मणिहारे की श्लाघा फैल गई।

अन्त में नन्दन मणिहारा के शरीर में एक साथ कुष्ठादि सोलह रोग उत्पन्न हुए। नाना उपचारों से भी वे शान्त न हुए। अपनी प्रवृत्तियों में आसक्त नन्दन मणिहारा मरा और उसी पुष्करिणी में दर्दुर रूप से उत्पन्न हुआ। आते-जाते लोग नन्दन मणिहारे की प्रशंसा करते। वह सब सुन कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने अपने आपको पहिचाना। अपने मिथ्याचरण का पश्चाताप किया। फिर से श्रावक के बारह व्रत पालन करने लगा। भगवान् श्री महावीर राजगृह में पधारे। पुष्करिणी पर जल भरने के लिए आती-जाती स्त्रियों के मुख से यह संवाद उस दर्दुर को भी मिला।

नन्दन दर्दुर यह संवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। फुदक-फुदक कर वह भी भगवान् के दर्शनों के लिए चल पड़ा। राजमार्ग पर श्रेणिक राजा का भी आगमन हो रहा था। अकस्मात् वह दर्दुर राजा श्रेणिक के घोड़े के पैर से कुचला जाकर घायल हो गया। राज-मार्ग के एक ओर हट कर उसने भगवान् श्री महावीर को वन्दन किया और आमरण अनशन कर लिया। वह शुभ ध्यानरत वहां से मरा और प्रथम देवलोक में दर्दुरावतंसक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र अ० १७ के आधार से

: २४ :

पार्श्व प्रभु और धरणेन्द्र पद्मावती

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभु जब कुमारावस्था में थे, एक बार वन-क्रीड़ा से नगर की ओर जा रहे थे। देखा, रास्ते के एक ओर एक जटाधारी तपस्वी धुनी तप रहा था। नगर के अनेकानेक प्रमुख लोग उसकी तपस्या से प्रभावित होकर उसके चारों ओर एकत्रित हो रहे थे। पार्श्वकुमार ने कहा—तपस्विन् ! यह तुम्हारा कैसा तप ? अनगिन जीवों को भस्म कर तुम अपना कल्याण चाहते हो ?

तपस्वी—राजकुमार ! तुम धर्म के रहस्य को क्या समझते हो, दूधमुंहे बच्चे हो। क्या मेरी इस धुनी में कोई जलता हुआ जीव तुझे नजर भी आ रहा है ?

पार्श्वकुमार—तुम्हारी धुनी में जो बड़ा लक्कड़ जल रहा है, उसके अन्दर विशालकाय सर्प और सर्पिणी जल रहे हैं। यह मैं तुम्हें अपने ज्ञान-बल से बताए देता हूं।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारा ज्ञान मिथ्या होगा। देखो मैं अभी इस लक्कड़ को चीर देता हूं। 'प्रत्यक्षस्य किं प्रमाणम्' यह कह कर उसने तत्काल कुल्हाड़ी उठाई और उस लक्कड़ को चीर डाला। उसी समय एक सर्प और सर्पिणी तिलमिलाते हुए बाहर आए। वे मरणासन्न स्थिति में थे। पार्श्वकुमार ने उनको नवकारमन्त्र सुनाया और चार शरण दिए। वे वहां से मर कर धरणेन्द्र और पद्मावती हो गए। परिषद् में उस कमठ तापस की भर्त्सना हुई। लोग धिक्कारने लगे और कहने लगे यह कैसा धर्म ? तापस पार्श्वकुमार पर बहुत क्रुद्ध हुआ, पर करता भी क्या ?

पार्श्वकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और तपस्या, कायोत्सर्ग आदि करने लगे। वह कमठ तापस भी नाना तपस्या करता हुआ मरा और साधारण-सी देवगति में उत्पन्न हुआ। एक दिन पार्श्वनाथ प्रभु को कायोत्सर्ग मुद्रा में देख कर उसके मन में प्रतिशोध जगा और वह मूसलाधार पानी बरसाने लगा। उसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती के सिंहासन डोल उठे। पद्मावती ने उपस्थित होकर सिंहासन की विकुर्वणा की और धरणेन्द्र ने पार्श्वप्रभु के ऊपर छत्र धारण किया। कमठ को पुनः पराजित होना पड़ा।

—पार्श्वचरित्र के आधार से

: २५ :

राम और सुग्रीव का उपकार सम्बन्ध

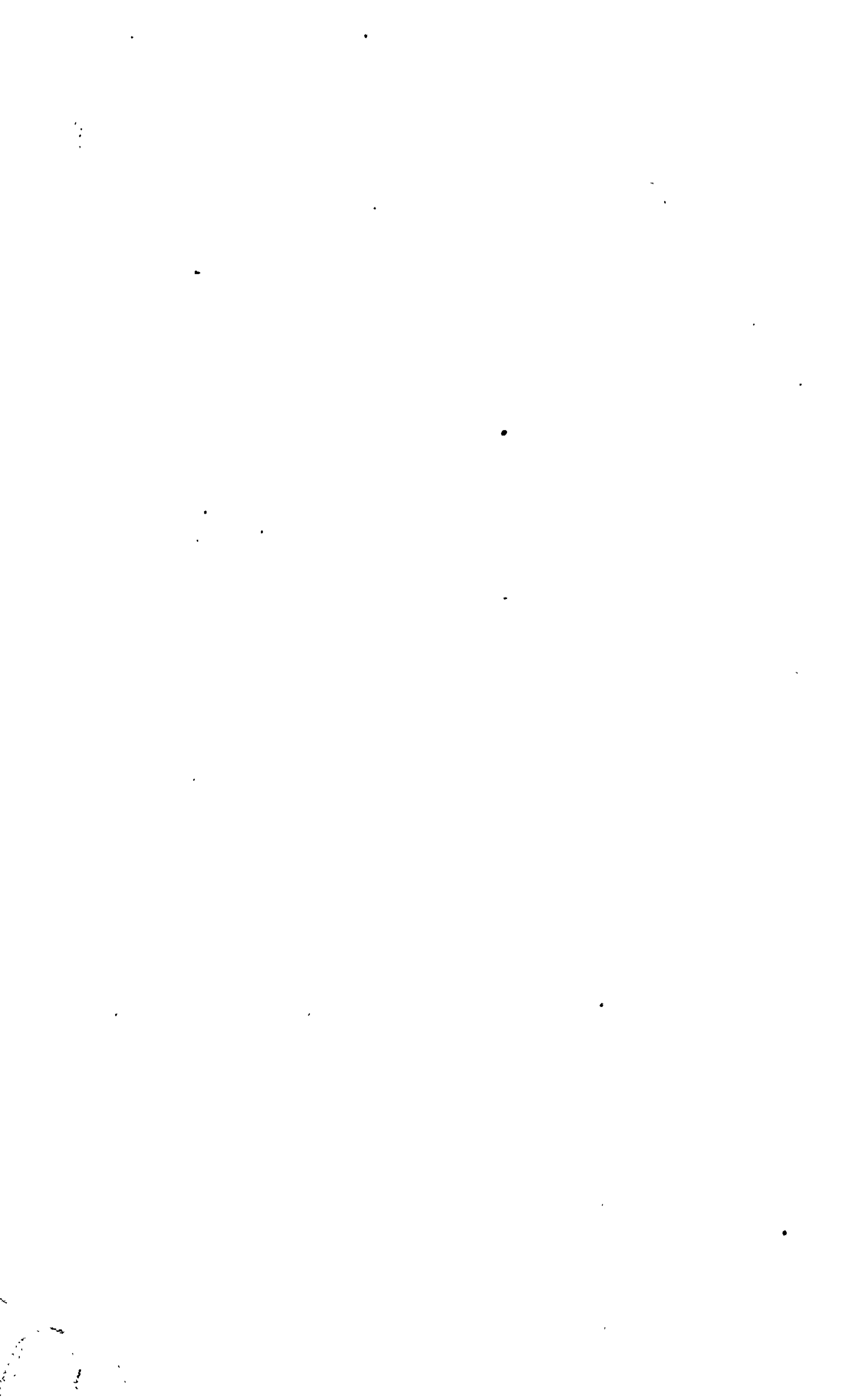
राम का जीव किसी एक भव में महापुर नामक नगर में एक श्रेष्ठि-पुत्र था। उसका नाम पद्मरुचि था। वह धर्म तत्त्व का ज्ञाता, द्वादश व्रतधारी श्रावक था। एक दिन महापुर नगर से एक गोकल गुजरा। एक वृषभ अशक्त होकर रास्ते पर ही गिर पड़ा। गोकुल आगे चला गया। असहाय वृषभ अपनी अन्तिम श्वासें गिन रहा था। श्रेष्ठि-पुत्र पद्मरुचि वहां सहज ही पहुंचा। उसके मन में वृषभ की मरणासन्न स्थिति पर करुणा आई। वह सद्भावपूर्वक वहां ठहरा। वृषभ को चार शरण दिलाए, नवकारमन्त्र सुनाया। वृषभ उस सद्विचार के साथ मरा और उसी पुण्य-प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रछाय के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम वृषभध्वज दिया।

एक दिन राजकुमार क्रीड़ा करता हुआ वहीं पहुंच गया, जहां अपने वृषभ के भव में वह मरा था। स्थान को देख कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्व भव का सारा वृत्तान्त उसे याद आ गया। उसे अपने उपकारी से मिलने की और उस पर प्रत्युपकार करने की प्रवल इच्छा हुई। उसने वहां एक देहरा वनवा दिया और उसकी दीवारों पर उस घटित घटना का चित्र वनवा दिया। वहां एक आरक्षक नियुक्त किया और उससे कहा, जो कोई व्यक्ति इस चित्र के हार्द को समझने वाला आए, उसे मेरे पास ले आओ। वह मेरा परम उपकारी है।

किसी दिन श्रेष्ठिकुमार पद्मरुचि जो अव स्वयं श्रेष्ठि के नाम से ही विख्यात हो चला था, वहां आ गया। उसने चित्र देखा। सारी घटना तत्काल स्मृति में आई। आरक्षक से उस देहरे का वृत्तान्त जाना, तो उसने समझ लिया कि इस नगर का राजा वृषभध्वज ही मेरे द्वारा उपकृत उस वृषभ का जीव है। आरक्षक के साथ वह राजदरवार में पहुंचा। परिचय पाकर राजा उसके चरणों में गिर पड़ा और वोला, यह राज्य आपकी ही देन है। अतः आप इसका उपभोग करें।

राजा ने नगर में सेठ को अपना ज्येष्ठ-वन्धु घोषित कर दिया। राज-काज भी उसके परामर्श से चलाने लगा। तात्पर्य, नगर के लोग दोनों को ही राजा की बुद्धि से देखते। दोनों का प्रेम अन्त तक निभा। जन्मान्तर से वे ही दोनों मित्र राम और सुग्रीव हुए। सेठ का जीव राम, वृषभ का जीव सुग्रीव। सेठ ने वृषभ का उपकार किया था। अतः सुग्रीव ने सीता की खबर ला कर अपने उपकार का वदला चुकाया।

—रामचरित्र गीति ५० के आधार से



परिशिष्ट २

पारिभाषिक शब्दकोष

सं० = संस्कृत
हि० = हिन्दी



पारिभाषिक शब्दकोष

अंग	—सं० हि० अंग तीर्थकरों के उपदेशानुसार गणधरों द्वारा रचित शास्त्र ।
अचित्त	—सं० हि० अचित्त चित्तं विज्ञानं तेन रहितमचित्तम् । निर्जीव पदार्थ ।
अछेरो	—सं० हि० आश्चर्य अभूतपूर्व व अनहोनी घटना ।
अढाई द्वीप	—हि० अढ़ाई द्वीप तिर्यग्लोक के प्रथम अढ़ाई द्वीप—जम्बू, धातकी व पुष्करार्ध ।
अणगार	—सं० हि० अनगार नास्त्यगारमस्य अनगारः । जिसके किसी प्रकार का आगार (अपवाद) न हो । साधु ।
अणाचार	—सं० हि० अनाचार सर्वथा व्रतखण्डनमनाचारः । सर्वथा व्रत-भंग करना ।
अतिचार	—सं० हि० अतिचार व्रतभङ्गं विधातुं सामग्रीसंकलनं, एक देशेन वा व्रतखण्डन-मतिचारः । व्रत-भंग के लिए सामग्री एकत्रित करना या एक देश से व्रत-खण्डित करना ।
अदत्त	—सं० हि० अदत्त अदत्तादानं स्तेयम् । बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना ।
अधर्म	—सं० हि० अधर्म आत्मशुद्धिबाधको धर्मः । आत्म-शुद्धि का बाधक ।

अनन्तकाय —सं० हिं० अनन्तकाय
अनन्त जीवों वाली वनस्पति

अनशन —सं० हिं० अनशन
आहारपरिहारोऽनशनम् ।
आमरण आहार-परित्याग । राजस्थानी भाषा में संथारा ।

अनार्य —सं० हिं० अनार्य
शिष्टासम्मतव्यवहारश्चानार्यः ।
जिसका आचार शिष्ट पुरुषों द्वारा सम्मत नहीं होता।

अन्तराय —सं० हिं० अन्तराय
दानादिलब्धौ विघ्नकरः अन्तरायः ।
दान आदि में बाधा डालने वाला कर्म ।

अन्यतीर्थी —सं० हिं० अन्यतीर्थी
जैनेतर धर्म को मानने वाला ।

अभयदान —सं० हिं० अभयदान
हिंसानिवृत्तिरभयदानम् ।
हिंसा-निवृत्ति ।

अरिहन्त —सं० हिं० अरिहन्त
चतुर्णां घनघातिकर्मणां हन्ता, प्रातिहार्याद्यतिशयवांश्च ।
चार घनघाति कर्मों का नाश करने वाले व प्रातिहार्य अति-शयों से युक्त ।

अवधिज्ञानी —सं० हिं० अवधिज्ञानी।
आत्मात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः ।
इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना अवधिज्ञान है। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे अवधिज्ञानी कहा जाता है।

अव्रत —सं० हिं० अव्रत
अत्यागरूप कर्मागमन का द्वार।

अशुभ कर्म —सं० हिं० अशुभ कर्म
पाप।

असंख्यात —सं० हिं० असंख्य
न विद्यते संख्यामानमिति असंख्यम् ।
संख्यातीत ।

असंजमजीतव	—सं० हि० असंयम जीवितव्य अव्रती जीवन
असंयती	—सं० हि० असंयति असंयतो विरतः। जिसके किसी भी प्रकार की विरति न हो।
आगन्या	—सं० हि० आज्ञा। अर्हदुपदेश आज्ञा। अरिहन्त का उपदेश।
आगम	—सं० हि० आगम आप्तवचनादर्थज्ञानमागमः। आप्त वचन से जो अर्थ-ज्ञान होता है, उसे आगम कहा जाता है। आगम, सूत्र आदि एकार्थवाची हैं।
आतम	—सं० हि० आत्मा अतति, संसरति इति आत्मा। जो संसार में पर्यटन करे।
आर्त्तध्यान	—सं० हि० आर्त्तध्यान प्रियाप्रिय वियोगसंयोगे चिन्तनमार्त्तम्। प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग में चिन्तित रहना।
आस्रव	—सं० हि० आस्रव कर्माकर्षक आत्मपरिणाम आस्रवः। कर्मों को आकर्षित करने वाले आत्म-परिणाम।
इविरती	—सं० हि० अविरति अप्रत्याख्यानमविरतिः। अत्यागवृत्ति।
इन्द्रिय	—सं० हि० इन्द्रिय प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्। जिनके द्वारा शब्द आदि नियत विषयों का ज्ञान होता है।
उदय	—सं० हि० उदय वेद्यावस्था उदयः। उदीरणाकरणेन स्वभावरूपेण वाष्टानामपि कर्मणामनुभवावस्था उदयः। उदीरणा के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठों कर्मों का अनुभव।

उपकार —सं० हिं० उपकार

सहयोगदानमुपकारः। लौकिको लोकोत्तरश्च। आत्मविकासकृल्लोकोत्तरः, तदितरस्तु लौकिकः।

सहयोग देना उपकार है। वह लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार का है। आत्म-विकास करने वाला उपकार लोकोत्तर और इसके अतिरिक्त लौकिक—व्यावहारिक कहलाता है।

उपवास —देखें—तप

उपांग —सं० हिं० उपांग

अंगों के विषय को स्पष्ट करने के लिए श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम।

एकेन्द्री —सं० हिं० एकेन्द्रिय

एकं स्पर्शनं इन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः।

जिन प्राणियों के केवल एक स्पर्शनेन्द्रिय ही है।

करण —सं० हिं० करण

कृतकारितानुमोदनरूपः त्रिविधयोगव्यापारः।

कृत, कारित और अनुमोदन रूप योग-व्यापार।

कर्म —सं० हिं० कर्म

आत्मनः सदसत् प्रवृत्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गला कर्म।

आत्मा की सत् व असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म-रूप में परिणत होने योग्य पुद्गल।

काउसग —सं० हिं० कायोत्सर्ग।

शरीरकषायादेः परित्यागो व्युत्सर्गः।

शरीर एवं कषाय आदि का उत्सर्ग।

काय —सं० हिं० काया

चीयते इति कायः।

यह काय शब्द की निरुक्ति है। इसका पारिभाषिक अर्थ है, शरीरावयवी। सादृश्य की अपेक्षा जिसमें प्रदेश-अवयव होते हैं, उसे काय कहा जाता है।

केवली —सं० हिं० केवली

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम्, तद्वान् केवली।

समस्त द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करना केवलज्ञान है। इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति केवलज्ञानी या केवली कहा जाता है।

चक्रवर्ती —सं० हिं० चक्रवर्ती
चक्ररत्न के धारक श्लाघ्यपुरुष।

चारित्र —सं० हिं० चारित्र
मोक्षार्थं क्रियमाणं प्रकृष्टमाचरणं (त्यागः) चारित्रम्।
मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रकृष्ट आचरण—त्याग।

चौबीसी अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में होने वाले चौबीस तीर्थंकर।

चौमासी प्रायश्चित —सं० हिं० चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
देखें, प्रायश्चित्त।

छद्मस्थ —सं० हिं० छद्मस्थ
अकेवली छद्मस्थः।
अकेवली।

जमीकन्द —भूमि के अन्दर जड़ में लगने वाले अनन्तकायिक फल विशेष।

जिनकल्पी —सं० हिं० जिनकल्पिक
जिनेन तीर्थंकरेण कल्पः सदृशः आचारो यस्य मुनेः स जिनकल्पिकः।
तीर्थंकर के समान आचारवान् मुनि।

जिन-धर्म —सं० हिं० जिन-धर्म
जिनेन वीतरागेन प्ररूपितो धर्मः—जिनधर्मः।
वीतराग पुरुषों द्वारा प्ररूपित धर्म।

जिनराय —तीर्थंकर

जीव —सं० हिं० जीव
उपयोगलक्षणो जीवः।
ज्ञानादि उपयोग लक्षण युक्त पदार्थ।

ज्ञान —सं० हिं० ज्ञान
सामान्य विशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणां ग्राहकं ज्ञानम्।
सामान्यविशेषात्मक वस्तु के सामान्य (एकाकार) धर्मों को गौण कर विशेष (भिन्नाकार) धर्मों को ग्रहण करना।

तप —सं० हिं० तपः
तपः अनशनादि।
अनशन, ऊनोदरिका आदि बारह प्रकार के निर्जरा धर्म को

तप कहा जाता है। एक दिन का यह तप उपवास, दो दिन का बेला, तीन दिन का तेला आदि कहलाता है।

तिरछा लोक —सं० हिं० तिर्यक् लोक

उर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच में अठारह सौ योजन का क्षेत्र।

तीर्थंकर —सं० हिं० तीर्थंकर

तीर्यते संसारसमुद्रोयेनेति तीर्थं प्रवचनाधारश्चतुर्विधः संघः प्रथम गणधरो वा, तत्करोतीति तीर्थंकरः।

जिसके द्वारा यह संसार-समुद्र तैरा जा सके, उसे तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ-प्रवचन और उसका आधार चतुर्विध संघ या प्रथम गणधर को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।

तेउकाय —सं० हिं० तेजस्काय

तेजः कायो येषां ते तेजस्कायिकाः।

जिन प्राणियों का अग्नि ही शरीर है, उन्हें तेजस्कायिक कहा जाता है।

तेजुलेश्या —सं० हिं० तेजोलेश्या

एक उष्णता-प्रधान संहारक लब्धि (शक्ति) विशेष।

त्रस —सं० हिं० त्रस

हिताहित प्रवृत्तिनिवृत्यर्थं गमनशीलास्त्रसाः।

हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने वाले जीव।

दया —सं० हिं० दया

पापाचरणादात्मरक्षा दया।

पापमय आचरणों से अपनी या दूसरों की आत्मा को बचाना। करुणा, अनुकम्पा आदि इसी के पर्यायवाची शब्द हैं।

दान —सं० हिं० दान

स्वपरोपकारार्थं स्वकीयवस्तुनो वितरणं दानम्।

अपने एवं दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का वितरण करना।

दीक्षा —सं० हिं० दीक्षा

दीक्षा तु व्रतसंग्रहः।

व्रत-संग्रह—साधुत्व ।

दर्शन —सं० हि० दर्शन

दर्शनम् तत्त्वश्रद्धा ।

तत्त्व के प्रति हार्दिक श्रद्धा ।

देव —सं० हि० देव

केवलज्ञानवानर्हन् देवः ।

केवल ज्ञानी सर्वज्ञ अर्हन् को देव कहा जाता है ।

देशचारित —सं० हि० देशचारित्र

संयतासंयतो देश विरतः ।

कुछ संयत और कुछ असंयत; अर्थात् अंश रूप से व्रताराधना करने वाला । संयतासंयत, देशविरत, देशचारित्र व श्रावक ये पर्यायवाची शब्द हैं ।

द्वेष —सं० हि० द्वेष

दुःखाभिप्रायो द्वेषः ।

दुःख का अभिप्राय ।

द्रव्य —सं० हि० द्रव्य

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् ।

गुण और पर्याय का आश्रय ।

धर्म —सं० हि० धर्म

आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः ।

आत्म-शुद्धि का साधन ।

धर्मध्यान —सं० हि० धर्मध्यान

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्मम् ।

आज्ञा, अपाय, विपाक एवं संस्थान का निर्णय करने के लिए किया जाने वाला चिन्तन ।

नरक —सं० हि० नरक

घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों का फल भोगने के लिए अधोलोक के जिन स्थानों में उत्पन्न होते हैं; वे स्थान ।

नवकार —सं० हि० नमस्कार (मंत्र)

जैन-परम्परा का प्रमुख मंत्र ।

नवकोटि —सं० हि० नवकोटि

तीन करण व तीन योग युक्त ।

निरवद्य —संयमोपर्धकं निरवद्यम् ।
संयम की वृद्धि करने वाला कार्य ।

निरवाण —देखें, मोक्ष ।

निर्जरा —सं० हिं० निर्जरा
तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा ।
तपस्या के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद होने पर होने वाली आत्म-उज्ज्वलता ।

पच्चक्खाण —सं० हिं० प्रत्याख्यान
त्याग ।

पंचेन्द्री —सं० हिं० पंचेन्द्रिय ।
पांच इन्द्रिय वाले प्राणी ।

परिग्रह —सं० हिं० परिग्रह
मूर्च्छा परिग्रहः ।
पदार्थों के प्रति अन्तर में रही मूर्च्छा ।

परितसंसार —सं० हिं० परीत्तसंसार
परिमितः संसारः परीत्तसंसारः ।
जिनका संसार पर्यटन सीमित हो गया है ।

परीषह —सं० हिं० परिषह ।
कर्मणां निर्जरार्थं क्षुधातृषादि कष्टानि परिसह्यते इति परिषहः ।
कर्म-निर्जरा के लिए क्षुधा-तृषादि सहन करना ।

पाप —सं० हिं० पाप
अशुभं कर्म पापम् । उपचारात् तद्हेतवोपि तत्-शब्दवाच्याः ।
अशुभ कर्मों को पाप कहा जाता है और उपचार से पाप के हेतु भी पाप कहलाते हैं, जो प्राणातिपात आदि अठारह हैं ।

पुन्य —सं० हिं० पुण्य
शुभं कर्म पुण्यम् । उपचाराच्च यद् यन्निमित्तो भवति पुण्य-बन्धः, सोपि तत्-तत् शब्दवाच्यः ।
शुभ कर्म को पुण्य कहा जाता है । उपचार से जिस निमित्त से पुण्य का बन्ध होता है, वह भी पुण्य कहा जाता है, जो अन्न पुण्य आदि नौ प्रकार का है ।

पूर्वधर —सं० हिं० पूर्वधर

तीर्थ का प्रवर्तन करते समय अरिहन्त जिस अर्थ का गणधरों को सर्वप्रथम उपदेश देते हैं, या गणधर सर्वप्रथम जिस अर्थ को सूत्ररूप में गूंथते हैं, उस समग्र ज्ञान को पूर्व कहा जाता है। पूर्वों के ज्ञान को धारण करने वाला पूर्वधर कहलाता है।

पोषा —सं० हि० पोषध

उपवासेन सह अहोरात्रं पापपूर्णप्रवृत्तीनां परित्यागः पोषधोपवासः।

उपवास के साथ एक दिन-रात के लिए पापकारी प्रवृत्तियों का परित्याग।

प्रज्या —सं० हि० पर्याप्ति

भवारम्भे पौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्तिः।

जन्म के प्रारम्भ में होने वाला पौद्गलिक शक्ति का निर्माण।

प्रमाद —सं० हि० प्रमाद

अनुत्साहः प्रमादः। अरत्यादि मोहोदयात् आध्यात्मिक क्रियायामात्मनोऽनुत्साहः प्रमादः।

अरति आदि मोहोदय से आत्मा का धार्मिक क्रिया में अनुत्साह।

प्राण —सं० हि० प्राण

तदपेक्षिणी जीवनशक्तिः प्राणाः।

पर्याप्ति की अपेक्षा रखने वाली जीवन-शक्ति। भूत, जीव और सत्व ये भी पर्यायवाची हैं।

प्रायश्चित्त —सं० हि० प्रायश्चित्त

अतिचार विशुद्धयेऽनुष्ठानं प्रायश्चित्तम्।

दोष की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान प्रायश्चित्त कहलाता है। वह दस प्रकार का होता है। उनमें एक प्रायश्चित्त छेद कहलाता है, जिसमें चार महीने आदि का संयम-काल कम कर दिया जाता है।

बलदेव —वासुदेव के बड़े भाई।

बारहव्रत —बारह प्रकार का गृहस्थधर्म।

बालमरण —सं० हि० बालमरण

मिथ्यादृशां मरणं बालमरणम्।

मिथ्यादृष्टियों की मृत्यु।

बेला —दो दिन का उपवास।

बोध-बीज —सम्यक्त्व

मनपरज्या —सं० हिं० मनःपर्यव
मनोद्रव्य पर्यायप्रकाशि मनःपर्यायः।
मनोवर्गणा के अनुसार जो मानसिक अवस्थाओं को जानता है, उसे मनःपर्यव ज्ञान कहा जाता है।

मतिगिनानी —सं० हिं० मतिज्ञानी
इन्द्रियमनोनिमित्तं संवेदनं मतिः।
इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे मतिज्ञानी कहा जाता है।

महाव्रत —सं० हिं० महाव्रत
सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति महाव्रतम्।
हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को सर्वथा त्यागना।

माहण —मत मारो। साधु को सम्बोधित किया जाने वाला शब्द।

मिथ्यात —सं० हिं०—मिथ्यात्व
दर्शन मोहोदयात् आत्मनः अतत्त्वे तत्त्वप्रतीतिः मिथ्यात्वम्।
दर्शन मोह के उदय से आत्मा में विपरीत तत्त्वश्रद्धान अर्थात् अतत्त्व में तत्त्व-प्रतीति।

मिथ्याती —सं० हिं० मिथ्यात्वी
तत्त्वं तत्त्वांशं वा मिथ्याश्रद्धानो मिथ्यात्वी, मिथ्यादृष्टीति यावत्।
तत्त्व पर या तत्वांश पर मिथ्या विश्वास रखने वाले को मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

मिश्र-धर्म —सं० हिं० मिश्रधर्म
एकस्यामेव प्रवृत्त्यां युगपत् पुण्यपाप-धारणा मिश्र धर्मः।
एक ही प्रवृत्ति में एक साथ पुण्य और पाप की धारणा।

मुक्ति, मुगति, मोक्ष —सं० हिं० मुक्ति, मोक्ष
कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः।
समस्त कर्मों के क्षय से आत्मा अपने ज्ञान, दर्शनमय स्वरूपों में अवस्थित होती है, उसे मोक्ष कहा जाता है।

मोहकर्म —सं० हिं० मोहकर्म या मोहनीय कर्म

	दर्शनचारित्रघातात् मोहयति आत्मनमिति मोहनीयम्।
	दर्शन और चारित्र का घात कर आत्मा को व्यामूढ़ बनाने वाला कर्म।
योग	—सं० हि० योग
	मनोवाक्कायव्यापारो योगः।
	मन, वच और शरीर की प्रवृत्ति।
योजन	—सं० हि० योजन
	चतुः क्रोशं तु योजनम्।
	चार कोश परिमाण भूमि।
रजोहरण	—सं० हि० रजोहरण
	साधूनां प्रमार्जनोपकरणं रजोहरणम्।
	साधुओं का भूम्यादि प्रमार्जन उपकरण।
राग	—सं० हि० राग
	रागः सांसारिकः स्नेहोनुग्रहलक्षणः।
	अनुग्रहयुक्त सांसारिक स्नेह।
लब्धि	—सं० हि० लब्धि
	ज्ञानावरणादि कर्मक्षयोपशमजन्यः सामर्थ्यविशेषो लब्धिः।
	ज्ञानावरणादिक कर्मों के क्षयोपशम विशेष से प्राप्त होने वाले सामर्थ्य विशेष को लब्धि कहा जाता है। इस शक्ति विशेष को धारण करने वाला लब्धिधर कहलाता है।
लेश्या	—सं० हि० लेश्या
	योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या।
	योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाला आत्म-परिणाम।
लौकिक दया	—सं० हि० लौकिकदया।
	शरीरेण सह प्राणानां यः संयोगस्तस्य देशतः सर्वतो वा रक्षणं लौकिक दया।
	शरीर के साथ प्राणों का जो सम्बन्ध है, उसकी आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से रक्षा करना।
वासुदेव	—सं० हि० वासुदेव
	प्रतिवासुदेव को जीतकर तीन खण्ड पर राज्य करने वाला।
विकलेन्द्री	—सं० हि० विकलेन्द्रिय

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सचित्त —सं० हि० सचित्त
सह चित्तेन जीवभावेन वर्तते तत् सचित्तम्।
जो पदार्थ जीव युक्त होता है, उसे सचित्त कहा जाता है।

समकित —सं० हि० सम्यक्त्व
यथार्थ तत्त्व श्रद्धा। सम्यग्दर्शन, श्रद्धा, बोधिबीज आदि एकार्थक हैं।

समदृष्टि —सं० हि० सम्यक् दृष्टि
तत्त्वों पर सत्य श्रद्धा रखने वाला।
समदृष्टि, सम्यग्दृष्टि व सम्यक्त्वी एकार्थवाचक हैं।

समवसरण —सं० हि० समवसरण
तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहां तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सागारी —सं० हि० सागारी
आगार सहित।

सावद्य —सं० हि० सावद्य
अवद्येन सहितं सावद्यम्।
पापयुक्त कार्य।

सिद्धगति —सं० हि० सिद्धगति
सर्वथा कर्म-क्षय कर लोकाग्रस्थित सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करना।

सुधर्मा सभा —सं० हि० सुधर्मासभा
इन्द्र सभा।

संजमजीतव —सं० हि० संयमजीवितव्य
व्रती जीवन।

संभोग —सं० हि० संभोग
यथोक्तविधिना समं भोगः संभोगः।
समान समाचारी वाले साधुओं का सम्मिलित आहार आदि व्यवहार।

संयम —सं० हि० संयम
सर्वसावद्यव्यापारे विरतिः संयमः।
सब प्रकार के सावद्य व्यापार से विरत होना।

संवर —सं० हि० संवर

विकलानि—अपूर्णानि इन्द्रियाणि येषां ते विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियादयो जीवाः।
असम्पूर्ण इन्द्रिय वाले द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव।

वियावच्च —सं० हिं० वैयावृत्त्य
सेवाद्यनुष्ठानं वैयावृत्त्यम्।
सेवादि अनुष्ठान विशेष।

विराधक —सं० हिं० विराधक
गृहीत व्रतों का पूर्णरूप से आराधन नहीं करने वाला।

वैराग्य —सं० हिं० वैराग्य
पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों से उदासीनता—विरक्ति।

शासन —सं० हिं० शासन
जैन संघ

शीतल लेश्या —सं० हिं० शीतल लेश्या
एक शीतलता-प्रधान लब्धि (शक्ति) विशेष।

शुक्ल ध्यान —सं० हिं० शुक्लध्यान
निर्मलं प्रणिधानं शुक्लम्।
निर्मल समाधि-अवस्था।

शुभ योग —सं० हिं० शुभयोग
मोहरहितः सद्ध्यानार्हन्नुतिगुरुवन्दनादि रूपः शुभव्यापारः शुभयोगः।
मोहरहित सच्चिन्तन, अर्हत्-स्तुति, गुरुवन्दन आदि शुभ कार्य।

श्रद्धा —देखें—सम्यक्त्व

श्रमण —सं० हिं० श्रमण
अपने श्रम से अपना उत्थान करने वाला—साधु।

श्रावक —सं० हिं० श्रावक
श्रद्धापूर्वक शास्त्र-श्रवण करने वाले जैनधर्म के गृहस्थ-अनुयायी।

श्रुतिगिनानी —सं० हिं० श्रुतज्ञानी
तदेव द्रव्यश्रुतानुसारेण परप्रत्यायनक्षमं श्रुतम्।
द्रव्य-श्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में जो समर्थ हो, ऐसे मतिज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहा जाता है। जो इस ज्ञान से युक्त होता है, उसे श्रुतज्ञानी कहा जाता है।

सचित्त —सं० हिं० सचित्त
सह चित्तेन जीवभावेन वर्तते तत् सचित्तम्।
जो पदार्थ जीव युक्त होता है, उसे सचित्त कहा जाता है।

समकित —सं० हिं० सम्यक्त्व
यथार्थ तत्त्व श्रद्धा। सम्यग्दर्शन, श्रद्धा, वोधिबीज आदि एकार्थक हैं।

समदृष्टि —सं० हिं० सम्यक् दृष्टि
तत्त्वों पर सत्य श्रद्धा रखने वाला।
समदृष्टि, सम्यग्दृष्टि व सम्यक्त्वी एकार्थवाचक हैं।

समवसरण —सं० हिं० समवसरण
तीर्थंकर परिषद् अथवा वह स्थान जहां तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सागारी —सं० हिं० सागारी
आगार सहित।

सावद्य —सं० हिं० सावद्य
अवद्येन सहितं सावद्यम्।
पापयुक्त कार्य।

सिद्धगति —सं० हिं० सिद्धगति
सर्वथा कर्म-क्षय कर लोकाग्रस्थित सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करना।

सुधर्मा सभा —सं० हिं० सुधर्मासभा
इन्द्र सभा।

संजमजीतब —सं० हिं० संयमजीवितव्य
व्रती जीवन।

संभोग —सं० हिं० संभोग
यथोक्तविधिना समं भोगः संभोगः।
समान समाचारी वाले साधुओं का सम्मिलित आहार आदि व्यवहार।

संयम —सं० हिं० संयम
सर्वसावद्यव्यापारै विरतिः संयमः।
सब प्रकार के सावद्य व्यापार से विरत होना।

संवर —सं० हिं० संवर

आस्रवनिरोधः संवरः।
आस्रव का निरोध।

स्थावर —सं० हिं० स्थावर
हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थमगमनशीलाः स्थावराः।
हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के निमित्त गमन करने में असमर्थ प्राणी।

हरिणगमेषीदेव —सं० हिं० हरिणेगमेषीदेव
इन्द्र का एक प्रतिनिधि देव।

हिंसा सं० हिं० हिंसा
असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा। असत्प्रवृत्तिर्वा।
असत्प्रवृत्तिजन्य प्राणी-वध और स्वयं असत्प्रवृत्ति।

परिशिष्ट ३
राजस्थानी शब्दकोष



राजस्थानी शब्दकोष

अटकलां	अन्दाज से
अणगल	अनछाना
अणहुंतो	निरर्थक
अथाय	वहुत
अरूड़	ठसाठस
आघाई	अपनी ओर से
आघो नहीं काढता	विलम्ब न करते
आणिये	करे
आणै	करे
आन्तरियो	अन्तिम समय
आमना	अभिप्राय
आवटकूटो	आरम्भ-समारम्भ
इतरी	इतनी
उकरड़ी	कूड़ा-करकट डालने का स्थान। संस्कृत नाम—अवस्कर
उटंका	गप्पें
उण	वह
उणरे	उसके
उथपती	जाती देखकर
उपाड़	उठा कर
उराणे	यों ही
उवै	वे
उणायत	कमी
कमठाणा	मकानादि वनवाना
कामा	कार्य
कांय	कुछ भी

किणविध	किस प्रकार
कुब्द	कुबुद्धि
केड़ायत	परम्परागत
केडे	पीछे
केम	किस तरह
केयक	कुछ एक
खन्त	क्षमा
खुवार	नष्ट
गधिया	एक प्रकार का जन्तु
गरढ़ा	वृद्ध
गावड़	गर्दन
गालां रा गोला	कपोल कल्पित
गिर-गिर	पकड़-पकड़ कर
गिलाण	रुग्ण
गींडोला	एक प्रकार का जन्तु
घमसाण	संहार
घोचो	तीर
चकचूर	चूर-चूर
चलाय	चलित
चालो	प्रपंच
छछकार	छिछकारना
छोड़ा-मेला	छोड़ना-रखना
जबून	निकृष्ट
जात	प्रकार
जीपण	जीतने के लिए
जीवड़ा	जीव
जुध	युद्ध
जोड़	रचना
टलबल	रेंगना
ठरले	शोचार्थ
ठाय (म)	स्थान
डंक मारना	दंसना

डाभ	नारियल
डावड़ो	बालक
डोरी	रस्सी
डोहला	दोहद
ढ़ांढ़ा	पशु
तठे	वहां
तलफल	तड़फड़ाहट
तांगी	चक्कर आना
ताली	प्रीति
तिके	वे
तिणने	उसके
थकां	से
थांभो	खम्भा
थाप	स्थापना करना
थाय	हो सकता है
दगचाल	खुल्ले हाथों
दार	विल
दाझतां	जलते हुए
दीकरा	लड़का
धकाय	ढकेल कर
धन उदके	धन निकालना
धाकल्यां	ललकार देने से
धुकावै	जलाना
नसार दे	भगा दे
नाड़ो	तलाई
नाणो	धन
निरदावै	तटस्थ
नीको	अच्छा
नूर	चेहरा
न्हसावै	भगाना
पचरहना	लीन हो रहे हैं
पारखा	परीक्षा

पीहर	रक्षक
पूअरा	फूंहारा (एक प्रकार का जन्तु)
पेलां	प्रथम
पेला	दूसरा
पोते	अपनी
फक	नितान्त
फड़हो	उद्घोषणा
बकवाय	बकवास
बड़ाले	बीच में
बिगोया	डुबोया
बिटल्	नीतिभ्रष्ट
बिड़द	दायित्व
बिरूआ	विरूप
बूहो	बहकर
भवियण	भविजन
भागल	व्रतभ्रष्ट
भिड़ी	सहायक
भेलापो	मिला-जुला
मंजारी	बिल्ली
मकरो	मत करो
मच्छ गलागल	मात्स्य न्याय। क्रमशः बड़े मच्छों द्वारा छोटे मच्छों का निगला जाना। 'जीवो जीवस्य जीवनम्'।
मझे	मध्य
मझारो	मध्य
मणकला	टुकड़े
मणसा भोजन	इच्छित भोजन
ममाई	कड़ाह में तेल गर्म किया जाता है। उसके ठीक ऊपर एक जीवित मनुष्य को लटका दिया जाता है। उस मनुष्य के शरीर में पैनी धार वाले अस्त्र से स्थान-स्थान पर टांचे लगा दिए जाते

हैं। खौलते हुए तेल में रक्त टपकता है। उस तेल में अन्य वस्तुएं मिला कर एक औषधि विशेष तैयार की जाती है, जो कुछ रोगों के लिए उपयोगी होती है। उस मनुष्य के शरीर से रक्त उतना ही निकाला जाता है, जितना आवश्यक होता है। अन्त में उसे नीचे उतार कर उसके घावों पर मरहम-पट्टी कर दी जाती है, जिससे वह पुनः स्वस्थ हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को ममाई कहते हैं।

भाका	मकोड़े
माका	बड़ी मक्खी—नारिया
माटे	मटका
माठी गति	नीच गति
मातरा	प्रस्रवण
मार	दुःख
माला	घोंसला
मूई	मर गई
मोय	मुझे
रांगण	चमड़ा रंगने का काम
रासड़िया	रस्सी
रीजक-रोटी	पट्टा-परगना
रेलो	धारा
रैंसो	रहस्य
लाहो	बहुत लाभ
लिगार	अंशमात्र
वपराय	उपजा कर
वागरै	कहते हैं
वासण	बर्तन
विकल	ग्रथिल
शिरभागी	भाग्यशाली

शिरे	श्रेयस्कर
सताब	ठाट वाट
सहल	सहज
सांगधारी	वेशधारी
सांचववा	रीति निभाने के लिए
साई	स्वीकृति
साजे (भँ)	करे
साजो	ठीक
सानी	संकेत
सिराड़े	शिखर
सुगली	फली
सुगाल	सुकाल
सुलसल्या	धान्य में उत्पन्न होने वाला जन्तु विशेष
सुलि़या	सड़े हुए
सुसियो	शशक
सूंस	प्रत्याख्यान
सोरी	शोर करना
हांकल्या	ललकारने से
हाय-विराय	हाय-तोबा
हुचके	उछलना
हेला	हल्ला करना

परिशिष्ट ४

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

अ

ओ

क

घ

च

छ

थ

य

र

परिशिष्ट ५

शब्दानुक्रम

अ

आ

ख

ग

झ

ट

ठ

त

भ

म

श